दार्शनिक विमर्श

पूज्य संत
बाबा
श्री श्री 1008 श्री

डॉ. ऋषिकान्त पाण्डेय

B. K.S बिपिन कुमार सिंह

गीता दर्शन



Bipin Kumar Singh.

दार्शनिक विमर्श

डॉ० ऋषिकान्त पाण्डेय
उपाचार्य, दर्शन विभाग
इलाहाबाद डिग्री कालेज
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

श्री भुनवेश्वरी विद्या प्रतिष्ठान
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : 2007

मूल्य : रु0 135.00

प्रकाशक :
श्री भुवनेश्वरी विद्या प्रतिष्ठान
117 सी, टैगोर टाउन, इलाहाबाद-211 002

मुद्रक :
सर्वेश प्रकाशन
1, बाई का बाग, इलाहाबाद-211 003



समर्पण

प्रातः स्मरणीय

ब्रह्मलीन परमसंत श्री आर० बी० माथुर (राजे भैया)

को समर्पित

श्री गुरुवे नमः

अभिमत

प्रस्तुत पुस्तक दार्शनिक विमर्श डॉ० ऋषिकान्त पाण्डेय द्वारा प्रणित है। इसमें उनके उन लेखों का संग्रह है, जो उन्होंने विभिन्न स्तरों पर आयोजित विचार गोष्ठियों में प्रस्तुत किये हैं। ये लेख यथा समय पत्रिकाओं में भी प्रकाशित हो चुके हैं। अनेक लोगों के अनुरोध पर विशेषकर दर्शनशास्त्र के विद्यार्थियों के लाभार्थ इसे पुस्तक रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। इसमें संग्रहित विषय इस प्रकार हैं :—

1. समर्पण योग
2. आत्मज्ञान की मूल प्रवृत्तियाँ
3. ईश्वर का स्वरूप
4. ईश्वर विहीन धर्म
5. क्या मनुष्य ईश्वर विरोधी है?
6. आत्मा का अमरत्व
7. धार्मिक सहिष्णुता का आधार
8. पंथ निरपेक्षता
9. वर्ण-व्यवस्था एवं सामाजिक न्याय
10. ज्ञान एक विश्वास है जो प्रामाणित एवं अनंतिम सत्य है।
11. कथ्यात्मक एवं सम्पादनात्मक वचन
12. भाषा, अर्थ एवं अभिप्राय
13. एम. एन. राय के मानववाद का विश्लेषणात्मक अध्ययन
14. भूण्डलीकरण में सूचना एवं प्रौद्योगिकी की भूमिका

डॉ० ऋषिकान्त उदीयमान, बहुआयामी एवं अध्यवसायी विचारक हैं।

वे अध्यात्म से भी बहुत निकट का सम्बन्ध रखते हैं। परिणामस्वरूप उनका चिंतन और विचारधारा आत्मपरक है। गहन अध्ययन और वृत्ति से शिक्षक होने के नाते उनकी बुद्धि विश्लेषणात्मक है। उन्होंने इस पुस्तक में संग्रहित विभिन्न विषयों का विस्तार से विश्लेषण किया है और बिना किसी पूर्वाग्रह के वस्तुस्थिति का सम्यक् विवेचन करते हुए निष्पक्ष निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया है।

भारतीय दर्शन का वाङ्गमय अतिविशाल है पर डॉ0 ऋषिकान्त ने अपने को इसी तक सीमित न रखकर पाश्चात्य दार्शनिकों के मतों का भी पर्याप्त उल्लेख किया है। उल्लेखनीय बात यह है कि दर्शन के विभिन्न प्रश्नों पर वर्तमान समय के भारतीय विचारकों के क्या मत है इनका भी उल्लेख उन्होंने यथास्थान किया है। लेखक का यह प्रयास दो वृत्तियों से बड़ा ही मूल्यवान है। प्रथम तो यह कि भारतीय दर्शनशास्त्र के विचारकों की प्राच्य दार्शनिकों के विचार सुलभ हो जायेंगे। दूसरा यह कि विद्यार्थियों को आधुनिक प्राच्य चिंतकों एवं पाश्चात्य विचारकों के मत एक ही स्थान पर सुलभ हो सकेंगे।

डॉ0 ऋषिकान्त का यह प्रयास दर्शनशास्त्र में अभिरुचि रखने वालों के लिए लाभकारी होगा। मेरी कामना है कि वे इस तरह का प्रयास निरंतर करते रहें, जिससे भारतीय वाङ्गमय विशेषकर हिन्दी साहित्य की श्री वृद्धि होती रहे। मेरी मंगल कामना है उनकी यह पुस्तक अधिकाधिक प्रचार एवं प्रसार प्राप्त करे।

बजरंग दत्त मिश्र
113 बलरामपुर हाउस
इलाहाबाद

पुरोवाक्

आज के वैज्ञानिक युग में जहाँ सभी चीजों का व्यवसायीकरण हो रहा है, उन चीजों का क्या मूल्य जो व्यवसाय से सम्बंधित न होकर शुद्ध आत्मचिंतन से सम्बन्धित हो। लेकिन ऐसा सोचना वृथा है। यह सत्य है कि सूचना एवं प्रौद्योगिकी के युग में अर्थ एवं तकनीकि का महत्व बढ़ा है। लेकिन हमें नहीं भूलना चाहिए कि जहाँ एक ओर सूचना एवं प्रौद्योगिकी का द्रुत गति से विकास हुआ है। वहीं दूसरी ओर हमारी अशांति में भी अपार वृद्धि हुई है। आज हम एक ऐसे विश्व में रह रहे हैं जहाँ सब कुछ रिमोट दबाते ही उपलब्ध हो जाता है। इसके बावजूद भी मनुष्य को शांति नहीं। चतुर्दिक हत्या, बलात्कार, मानसिक पीड़ा की स्थिति में रहने के लिए व्यक्ति मजबूर है।

प्रश्न उठता है कि ऐसा क्या है, जहाँ सबकुछ उपलब्ध होते हुए भी शांति नहीं? इसका एकमात्र उत्तर है आत्मचिंतन का अभाव। जब तक हम आत्मपरक चिंतन से दूर रहेंगे, अशांति की ज्वाला में धधकते रहेंगे। केवल आत्म चिंतन ही इस अशांति से मुक्ति दिला सकती है क्योंकि शांति का स्थान ही आत्मा है। भारतीय मनीषियों ने मानवीय व्यक्तित्व के तीन महत्वपूर्ण पक्ष माने हैं : शरीर, मन एवं आत्मा। शरीर पर तमस् का प्रभाव रहता है। अतः जब तक हम भौतिक शरीर या भौतिक संसाधनों तक सीमित रहेंगे, शांति से दूर रहेंगे। मन पर रजस् का प्रभाव रहता है। रजस् की मूल वृति ही चंचलता है। अतः जब तक मन की बात सुनेंगे, शांति से दूर रहेंगे। आत्मा में सत्व का प्रभाव है और सत्व में ही शांति है। अतः जब तक सत्व की स्थिति में नहीं होते, शांति मिलना सम्भव नहीं है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सूचना एवं प्रौद्योगिकी के युग में आत्म-चिंतन का महत्व और भी बढ़ गया है क्योंकि आत्म-चिंतन ही मनुष्य को अशांति के गर्त से ऊपर उठाकर शांति में स्थापित कर सकता है।

इसी वैचारिक प्रेरणा से प्रभावित होकर मैंने समय-समय पर होने वाली दार्शनिक संगोष्ठियों में अपने शोध पत्र प्रस्तुत किये, जिन पर पर्याप्त चर्चा हुई और ये शोध पत्र विभिन्न दार्शनिक पत्रिकाओं में प्रकाशित भी हुए। कुछ इष्ट-मित्रों, विशेषकर दर्शनशास्त्र के विद्यार्थियों के लाभार्थ इनमें से कुछ शोध-पत्रों को पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित किया जा रहा है।

इस ग्रंथ में जिन समस्याओं पर विचार किया गया है, उनमें धर्म-दर्शन की

समस्याएँ प्रमुख हैं यथा, ईश्वर का स्वरूप, ईश्वर विहीन धर्म, क्या अशुभ ईश्वर विरोधी है? आत्मा का अमरत्व, धार्मिक सहिष्णुता का आधार एवं पंथ निरपेक्षता। भाषा दर्शन की समस्याएँ यथा, कथ्यात्मक एवं सम्पादनात्मक वचन तथा भाषा, अर्थ एवं अभिप्राय। समाज दर्शन की समस्याएँ यथा, वर्ण व्यवस्था एवं सामाजिक न्याय तथा एम० एन० राय के मानववाद का विश्लेषणात्मक अध्ययन। इसके अतिरिक्त समर्पण योग, आत्म ज्ञान की मूल प्रवृत्तियाँ, ज्ञान एक विश्वास है जो प्रामाणित एवं अनंतिम सत्य है तथा भूमण्डलीकरण के युग में सूचना एवं प्रौद्योगिकी की भूमिका प्रमुख है। ये लेख विभिन्न दार्शनिक पत्रिकाओं यथा 'समाज, धर्म एवं दर्शन', 'दार्शनिक त्रैमासिक' एवं 'संदर्शन' में समय-समय पर प्रकाशित हुए। अतः ये एक ही विषय से संबन्धित न होकर कई क्षेत्रों को अपने आप में आत्मसात किये हुए हैं। इसीलिए इनका विचार क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत हो गया है।

सर्वप्रथम मैं इन पत्रिकाओं के सम्पादकों को धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने इन लेखों की प्रकाशित करने की अनुमति प्रदान की। मैं पण्डित बजरंग दत्त मिश्र जी के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने इस पुस्तक को आद्योपांत पढ़कर कई महत्वपूर्ण सुझाव दिए। जिसके बिना यह पुस्तक अपूर्ण ही रहती।

मैं अपने गुरुओं प्रो० डी० एन० द्विवेदी, प्रो० आर० एल० सिंह, प्रो० एस० के० सेठ, प्रो० जटाशंकर, प्रो० हरिशंकर उपाध्याय, प्रो० मृदुला रवि प्रकाश, प्रो० गौरी चट्टोपाध्याय, प्रो० नरेन्द्र सिंह, प्रो० आशा लाल के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। जिनका आशीर्वाद सतत् प्राप्त होता रहता है। मैं अपने वरिष्ठ सहयोगी एवं मित्रों यथा डॉ० राममूर्ति पाठक, डॉ० तनूजा तिवारी, डॉ० शिवभानु सिंह, डॉ० संजय कुमार शुक्ल, श्री अनुज सिंह एवं श्री ए० एन० झा के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने समय-समय पर विभिन्न विषयों पर पर्याप्त चर्चा की।

मैं श्री भुवनेश्वरी विद्या प्रतिष्ठान की कार्यकारिणी को धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने इस पुस्तक के प्रकाशन की व्यवस्था की।

परिवार के विभिन्न सदस्यों के सहयोग के बिना यह कार्य असम्भव ही था। इसलिए इनके प्रति भी धन्यवाद ज्ञापित करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। अंततः श्री राकेश भार्गव एवं श्री गोपाल भार्गव को धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने सम्पूर्ण मनोयोग से इसके प्रकाशन में योगदान दिया।

ऋषिकान्त पाण्डेय

37/7 हवाघर
चैथम लाइन्स, इलाहाबाद
श्री कृष्ण जन्माष्टमी, 4 सितम्बर 2007

अनुक्रम

**



समर्पण योग

गीता की मूल अवधारणा क्या है? इस पर विभिन्न व्याख्याकारों में मतैक्य नहीं है। आचार्य शंकर इसमें ज्ञानयोग की प्रधानता स्वीकार करते हैं, तो रामानुजाचार्य भक्ति योग की, लोकमान्य तिलक कर्मयोग की तो महात्मा गांधी अनासक्ति योग की। इन सबसे पृथक आचार्य मधुसूदन सरस्वती यह मानते हैं कि इसमें ज्ञान, भक्ति तथा कर्म इन तीनों का ही समन्वय किया गया है।

यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो हम पाते हैं कि गीता का परम साध्य 'समर्पण योग' था। साधक किस प्रकार से समर्पण करता है, यह प्रश्न उतना महत्व नहीं रखता, जितना यह कि हमारा गन्तव्य क्या है? समर्पण योग में ज्ञान, भक्ति तथा कर्म तीनों ही अपनी पूर्णता को प्राप्त करते हैं। अर्थात् ज्ञान, भक्ति तथा कर्म का विभेद केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से है, पारमार्थिक दृष्टिकोण से तीनों का अंतर्भाव 'समर्पण योग' में ही होता है। जब ईश्वरीय अनुकम्पा से साधक को ज्ञान प्राप्त होता है तब वह अपने आपको सर्वतोभावेन समर्पण करता है तभी वह व्यवहार तथा परमार्थ दोनों ही अवस्थाओं में साम्य रख पाता है। जहाँ एक तरफ वह व्यावहारिक दृष्टि से अपने सम्पूर्ण दायित्वों का सम्यक् निर्वहन करता है, वहीं दूसरी तरफ पारमार्थिक सत्यों का साक्षत्कार करता है। 'समर्पण योग' का अर्थ 'निष्क्रियता' से नहीं है बल्कि यही तो पूर्ण सक्रियता की अवस्था होती है। जहॉ साधक सभी प्रकार की तुच्छ भावनाओं से ऊपर उठकर अनासक्ति भाव से, सब कुछ करते हुए भी अकर्त्ता की स्थिति में बना रहता है।

गीता का उपदेश उस व्यापक धरातल पर होता है, जहॉ अहंकार और असाक्तियुक्त अर्जुन अपने दायित्व का अनुपालन करने से साफ मना कर देता है। भगवान कृष्ण द्वारा बार–बार समझाने पर कि तुम्हारा कर्तव्य क्या है; वह कर्तव्य करने के लिए अपने आप को मानसिक रूप से तैयार नहीं कर पाता। तदुपरांत

भगवान कृष्ण उसे दिव्य दृष्टि प्रदान कर वास्तविकता का साक्षात्कार कराते हैं और तब अठारहवें अध्याय के अंत में कहते हैं कि अर्जुन! मैंने तुझको कर्तव्य—अकर्तव्य सब कुछ का उपदेश दिया। अब जो तुम्हारी इच्छा हो वही करो (यथेच्छसि तथा कुरू – गीता १८/६३)। तत्क्षण, अर्जुन कहता है, हे प्रभु! आपकी असीम अनुकम्पा से मेरा मोह नष्ट हो गया। अत: अब आप जो कहेगें, मैं वही करूँगा (करिष्ये वचनं तव – गीता १८/७३)। यहीं 'समर्पण योग' है जो अकर्मण्यता की नहीं, बल्कि पूर्ण कर्मण्यता की स्थिति है।

सामान्य तौर पर गीता में कर्म शब्द का प्रयोग मूलत: चार अर्थों में किया गया है :—

- गीता में यदा—कदा, कर्म का तात्पर्य साधारण कार्य से है (इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारणन्—गीता ५/८—९)।
- गीता के समय तक इसका अर्थ यज्ञ भी हो गया (यज्ञादभ्वति पर्जन्यो यज्ञ: कर्मसमुद्भव:—गीता ३/१४)। प्राणियों के कल्याण के लिए किया गया प्रत्येक प्रयत्न यज्ञ कहलाता है।
- कभी—कभी कर्म का प्रयोग ईश्वरीय पूजा तथा उससे सम्बन्धित कर्मकाण्ड आदि के अर्थ में भी किया गया है (अम्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमोभव— गीता १२/१०)
- लेकिन गीता में इसका प्रयोग मुख्यत: वर्ण धर्म के अर्थ में किया गया है (ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप—गीता १८/४१)।

पुनश्च, योग का अर्थ है कर्मों में कुशलता प्राप्त करना। इस प्रकार कर्मयोग का अर्थ अपने आप को सामाजिक कर्तव्यों में पूरी निष्ठापूर्वक लगाना। यदि समाज का प्रत्येक व्यक्ति समाज द्वारा प्रदत्त दायित्वों का पूरी निष्ठा के साथ निर्वहन करता है तो ऐसा करके ही वह मोक्ष का अधिकारी बन सकता है।

पाश्चात्य दार्शनिक ब्रेडले भी अपने सिद्धान्त "मेरा स्थान तथा उसके कर्तव्य" में कर्तव्य पालन पर अत्यधिक बल प्रदान करता है। परन्तु दोनों में विभेद यह है कि गीता के अनुसार कर्म का अर्थ वर्ण धर्म के अनुरूप कार्य करना है, जबकि ब्रेडले वर्ण धर्म की बात नहीं करता। उसके अनुसार समाज में प्रत्येक व्यक्ति का दायित्व, उसके मानसिक अभिरूचि के अनुसार निर्धारित होता है।

गीता के निष्काम कर्म की तुलना कभी–कभी काण्ट के "कर्तव्य के लिए कर्तव्य' सिद्धान्त से भी की जाती है क्योंकि दोनों ही मानते हैं कि कर्तव्य फल की इच्छा से नहीं बल्कि कर्तव्य समझकर करना चाहिए। यथार्थत: फल के लिए किया गया कर्म अपना नैतिक मूल्य खो देता है। परन्तु दोनों में वैषम्य यह है कि :–

- काण्ट इन्द्रियों के दमन की बात करता है जबकि गीता बुद्धि के द्वारा उसे नियंत्रित करने की।
- गीता में मोक्ष को आदर्श माना गया है, जिसकी प्राप्ति में नैतिकता सहायक है जबकि काण्ट नैतिक नियम को ही एकमात्र आदर्श मानता है।
- गीता कर्तव्य के समर्पण पर बल देती है जबकि काण्ट समर्पण की बात नहीं करता।

अनासक्ति कर्म के माध्यम से ही गीता तत्कालीन समाज में व्याप्त प्रमुखत: दो विरोधी प्रवृत्तियों का समन्वय करती हैं – प्रवृत्ति मार्ग तथा निवृत्ति मार्ग। एक ओर, प्रवृत्ति मार्ग वैदिक कर्मकाण्ड का मार्ग है। इसके अनुसार वैदिक कर्मकाण्डों के द्वारा ही लौकिक तथा पारलौकिक हितों की प्राप्ति सम्भव है। दूसरी ओर, निवृत्ति मार्ग त्याग या सन्यास का मार्ग है। इसके अनुसार सभी प्रकार के कर्म बंधन के कारण होते हैं। कर्मों के द्वारा भले ही कुछ समय के लिए लौकिक तथा पारलौकिक सुखों की प्राप्ति हो जाय परन्तु ज्योंही कर्मार्जित फलों की समाप्ति होती है, पुन: बंधन की स्थिति आ जाती है। अत: प्रवृत्ति की अपेक्षा निवृत्ति ही श्रेयस्कर है। गीता में प्रवृति मार्ग से कर्म का सिद्धान्त तथा निवृति मार्ग से त्याग का सिद्धान्त इन दोनों का समन्वय किया गया है। कर्म तो करना ही पड़ेगा, साथ–साथ त्याग भी आवश्यक है। परन्तु त्याग कर्म का नहीं, बल्कि कर्म से उत्पन्न फल की प्राप्ति का। इसे ही प्रो० हिरियन्ना कहते हैं कि गीता 'कर्म का त्याग नहीं बल्कि कर्म में त्याग का संदेश देती है।' यही कर्म में अकर्म की स्थिति है जहाँ साधक कर्म करते हुए भी अकर्ता बना रहता है क्योंकि बिना आसक्ति के द्वारा किया गया कर्म अकर्म कहलाता है। बंधन का कारण कर्म नहीं बल्कि आसक्ति है। अत: निरासक्त होकर कर्म करने से बंधन की स्थिति नहीं होती। स्पष्टत: गीता का यह सिद्धान्त, अरस्तू के 'स्वर्णिम माध्यम' (The theory of

golden mean) के समान मध्यम मार्ग है।

गीता के अनुसार कर्म का त्याग सम्भव भी नहीं क्योंकि :–

- शरीर के रक्षार्थ कुछ न कुछ कर्म करना आवश्यक है (शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येकर्मण: गीता ३/८)।
- इन्द्रियाँ सदैव विषयोन्मुख होती हैं। अत: कोई भी पुरुष किसी भी काल में क्षणमात्र के लिए भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता (न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्–गीता ३/५)।
- बिना कर्म के लोक की स्थिति सम्भव नहीं है क्योंकि जगत कर्मों से बंधा हुआ-है। इस प्रकार यदि प्रत्येक व्यक्ति कर्म का परित्याग कर दे, तो लोक का उच्छेद हो जायेगा।
- पुनश्च, भगवान कृष्ण कहते हैं कि ईश्वर होने के कारण मैं आप्तकाम हूं अर्थात् मेरी कोई इच्छा अवशिष्ट नहीं है (आप्तकामस्य का स्पृहा?)। फिर भी मैं लोकसंग्रह के लिए निरन्तर कर्म करता हूँ। जब स्वयं भगवान को लोक संग्रह के लिए कर्म करना आवश्यक है तब साधारण मनुष्य कर्म से विमुख किस प्रकार हो सकता है?

इस प्रकार जब तक जीव का देह से सम्बन्ध है, कर्म करना आवश्यक है। अब यदि प्रवृति मार्ग के अनुसार कर्म करना वास्तव में अभिष्ट है इसीलिए गीता में अनासक्ति कर्म का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है। इसी कारण भगवान कृष्ण अर्जुन को समझाते हुए कहते हैं कि अर्जुन तुम्हारा कर्म पर ही अधिकार है, फल में नहीं। अत: तुम फल को कर्म का हेतु मत बनाओ और कर्म का परित्याग मत करो।

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मां ते संगोऽस्त्वकर्मणि।।''– गीता २/४७

इसका अर्थ नहीं है कि कर्म बिना फल के विचार से किया जाता या कर्म करने से फल प्राप्ति नहीं होगी, बल्कि इसका तात्पर्य केवल इतना है कि कर्म करने का हेतु कर्मफल नहीं होना चाहिए क्योंकि फलासक्ति से कर्मबंधन दृढ़ होता है (फलेसक्तो निबध्यते–गीता ५/१२)। इसीलिए गीता में फलेच्छा से रहित होकर कर्म करने की शिक्षा दी गयी है। गीता के अनुसार फल की इच्छा रखने वाला

कृपण होता है (कृपणा: फलहेतव: गीता २/४४)।

लेकिन बिना अहंकार तथा आसक्ति का परित्याग किये अनासक्ति कर्म असम्भव है। कर्म के विषय में गीता पर सांख्य दर्शन का प्रभाव है। जिस प्रकार सांख्य दर्शन मानता है कि कर्म प्रकृति का गुण है, उसी प्रकार का सिद्धान्त गीता में भी स्वीकार किया गया है। हे अर्जुन! वास्तव में सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किए हुए हैं, तो भी अहंकार से मोहित हुए अंत:करण वाला पुरुष, मैं कर्त्ता हूँ ऐसा मान लेता है।

"प्रकृते: क्रियमाणानि गुणै: कर्मणि सर्वश:
अहंकारविमूढ़ात्मा कर्त्ताहमिति मन्ते।" — गीता ३/२७

गीता के अनुसार किसी भी कर्म के लिए पांच तत्व सहायक होते हैं, अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्ठा तथा दैवीय इच्छा।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्
विविधाश्च पृचक्चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम्।" —गीता १८/१४

अधिष्ठान का अर्थ शरीर है और बिना शरीर के कर्म नहीं हो सकता। कर्ता जीव है तथा बिना जीव के कोई कार्य नहीं हो सकता। करण का अर्थ इन्द्रियाँ हैं और इन्द्रियों के बिना कार्य असम्भव है। चेष्टा, कर्त्ता का प्रयास है और प्रयास के बिना कोई भी कार्य सम्भव नहीं है। अंतत: दैवी इच्छा का अर्थ है ईश्वर का हस्तक्षेप। सब कुछ होते हुए जब तक ईश्वरीय कृपा नहीं.होगी, कार्य असम्भव है। जब किसी भी कार्य के लिए इतने तत्व आवश्यक हैं तब जीव अपने आपको अहंकार वश कर्त्ता क्यों मान लेता है? यदि इन सभी पक्षों पर गहनतापूर्वक चिंतन किया जाय तो अहंकार से मुक्त हुआ जा सकता है। जब जीव अहंकार रहित होकर कोई भी कार्य करता है तो वह कर्म करते हुए भी अकर्त्ता की स्थिति में बना रहता है। यहीं 'कर्म में अकर्म' की स्थिति है।

लेकिन अनासक्ति कर्म के लिए अहंकार के साथ–साथ आसक्ति का परित्याग भी आवश्यक है। प्राय: जीव अज्ञानवश विभिन्न जीवों के प्रति राग–द्वेष का सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। जिसके परिणामस्वरूप कर्म–फल में स्वभावत: आसक्ति हो जाती है और आसक्ति वश किया गया कार्य फल के लिए किया गया कार्य होता है, जो बंधन का कारण होता है। इसीलिए गीता आसक्ति रहित होकर कार्य करने का उपदेश करती है।

प्रश्न उठता है कि क्या आसक्ति रहित होकर कार्य करना व्यावहारत: सम्भव है? स्पष्टत: गीता का अनासक्ति कर्म योगी कोई साधारण पुरुष नहीं, बल्कि एक पूर्ण पुरुष या त्रिगुणातीत पुरुष है, जो सभी प्रकार की मनोवैज्ञानिक दुर्बलताओं से रहित अर्थात् 'स्थित प्रज्ञ' है। 'स्थितप्रज्ञ' वह व्यक्ति है, जिसकी प्रज्ञा 'समत्व योग' में स्थापित हो गई हो। जो सभी प्रकार के द्वन्दों में भी निर्द्वन्द बना रहता है। अर्थात् जो सुख–दु:ख, हानि–लाभ तथा जय पराजय, इन सभी विषम परिस्थितियों में भी समान तथा तटस्थ बना रहता है (सुख–दु:ख समेकृत्वा लाभालाभौ जया जयौ–गीता २/३८)। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि वह उचित अनुचित का भेद नहीं करता। इस दृष्टि से लोकमान्य तिलक ठीक ही लिखते हैं कि 'कुबेर से टक्कर लेने वाला करोड़पति साहूकार यदि बाजार में तरकारी लेने जाए, तो जिस प्रकार वह हरी धनिया की गड्डी की कीमत लाख रूपये नहीं दे देता, उसी प्रकार पूर्ण साम्यावस्था में पहुँचा हुआ पुरुष किसी भी कार्य का योग्य तारतम्य भूल नहीं जाता। उसकी बुद्धि सम तो रहती है परन्तु समता का यह अर्थ नहीं कि वह गाय का चारा मनुष्य को तथा मनुष्य का भोजन गाय को खिला दे।' (गीता रहस्य, पृष्ठ ३९६)।

दूसरे, गीता सभी प्रकार की कामनाओं के नाश पर बल नहीं देती है। वास्तव में स्वार्थपरक तुच्छ कामनाएँ निष्कामता की स्थिति में विशुद्ध होकर परिमार्जित हो जाती है। यह कामनाओं का नाश नहीं, बल्कि कामनाओं का दैवीकरण है। प्रो० एस०एस० राय के अनुसार स्थितप्रज्ञ का आदर्श कोई यूटोपिया या अव्यावहारिक दार्शनिक की कल्पना या रचना नहीं है, बल्कि वह एक ऐसा व्यक्ति है जिसने अपने व्यक्तित्व में उपनिषदों के महान ऋषियों के परम तत्व के साक्षात् अनुभव, ईसाई संतों एवं रहस्यवादियों के हर्षोन्माद (Ecstasy), प्लेटो और अरस्तू की अंतर्दृष्टि तथा स्पिनोजा और काण्ट के शुद्ध और विरक्त चिंतन का समावेश किया है। (Bhagavadgita and its Background, पृष्ठ–१०७)

गीता कहती है कि यदि कामनाएँ रखनी ही हैं तो दो प्रकार की कामनाएँ रख सकते हैं–

- ईश्वर की प्राप्ति की तथा
- लोक संग्रह की।

प्रारम्भ में तामसिक तथा राजसिक भावनाओं को सात्विक भावनाओं के

द्वारा नियंत्रित करना चाहिए। अंततः सात्विक भावना का भी परिमार्जन हो जाता है या यों कहें यह भी समाप्त हो जाती है। इस अवस्था में कर्म–फल से आसक्ति विनष्ट हो जाती है और व्यक्ति कर्म–फल को ईश्वर के प्रति समर्पित कर देता है। जब कर्म–फल ईश्वर के प्रति समर्पित हो जाता है तब कर्म ईश्वर के लिए किया गया कर्म हो जाता है और ऐसे कर्म द्वारा बंधन नहीं होता जैसे पद्मपत्र जल से लिप्त नहीं होता (लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा–गीता ५/१०)।

इसी प्रकार गीता का मत है कि लौकिक स्थितियों में कर्म का प्रयोजन अपने स्वार्थ के स्थान पर लोक संग्रह हो सकता है। जब साधक लोक–संग्रह के लिए कार्य करता है तब स्वार्थ एवं वासनाओं का अतिक्रमण हो जाता है। वह लोक कल्याण की कामना से कार्य नहीं करता, बल्कि उसके द्वारा सम्पादित कार्यों से स्वतः लोक संग्रह होता रहता है। भगवान स्वयं कहते हैं कि मेरा कोई कार्य शेष नहीं है फिर भी मैं कर्म करता हूँ :–

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषुलोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।। गीता ३/२२

स्पष्टतः लोक संग्रह का अर्थ आदर्श उपयोगितावाद नहीं है क्योंकि उपयोगितावाद का आदर्श "अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख" है, सभी का हित नही। गीता के लोक संग्रह का आदर्श जान रस्किन के 'अन्तिम मनुष्य' गांधी के 'सर्वोदय' तथा उपनिषद के 'सर्वेभवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया' के समतुल्य है।

यदि उपरोक्त सभी पक्षों पर गहनतापूर्वक विचार किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि गीता का परम साध्य कर्म–अकर्म की शिक्षा प्रदान करना नहीं था बल्कि अहंकार और मोहग्रस्त अर्जुन को इन तुच्छ भावनाओं से उबारना था। गीता का उपदेश, उस धरातल पर होता है जहाँ दोनों पक्ष की सेनाएं आमने–सामने खड़ी हैं। संकट की इस स्थिति में, अर्जुन युद्ध करने से साफ मना कर देता है। उसके समक्ष कर्म की समस्या नहीं है। अर्जुन को कर्म से कब परहेज था। वह तो जीवनपर्यन्त कर्म ही करता रहता है। यदि यह माना जाय कि गीता का परम साध्य कर्म की समस्या है, तो यह अप्रासंगिक प्रतीत होता है क्योंकि तब भगवान कृष्ण को यह उपदेश बहुत ही पहले दे देना चाहिए था। दूसरी बात यह है कि अर्जुन केवल भाई–बान्धवों से युद्ध करने को मना करता है इसका अर्थ है कि उसको युद्ध

करने से कोई परहेज नहीं था। वह तो केवल अपने परिजनों के साथ युद्ध नहीं करना चाहता। इस प्रकार उसके समक्ष मूल समस्या अहंकार तथा आसक्ति की है। इस मानसिक दुर्बलता के कारण ही वह अपने आपको युद्ध करने से बचाना चाहता है। वह कहता है कि :—

- भाई बान्धवो के साथ कैसे युद्ध करूं?
- यदि युद्ध में इनका विनाश कर भी दिया, तो इस महाविनाश जनित पापों का भागी कौन बनेगा?

असमंजस की इस क्षण में भगवान कृष्ण, अर्जुन को इन तुच्छ भावनाओं से उबरने के लिए कर्म—अकर्म की शिक्षा प्रदान करते हैं, परन्तु अर्जुन तर्क—वितर्क करता गया। पुनश्च, भगवान कृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन तुम मुझे सर्वाधिक प्रिय है, इसलिए अब मैं तुझे सर्वाधिक गोपनीय परम रहस्यमय उपदेश दे रहा हूं कि तुम सब कुछ छोड़कर अनन्य भाव से मेरी शरण में आ जा। मैं तुझे सारे पापों से मुक्त कर दूंगा। तु शोक मत कर।

''सर्वधर्मान् परित्यज्यं मामेकं शरणं ब्रज।
अहंत्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मां शुचः।।'' गीता १८/६५

यहाँ पर भी यह स्पष्ट हो जाता है कि गीता का उपदेश कर्म—अकर्म के लिए नहीं बल्कि समर्पण के लिए दिया गया है और समर्पण तब तक असम्भव है जब तक अहंकार तथा आसक्ति का पराभव न हो जाय। गीता का परम साध्य इसी अहंकार तथा आसक्ति से विमुक्त कराना था। यदि व्यक्ति अहंकार व आसक्ति का परित्याग कर दे तब वह दुःख में रहते हुए भी दुःख रहित नहीं रहेगा। दुःख का कारण कर्म नहीं बल्कि फलाकांक्षा है। अतः यदि फलाकांक्षा से रहित होकर कर्म किया जाय तब दुःखों से मुक्त हुआ जा सकता है। दूसरे, आसक्ति या स्वार्थवश व्यक्ति उचित कर्म का चुनाव नहीं कर पाता। यदि संयोगवश उचित कर्म का चुनाव कर भी ले तो लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होने पर वह हताश या निराश होकर या तो कर्म का परित्याग कर देता है या फिर दुःख की प्रज्वला में धधकने लगता है। इसलिए गीता अहंकार व आसक्ति रहित (disinterested) होकर कर्म करने का उपदेश करती है न कि इच्छा रहित (desireless) होकर।

यहाँ पर एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि 'समर्पण योग' किस प्रकार 'भक्ति योग' से भिन्न है? वास्तव में भक्ति, 'भज' धातु से बना है जिसका अर्थ

होता है 'सेवा करना'। सेवा करने के लिए भक्त तथा भगवान दोनों की पृथक सत्ता अनिवार्य है अर्थात् भक्ति द्वैतपरक होती है जबकि समर्पण अद्वैत की अवस्था है जहां भक्त और भगवान दोनों का भेद समाप्त हो जाता हैं। इस प्रकार भक्ति 'साधन' है जबकि समर्पण 'साध्य'। दूसरे, भक्ति के लिए 'भाव' का होना आवश्यक है यथा, दास्य भाव, सखा भाव, वात्सल्य भाव, भातृत्व भाव, माधुर्य भाव आदि। यही नहीं, सामान्यत: भक्ति के नौ साधन भी स्वीकार किये गये हैं यथा; अर्चना, बन्दना, दासता, सेवा, स्मरण, कीर्तन, भजन, श्रवण, सख्य तथा आत्मनिवेदन। परन्तु समर्पण सभी प्रकार के भावों से परे अर्थात् तटस्थता की अवस्था है। तीसरे, भक्ति में कहीं–न–कहीं "कर्त्तापन का भाव" रहता है। यह भाव उनका पीछा जीवन की अन्तिम घड़ी तक नहीं छोड़ता। जबकि 'समर्पण योग' में "कर्त्तापन का भाव" नहीं बल्कि "द्रष्टापन का भाव" रहता है। इसमें कर्त्तापन के भाव का भी समर्पण हो जाता है। द्रष्टापन में व्यक्ति सब कुछ करते हुए अकर्त्ता बना रहता है क्योंकि वह अपने आपको निमित्त मात्र मानकर चलता है। वह जानता है कि करने वाला तो कोई और ही है। मेरे माध्यम से कार्य केवल सम्पादित हो रहा है। इस अवस्था में साधक को संचित तथा प्रारब्ध कर्मों का फल भोगना शेष रहता है। चौथा, भक्तियोग में कुछ करने की बात की जाती है जबकि "समर्पण योग" में सब कुछ छोड़ने की (सर्वधर्मान परित्ज्यं मामेकं शरणं ब्रज)। पॉचवां, भक्ति में आसक्ति बनी रहती है (ईश्वर प्राप्ति की)। इसीलिए रामानुजाचार्य भक्ति को 'प्रपत्ति' या 'शरणागति' कहते हैं, जिसका अर्थ है अहंकार का परित्याग करके ईश्वर के शरण में जाना। जबकि समर्पण में अहंकार के साथ–साथ आसक्ति (ईश्वर भक्ति) के भी परित्याग की बात की गयी है क्योंकि जब तक किसी भी प्रकार की आसक्ति रहेगी, चाहें वह ईश्वर प्राप्ति की ही क्यों न हो, बंधन का कारण बना रहता है। छठां 'समर्पण योग', ज्ञान, भक्ति तथा कर्म सबकी पंराकाष्ठा है क्योंकि इन सभी का पर्यवसान अंततः समर्पण योग में ही होता है। "भक्ति योग में तो साधक विष्णुलोक पहुॅचकर अपने द्वैतवाद को बनाये रखता है और उसी में सर्वथा संतुष्ट रहना चाहता है। आगे के स्थानों का ज्ञान प्राप्त करने की न तो उन्हें चाहत ही होती है और न वे कोशिश करते हैं। जबकि 'समर्पण योग' इससे ऊपर की अवस्था है। वास्तव में सभी प्रकार के साधन जहॉ पहुॅचते हैं वहीं 'समर्पण योग' है। 'समर्पण योग' सभी का साध्य है। यह असली

'प्रयागराज तीर्थ' है जहाँ गंगा (भक्ति), यमुना (कर्म) तथा सरस्वती (ज्ञान) का संगम होता है।'' (डा० चतुर्भुज सहाय, 'प्रेम साधना', पृष्ठ–३२)।

इसी प्रकार समर्पण योग 'अनासक्ति योग' से भी पृथक है। गाँधी जी का मन्तव्य है कि गीता का परम साध्य ''अनासक्ति योग'' है। जहाँ अनासक्ति का अर्थ आसक्ति का परित्याग है। गाँधी के अनासक्ति योग में दो महत्वपूर्ण बाते हैं –

- आसक्ति रहित होकर कर्म करना, क्योंकि बंधनकारी कारण कर्म नहीं आसक्ति है। परन्तु कर्म मात्र में कुछ दोष तो है ही, मुक्ति तो निर्दोष की ही होती है। तब कर्म बंधन में से अर्थात् दोष–स्पर्श में से कैसे छुटकारा हो? इसका जवाब गीताजी नें निश्चयात्मक शब्दों में दिया है ''निष्काम कर्म से यज्ञार्थ कर्म करके, कर्म फल त्याग करके......।''
- दूसरे सत्य तथा अहिंसा का पूर्ण रूप से पालन किये बिना अनासक्ति कर्म असम्भव है।

स्वयं गाँधीजी अनासक्ति कर्म का अर्थ बताते हुए कहते हैं कि ''तब कर्म करते हुए भी मनुष्य बंधन मुक्त कैसे रहे? जहाँ तक मुझे मालूम है। इस समस्या को जिस तरह गीता ने हल किया है, वैसे दूसरे किसी भी धर्मग्रंथ नें नहीं किया है। गीता का कहना है ''फलासक्ति छोड़ो और कर्म करो।'' ''आशारहित होकर कर्म करो।'' ''निष्काम होकर कर्म करो।'' यह गीता की वह ध्वनि है, जो भुलाई नहीं जा सकती। जो कर्म छोड़ता है, वह गिरता हैं। कर्म करते हुए भी जो उसका फल छोड़ता है, वह चढ़ता है। फल त्याग का यह अर्थ नहीं कि परिणाम के सम्बन्ध में लापरवाही रहे। परिणाम और साधन का विचार और उसका ज्ञान अत्यावश्यक है। इतना होने के बाद जो मनुष्य परिणाम की इच्छा किये बिना साधन में तन्मय रहता है। वह फलत्यागी है।.......गीता के मतानुसार ''जो कर्म ऐसे हैं कि आसक्ति के बिना हो ही न सकें, वे सभी त्याज्य हैं।'' (अनासक्ति योग, पृष्ठ ९–१०)।

स्पष्टत: 'समर्पण योग', अनासक्तियोग से असम्पृक्त है। अनासक्ति योग में केवल निरासक्त भाव से कर्म करने की बात की गयी है जबकि समर्पण योग में आसक्ति के साथ–साथ 'अहंकार' का भी परित्याग करने की बात की गई

हैं। जब तक जीव अहंकार का परित्याग नहीं करेगा, आसक्तिरहित होकर कार्य करना सम्भव नहीं हो सकेगा क्योंकि आसक्ति रहित होने पर भी जीव का अहंकार बना रहेगा अर्थात् "मैं कर रहा हूं।" लेकिन जब तक यह भावना रहेगी निष्काम कर्म नहीं हो सकेगा। दूसरे "अनासक्ति योग" में "कर्त्तापन" का भाव रहता है, जबकि समर्पण योग में "द्रष्टापन" का। इसलिए भगवान कृष्ण अर्जुन को समझाते हुए कहते हैं कि अर्जुन तुम तो केवल निमित्त मात्र हो। तुम्हारे द्वारा कार्य केवल सम्पादित हो रहा है, तुम कर नहीं रहे हो। करने वाला तो कोई और ही है। वास्तव में जब तक कर्त्तापन का भाव रहेगा अहंकार से मुक्ति नहीं हो सकती। इससे मुक्ति तो द्रष्टापन में ही है। अनासक्त योग में अनासक्त होने का अहंकार विद्यमान रहता है जबकि समर्पण योग में इसका भी परित्याग करने को कहा गया है। इस दृष्टि से समर्पण योग त्याग से भी पृथक है क्योंकि त्याग में त्यागी होने का अहंकार रहता है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि गीता का 'समर्पण योग', 'भक्तियोग' तथा 'अनासक्ति योग' दोनों से असम्पृक्त है। जहॉ भक्तियोग में अहंकार का परित्याग करते हुए भक्ति करने की बात की गई है (यद्यपि यहाँ सूक्ष्म रूप से आसक्ति बनी रहती है)। वहीं, अनासक्ति योग में आसक्तिरहित होकर कार्य करने की वकालत की गई है (यद्यपि यहाँ सूक्ष्म रूप से अहंकार बना रहता है)। जबकि 'समर्पण योग' में अहंकार के साथ—साथ आसक्ति का भी परित्याग करने की बात की गई है। यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि समर्पण में "समर्पण का अहंकार" रहता है। ऐसा कहना, बदतोव्याघात है क्योंकि जब तक जीव में समर्पण की भावना रहती है तब तक उसने पूर्णतया समर्पण नहीं किया है। जब यथार्थतः समर्पण होता है तब समर्पण के भाव का भी पराभव हो जाता है। यहीं गीता का परम साध्य है।

**

आत्म ज्ञान की मूल प्रवृत्तियाँ

आज के वैज्ञानिक युग में, जिसकी मूल प्रवृत्ति निरीक्षण या प्रयोग की रही है, उससे दर्शन भी अछूता नहीं रहा। अब दार्शनिक जो कुछ भी जानना चाहता है वह वैज्ञानिक पद्वति के माध्यम से और जो विज्ञान की खोज के परे है, उसका वह तर्कत: निषेध करता है क्योंकि वह अमूर्त चिन्तन होने के कारण मानवीय बुद्धि व अनुभव से परे है, अत: निरर्थक है। यदि वह इसे निरर्थक कहकर ही शांत हो जाय, तब भी बात कुछ समझ में आती है। अब तो वह एक कदम आगे बढ़कर, यह दावा करता है कि ऐसी किसी सत्ता का अस्तित्व ही नहीं है क्योंकि यदि कोई ऐसी सत्ता होती तो अब तक उसका ज्ञान अवश्य ही प्राप्त हो गया होता, पर ऐसा हुआ नहीं। फिर क्यों न ऐसी सत्ता का निषेध किया जाय। स्पष्टत: जब तक हम ऐसी सत्ता को स्वीकार करते रहेगें, निरर्थक प्रश्न उठाये जाते रहेगे। यदि इन निरर्थक प्रश्नों से मुक्ति चाहिए तो वह ऐसी सत्ता के निषेध से ही सम्भव हो सकेगा।

इसीलिए उन्हें ''आत्मानं विद्धि'' या ''नो दाईसेल्फ'' के नारे पुराने लगते हैं क्योंकि इनमें 'बातों की बात' ही अधिक है, 'काम की बात' नहीं है। इस प्रकार के नारों का प्रतिवाद तो पहले से भी होता आ रहा है, अत: प्रतिवाद की दृष्टि से यह कोई नूतन अवधारणा नहीं है। नवीनता तो केवल इस अर्थ में है कि 'आत्मानं विद्धि' या 'नो दाईसेल्फ' से किसको क्या मिला? प्रारम्भ में इसे मानवीय बुद्धि व अनुभव के परे माना जाता था, जिसे मनुष्य नहीं जान सकता। परन्तु अब यह कहा जा रहा है कि आखिर इससे किसी को क्या मिलता है? स्पष्टत: आज की उपभोक्तावादी संस्कृति में जहाँ प्रत्येक चीज को पैसे से आसानी से क्रय किया जा सकता है तो उन चीजों का क्या मूल्य है? जिसे न तो क्रय किया जा सके और न ही जो कुछ व्यावहारिक परिणाम ही द सके। अब तो मनुष्य यह चाहता

है कि ऐसी कोई 'टेबलेट' विकसित हो जाय, जिसको मनुष्य खाये और तत्क्षण आत्मा का दर्शन हो जाय। यदि आत्मा को न तो क्रय किया जा सके और नहीं इसका कोई व्यावहारिक परिणाम ही होता है तो क्यों न 'आत्मानं विद्धि' या 'नो दाईसेल्फ' का बहिष्कार किया जाय? आखिर इससे साधारण आदमी को क्या मिलेगा?

इन्हीं मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में प्रो० दयाकृष्ण का लेख 'आत्मकेन्द्रित चिन्तन की मूल भ्रांतियाँ, 'उन्मीलन' के जुलाई (२००१) अंक में प्रकाशित हुआ, जिसमें प्रो० दयाकृष्ण ने, बिना आत्मा का साक्षात्कार किये, एक आत्मदृष्टा की भाँति, अनेकानेक भ्रांतियों को गिना दिया ओर लेख का शीर्षक दे दिया 'आत्मकेन्द्रित चिन्तन की मूल भ्राँतियाँ'। लेकिन समस्या यह है कि क्या आत्मा, चिन्तन का विषय है? यदि चिन्तन का अर्थ मन व बुद्धि के द्वारा सांगोपांग विवेचन करना है, जैसा कि सामान्यत: समझा जाता है, तो स्पष्टत: आत्मा ऐसे चिन्तन का विषय नहीं हो सकता। उपनिषद इसे पहले ही 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' या 'यतो वाचो निर्वतन्ते अप्राप्य मनसा स:' से सम्बोधित कर चुका है। अब यदि आत्मा, चिन्तन का विषय ही नहीं है, तो अवश्यमेव उसमें भ्रांतियाँ ही भ्रांतियाँ परिलक्षित होगी। जो जिसके द्वारा जाना ही नहीं जा सकता, यदि हम हठात् उसी के माध्यम से उसे जानने का प्रयास करेगें तो उसमें विसंगतियों का होना अस्वाभाविक नहीं होगा। जब 'आत्मानं विद्धि' या 'नो दाईसेल्फ' का नारा दिया जाता है, तो यहाँ यह नहीं कहा जाता कि आत्मा का चिन्तन करे, ''विद्धि'' का अर्थ ही ''जानना'' होता है न कि ''चिंतन करना''। यही बात नो दाईसेल्फ के लिए भी सत्य है। इसीलिए इसे 'आत्म ज्ञान' या 'परा ज्ञान'' या 'ब्रह्म विद्या' कहा गया है, जो अपरा ज्ञान की तरह पढ़ने से नहीं मिलती। इसकी तो शर्त ही यही है कि यह सीने–ब–सीने अर्थात् एक से दूसरे को परंपरया दी जाती है। जरा सोचिए, कोई देने वाला हो ही नहीं तो लेने का प्रश्न ही नहीं उठेगा। ठीक वैसे ही जैसे जलेबी जलेबी चिल्लाने से जलेबी नहीं मिलती। अब यदि आत्मा चिन्तन का विषय ही नहीं है तो यह शीर्षक कि 'आत्मकेन्द्रित चिन्तन की मूल भ्रांतियाँ' कहाँ तक उपयुक्त है? अच्छा होता यदि प्रो० दयाकृष्ण अपने लेख का शीर्षक 'आत्म ज्ञान की मूल भ्रांतियाँ' रखे होते।

अन्य भारतीय दार्शनिक परम्पराओं की भांति, प्रो० दयाकृष्ण भी अपने

लेख का आरम्भ 'दु:ख' से करते हैं। लेकिन जहाँ अन्य दार्शनिक दु:ख मानकर चलते हैं, वही प्रो० दयाकृष्ण 'दु:ख—विरोध' को अपने लेख का प्रतिपाद्य विषय बनाते हैं क्योंकि 'सुख की तलाश तो हर जानवर करता है' (पृष्ठ ८५)। अर्थात् जहाँ अन्य दु:ख—निरोध को अपना साध्य मानते हैं, वहीं वे सुख—निरोध को।

प्रो० दयाकृष्ण लिखते हैं कि ''अगर हिन्दुस्तान में पैदा हुए हैं तो उन्हें दो बातें अवश्य ही विरासत में मिलती हैं। पहली, यह कि आदमी सुख की तलाश तथा दु:ख से दूर भागता है और दूसरी यह कि उसे स्थायी सुख या शांति कभी प्राप्त नहीं होती।

जीवन का चरम लक्ष्य परम पुरुषार्थ, स्थायी सुख व शांति को प्राप्त करना है – ऐसा सुख, ऐसी शांति जिसमें दु:ख की सम्भावना भी न हो। आत्यान्तिक दु:ख निवृत्ति और नित्य, सहज, चिरन्तन 'आनन्द' की अवस्था को उसके परम पुरुषार्थ के रूप में देखा गया है'' (पृष्ठ ८५)।

पहली बात यह कि अगर हिन्दुस्तान में पैदा हुआ तो अवश्य ही सुख की तलाश तथा दु:ख से दूर भागने का प्रयास करेगा। इसका अर्थ है कि केवल हिन्दुस्तानी ही सुख की तलाश करते हैं, तब प्रश्न उठता है कि क्या अन्य सभी दु:ख की तलाश करते हैं? स्पष्टत: यह एक अपूर्ण दृष्टिगोचर को प्रतिबिम्बित करता है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर एक नैसर्गिक प्रवृत्ति होती है, जो स्वभावत: उसे सुख के निकटस्थ तथा दु:ख से दूरस्थ करने का प्रयास करती है, जिसे महर्षि पतंजलि 'अभिनिवेश' तथा मनोवैज्ञानिक 'सहज प्रवृत्ति' (Instinct) कहते हैं।

स्वयं ब्रिटिश दार्शनिक जर्मी बेंथम अपनी महत्वपूर्ण पुस्तक "Introduction to Principles of Moral and Legislation" की शुरूआत ही इस कथन से करते हैं कि ''प्रकृति ने मनुष्य को दो सम्प्रभुओं के अधीन छोड़ दिया है – सुख और दु:ख।'' जिस प्रकार कोई भी व्यक्ति सम्प्रभु के आदेश का उल्लंघन नहीं कर सकता है, उसी प्रकार मनुष्य सुख और दु:ख का भी। अर्थात् उसका प्रत्येक कार्य 'सुख' और 'दु:ख' के आकलन से ही प्रारम्भ होता है। वह वही करता है जो उसके सुख में अत्यधिक अभिवृद्धि करे तथा जिससे कम से कम दु:खानुभूति हो। यदि उपर्युक्त बातें सत्य हैं तो फिर यह कहना कि केवल हिन्दुस्तानी ही सुख की प्रत्याशा करते हैं, कहाँ तक उपयुक्त हैं?

वास्तव में 'सुख की तलाश' की अवधारणा में ही सम्पूर्ण विकास का रहस्य छिपा हुआ है। आज विश्व में जो कुछ भी हो रहा है, चाहे वह प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र में हो या फिर सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में सभी, इसीलिए कि मनुष्य का जीवन और भी सुविधा सम्पन्न हो सके। यदि सुख की तलाश न हो तो विकास की सम्पूर्ण अवधारण धूल धूसरित हो जायेगी। इसी कारण, वह सब कुछ जो सुख के अनुरूप नहीं होता है, उसका स्वरूप धूमिल होने लगता है और इस प्रकार अन्ततः मृतप्राय भी।

यद्यपि यह सच है कि सुख की तलाश सभी करते हैं तथापि, इसकी प्रवृत्ति हिन्दुस्तान की अपेक्षा विकसित देशों में अतिप्रबल रही है क्योंकि हिन्दुस्तानी जनमानस धर्मभीरू होने के कारण, दुःख को भी सुखद मानकर चलता है। या यों कहें कि यहाँ की अधिकतर आबादी उन लोगों की है, जो केवल जीने के लिए जीते हैं, न कि सुखपूर्वक जीने के लिए। इसके विपरीत विकसित देशों का सम्पूर्ण प्रयास इस ओर निर्दिष्ट है कि ऐसी कौन सी चीज विकसित कर दी जाय, जिससे मनुष्य के विलासितापूर्ण जीवन जीने में और भी अभिवृद्धि हो जाये। जहाँ कुछ भी नहीं करना पड़े और यदि करना भी पड़े तो केवल ''रिमोट'' के माध्यम से।

इसकी जीती–जागती मिसाल ११ सितम्बर २००१ की घटना है, जब न्यूयार्क और वांशिंगटन में बम फटे तो ऐसा लगा, मानो सम्पूर्ण विश्व में भूचाल आ गया हो। जिसके डर से काल की गति भी थम सी गयी। लेकिन ऐसी अनेक घटनाएँ भारतीय धरा पर अक्सर होती रहती हैं, फिर भी वह उन्हें इस कदर अपने आप में आत्मसात कर लेती है? मानों कुछ हुआ ही न हो। ऐसा इसलिए कि विकसित देश दुःख देखना नहीं जानते, वे तो सतत् सुख की तलाश में ही अपने सम्पूर्ण जीवन का उत्सर्ग कर देते हैं। दुनिया में और भी लोग हैं, जो उन्हीं की तरह हाड़–मांस व चेतना से युक्त हैं, उन्हें भी दुःख होता है, इन सब फिजूल की बातों से उन्हें क्या लेना–देना है। ऐसा इसलिए कि वे केवल अपने लिए जीते हैं, दुःख सहते भी हैं तो केवल अपने स्वार्थ के लिए। इससे कहीं ज्यादा अच्छा तो पशु पक्षियों का जीवन है, जो अपने मालिक के लिए अपने प्राण की आहुति तक दे देते हैं। लेकिन विकसित देशों का सम्पूर्ण प्रयास स्वार्थजनित या सुखजनित प्रवृत्तियों से संचालित होता रहा है। इसलिए वे उन सबको, जो सुख के अनुरूप नहीं होता, उसको समूल विनष्ट करने के

लिए प्रतिबद्ध हो जाते हैं। अत: यह कहना कि केवल हिन्दुस्तानी ही सुख की तलाश करते हैं, एक निर्मूल अवधारणा है।

दूसरी बात यह है कि 'उसे स्थायी सुख और शांति कभी प्राप्त नहीं होती।' परन्तु प्रो० दयाकृष्ण इस प्रश्न पर विचार नहीं करते कि ऐसा क्यों नहीं होता? पहले की अपेक्षा हम कहीं ज्यादा विकसित हुए हैं। यही नहीं हमारी सुख – सुविधाएँ भी निश्चित रूप से बढ़ी हैं। परन्तु दुर्भाग्य यह है कि उसी अनुपात में हमारी अशांति भी बढ़ी हैं। यद्यपि सुख–सुविधाओं के बढ़ने से तो शांति बढ़नी चाहिए, परन्तु इसके विपरीत हमारी अशांति ही बढ़ी है। कहाँ चला गया वह प्रेम और आदर्श, जहॉ लोग आधे पेट खाकर भी संतुष्ट दिखाई देते थे, आज भर पेट खाने के बावजूद भी प्रेम, शांति, आनन्द सब गायब हो गया है। यदि इसके मूल में जाकर कारणों का अवलोकन किया जाय तो हम पाते हैं कि जहॉ हम शांति व आनन्द की तलाश कर रहे हैं, वहॉ वह है ही नही। इसको अच्छी तरह प्रकृति के माध्यम से समझा जा सकता है। प्रकृति के तीन गुण सत्व, रजस् और तमस् है। तमस्, आलस्य, निद्रा, कुण्ठा, मोह की अवस्था होने के कारण शांति नहीं दे सकती। रजस् में भी क्रियाशीलता है। जबकि सत्व में शांति, आनन्द, प्रेम, दया, करूणा, उदारता, सौहार्द आदि की भावना है। अत: जब तक हम सत्व की अवस्था में नहीं जायेंगे, शांति नहीं मिल सकती।

लेकिन समस्या यह है कि यह सत्व कहाँ पर स्थित है? यदि अपने व्यक्तित्व के ऊपर दृष्टि डालें तो पाते हैं कि शरीर के ऊपर तमस् का प्रभाव है। अत: जब तक हम शरीर या जड़ता तक सीमित रहेगें या उस पर ध्यान जमायेंगे, शांति से दूर होते जायेगें। जैसे शारीरिक सौन्दर्य के प्रति आकर्षण स्वाभाविक है, लेकिन यही शारीरिक सौन्दर्य अन्तत: दु:ख का केन्द्र भी हो जाता है। इसी प्रकार मन के ऊपर रजस् का प्रभाव है। लेकिन रजस् का धर्म तो चंचलता है और जहां चंचलता है, शांति दुर्लभ होगी। स्पष्टत: जब तक हम मन तक सीमित रहेगें या फिर मन के अनुरूप कार्य करेगें, अशान्ति की ज्वाला में धधकते रहेगें। इसीलिए मन की मिसाल जंगली घोड़े से दी जाती है, जो एक पल के लिए भी कभी शांत नहीं रहता। सम्भवत: यही कारण था कि महर्षि पतंजलि चित्त की वृत्तियों के निरोध की बात करते हैं (योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:) न कि मन के विरोध की। सत्व का स्थान तो "आत्मा" है। अत: जब तक हम आत्मानुभूति या आत्मा की

अवस्था में नहीं जायेगें, शांति असम्भव है। हमारी कमी यह है कि हम जड़ता में, भौतिक विकास में शांति खोजते, जहाँ वह है ही नहीं, तब कहाँ से मिले वह शांति? ठीक वैसे ही जैसे स्वर्णकार की दुकान पर हम चावल की माँग करें, तो निश्चित रूप से वहाँ चावल नहीं मिलेगा। लेकिन इसका अर्थ यह कदापि नहीं होता कि चावल किसी भी दुकान पर है ही नहीं और यदि होता तो अवश्य ही मिल गया होता। हमें यह तो देखना ही पड़ेगा कि कि किससे क्या मांग रहे हैं। यदि चावल चाहिए तो हमें चावल की दुकान पर जाना ही होगा। प्रो० दयाकृष्ण मन या बुद्धि के माध्यम से स्थायी सुख व शांति खोजना चाहते हैं, जहाँ वह है ही नहीं। मन या बुद्धि का धर्म तो चंचलता है, लेकिन जब हमें चंचलता या अशांति मिलती है तब चिल्लाना शुरू कर देते हैं कि शांति और आनन्द कहीं है ही नहीं। यदि हमें शांति व आनन्द चाहिए तो हमें आत्मा के पास जाना ही होगा। जब तक हम इसकी तलाश भौतिक विकास या जड़ता में करते रहेगें, सुख व शांति प्राप्त नहीं हो सकती। अरे ! जो चीज जिसके पास है ही नहीं, वह उसे कहाँ से देगा।

ऐसा नहीं कि प्रो० दयाकृष्ण इस बात से अनभिज्ञ हैं तभी तो वे लिखते हैं कि ''आखिर मोक्ष भी तो उसी को होता है, जो मोक्ष की साधना करता है। बुद्ध को निर्वाण हुआ होगा, उससे मुझे क्या? और महावीर को कैवल्य पद प्राप्त हुआ या सर्वज्ञता मिली, तो मुझे क्या? न मुझे निर्वाण प्राप्त है, न सर्वज्ञता और क्या सब मुझसे नहीं कहते कि तुमने साधना नहीं की इसलिए तुम्हें यह सब कैसे प्राप्त हो सकता।' (पृष्ठ ९४)। यथार्थ भी यही है कि जो जिसको पाने का प्रयास करता, उसे वही हासिल होता है। यदि हम बबूल का पेड़ बोयेंगें, तो हमें उस पर आम फलने की अपेक्षा करना कहाँ तक उपयुक्त है। यदि आम की चाह है तो बीज भी आम का ही बोना पड़ेगा। इसी प्रकार यदि हम स्थायी शांति व आनन्द चाहते हैं तो उसकी साधनाएँ भी हैं, जो हमें करनी ही पड़ेगी। बिना साधना किए, इस पर प्रश्न चिन्ह खड़ा करना, कहाँ तक उपयुक्त है?

तीसरी बात यह कि जीवन का चरम लक्ष्य या परम पुरुषार्थ स्थायी सुख व शान्ति प्राप्त करना है, जिसमें दुःख हो। लेकिन प्रो० दयाकृष्ण को तो ये बातें 'बचकानी' लगती है क्योंकि 'सुख की तलाश तो हर जानवर करता है' (पृष्ठ ८५)। यहाँ पर प्रो० दयाकृष्ण इस प्रश्न पर विचार नहीं करते कि आखिर ऐसा मनुष्य क्यों चाहता है? यदि इस प्रश्न के मूल में जाकर देखा तो हम पाते हैं कि

इस प्रश्न का सही उत्तर केवल वही व्यक्ति दे सकता है, जिसने आद्योपांत केवल दु:ख ही दु:ख झेला है। अर्थात् दु:ख ही जिसके जीवन की कथा रही है। वास्तव में भोक्ता और चिन्तनकर्ता में बहुत बड़ा अन्तर होता है और जितना बड़ा चिन्तनकर्ता होता है, उतना ही बड़ा यह अंतर भी होता है, क्योंकि एकं उसको भोगता है, दूसरा उसे देखता है, द्रष्टा की तरह, एक निश्चित दूरी पर अपने आप को रखकर। इसलिए वह भोक्ता के अनुभव को हू—ब—हू आत्मसात नहीं कर पाता। एक व्यक्ति जिसका एकमात्र बेटा पैसा के अभाव में इलाज न कर पाने के कारण अपना प्राण त्याग देता है। खाने के लिए दो वक्त की रोटी नसीब नहीं होती। ठण्डी रात, परन्तु तन ढकने के लिए कपड़ा नहीं। कहाँ तक सुनाउँ! कहा तो यहाँ तक जाता है कि एक सन्तान का दु:ख क्या होता है, इसे हृदयविहीन आदमी क्या जाने। यदि इन प्रश्नों पर गहनतापूर्वक विचार किया जाय, तो शायद प्रो० दयाकृष्ण को इस प्रश्न का उत्तर मिल जायेगा कि मनुष्य दु:ख से क्यों घबराता है। या दु:ख से भागना और सुख की तलाश करना, क्या वास्तव में बचकानी बाते हैं या ''कुछ और''? जिसने दु:ख देखा ही नहीं वह क्या जाने कि दु:ख होता क्या है? एक कहावत है कि ''जाके पैर न फटी बेवायी, सो क्या जाने पीर पराई''।

लाइबनीज को भी यह विश्व ईश्वर की सर्वोत्तम रचना लगती थी, तभी तो बाल्टेयर को कहना पड़ा कि लाइबनीज जैसा सोच रहा है वैसी बात है ही नहीं। यह बात वैसे ही है जैसे यह कहना कि 'हमारे चेहरे पर नाक है, क्योंकि हम चश्मा पहन सकें'। वास्तविकता है कि चश्मा नाक के अनुरूप है, न कि नाक चश्मे के अनुरूप। वास्तव में जगत में दु:ख है लेकिन मनुष्य दु:ख से नहीं घबराता, वह तो वैसे दु:खों से घबराता है, जो अत्यन्त ही असहनीय है या फिर जिनसे निजात पाना असम्भव है। इसलिए यह कहना कि दु:खों से घबराना वीरों का काम नहीं है, इसका अर्थ यह भी नहीं है कि केवल दु:ख ही दु:ख झेलना यही वीरों का काम है।

अतिशय दु:ख की वेदना से आप्लावित होकर भगवान बुद्ध को कहना पड़ा कि दु:खियों ने जो आंसू बहाये हैं, वह समुद्र के जल की अपेक्षा कहीं ज्यादा हैं। इसी कारण उन्होंने दु:खों से त्राण दिलाने के लिए अपने सम्पूर्ण जीवन को उत्सर्ग कर दिया।

यहाँ पर एक महत्वपूर्ण समस्या यह उठती है कि उन्होंने दुःख की ही बात क्यों की, ईश्वर या आत्मा की बात क्यो नहीं की? तत्कालीन सामाजिक व सांस्कृतिक परिस्थितियाँ, इस कदर विकृत हो चुकी थी कि सुरा और सुन्दरी ही महत्वपूर्ण हो चले थे। एक पाश्चात्य दार्शनिक ने तो यहाँ तक लिखा है कि उस समय नारियों के स्तनों का श्रृंगार तीन–तीन दिन तक होता था। सम्पूर्ण समाज इसी प्रकार की कुत्सित और वीभत्स मानसिकता का गुलाम हो चुका था। ऐसे परिवेश में महात्मा बुद्ध का पदार्पण हुआ, इसलिए उन्होंने ईश्वर, आत्मा की बात नहीं की, क्योंकि ऐसे विषाक्त सांस्कृतिक परिवेश में कौन इन बातों को सुनता। अतः उन्होंने केवल दो बातें कहीं ''दुःख'' तथा ''दुःख–निरोध''। जहाँ 'दुःख' संसार है जबकि जबकि 'दुःख–निरोध', निर्वाण या मुक्ति।

लेकिन प्रो० दयाकृष्ण को दुःख की बात 'बचकानी' लगती है या फिर उससे भी कहीं ज्यादा, क्योंकि बच्चे भी तो चौबीस घंटे आईसक्रीम, जो उनके लिए सर्वाधिक प्रिय है, की बात नहीं करते। जबकि मनुष्य तो शाश्वत व चिरन्तन शांति की बात करता है। स्पष्टतः शाश्वत व चिरन्तन शांति आइसक्रीम खाने की तरह बचकानी बाते नहीं हैं। आइसक्रीम तो इच्छा का प्रतीक है जबकि शाश्वत आनन्द व शांति इच्छारहित होने में ही है। आइसक्रीम खाने से मन उबता है, जो स्वाभाविक भी है, क्योंकि जिस चीज की हम इच्छा करते हैं उसके पूर्ण हो जाने पर अनिच्छा स्वाभाविक ही है, उल्लेखनीय है कि जो भी भौतिक वस्तु के पाने के उपर्यन्त उससे मन का ऊबना स्वाभाविक है। लेकिन शाश्वत व चिन्तन आनन्द तो इच्छारहित होने की अवस्था है, अतः इससे मन उबता नहीं। शाश्वत आनन्द तो एक ऐसी अवस्था है जहाँ न तो दुःख है न ही आनंद क्योंकि ये दोनो ही द्वैतपरक होने के कारण, अन्ततः अज्ञानता के ही प्रतीक हैं। यह विशुद्ध चेतना की अवस्था है, जहाँ चेतना ही चेतना है, जबकि आनन्द कहने के लिए क़िसी न किसी दूसरे का होना आवश्यक है, अन्यथा कौन कहेगा कि यह आनन्द की अवस्था है।

लेकिन यह अवस्था जब तक शरीर है, सुलभ नहीं हो सकती। संत कबीर कहते हैं कि ''कब मरिहौं कब पाइहौं पूरण परमानंद'' अर्थात जब तक शरीर है, दुःख रहित होना असम्भव है। हॉ! यह अवश्य ही सम्भव है कि आप दुःख में रहते हुए भी दुःखी न रहे। एक आदमी किसी संत के पास जाकर कहता है कि सुना है, आपके पास आने से दुःख दूर हो जाता है। उस संत ने उत्तर दिया सुना

तो सही है, परन्तु समझा गलत है। जो भी आपको दुःख है वह तो पूर्वजन्मों के संस्कारों का ही प्रतिफल है और संस्कार बिना भोगे कटता नहीं। हाँ यह अवश्य ही सम्भव कि मेरे पास आने से आप दुःख में रहते हुए भी दुखी न रहेंगे, क्योंकि सुख व दुःख विचारों के कारण है। मेरे पास आने से केवल इतना ही होगा कि जो विचार आपको दुःखी किए हुए हैं, अब वे दुखी नहीं करेंगे। लेकिन यह अवस्था तभी हासिल हो सकती है जब आप 'आत्मानं विद्धि' या 'नो आईसेल्फ' की साक्षात् अनुभूति कर लें। एक बार रामकृष्ण परमहंस जी ने भी कहा था कि जब भी दुःख हो, आत्मा की अवस्था में चले जाओ, क्योंकि सुख व दुःख ये दोनों ही शरीर के धर्म हैं, आत्मा तो इन दोनों से ऊपर है। स्पष्टतः 'आत्मानं विद्धि' की बात करना दर्शन नहीं है जैसा कि प्रो० दयाकृष्ण समझ रहे हैं बल्कि उसको जान लेना उसका साक्षात्कार कर लेना दर्शन है क्योंकि तभी वह सुख और दुःख से ऊपर उठ सकेगा।

प्रो० दयाकृष्ण स्वयं भी दबे मन से इस बात को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार "आदमी और जानवर में फर्क ही यह है कि वह न दुःख से घबराता है न सिर्फ सुख को ही चाहता है।" वह "कुछ और" चाहता है और यह "और" क्या है, इसी का जवाब ढूंढ़ने की कोशिश दर्शन करता है, या कम से कम उसे करनी चाहिए" (पृष्ठ ८५)। परन्तु अफसोस! प्रो० दयाकृष्ण इस प्रश्न का उत्तर खोजने का प्रयास नहीं करते कि वह अवस्था कौन सी होगी, जिसमें मनुष्य न तो सुख की तलाश करता और न ही दुःख से घबराता है। यह "और कुछ", कुछ और नहीं बल्कि 'समत्व की अवस्था' है, जिसे गीता 'स्थितप्रज्ञ' के नाम से पुकारती है। इस अवस्था में मनुष्य सुख–दुःख, हानि–लाभ और जय–पराजय, इन द्वन्दों में भी निर्द्वन्द्व बना रहता है (सुख–दुःख समेकृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ –गीता २/३८)। वह न तो सुख से अतिप्रसन्न होता है और न ही दुःख से अति उद्विग्न। इसी प्रकार वह हानि–लाभ, जय–पराजय में भी समत्व बनाये रहता है। इसी को अन्य दर्शनों में जीवन मुक्ति कहा गया है, जो ज्ञानोपरांत आती है। जब तक जीव अज्ञानयुक्त है, चाहे जितना कह ले, इन द्वंद्वों से ऊपर नहीं उठ सकता। यह तो तभी सम्भव है, जब वह जीव या आत्मा को जान ले। परन्तु प्रो० दयाकृष्ण को 'आत्मानं विद्धि' या 'नो दाईसेल्फ' से अतिशय परहेज है।

प्रो० दयाकृष्ण कहते हैं कि आज संसार में जो कुछ भी विकास

दृष्टिगोचर हो रहा है उसके पीछे दु:ख का एक लम्बा इतिहास रहा है। कम से कम यह उन लोगों की देन नहीं हो सकती जो 'आत्मानं विद्धि' या 'नो दाईसेल्फ' का नारा देते हैं। वे संसार की बात नहीं करते क्योंकि इन्द्रिय ज्ञान और शरीर से जो कुछ भी मिलता है, वे उसे निरर्थक कहते हैं। दूसरे शब्दों में, दर्शन 'बातों की बात' तो करता है, परन्तु 'काम की बात' नहीं। 'शरीर पर रंग–बिरंगे कपड़े और दीवालों पर तस्वीरें दोनों में एक समानता है और दोनों के पीछे छिपी हैं परेशानियाँ और एक लम्बा इतिहास, जो सहज रूप में नजर नहीं आता, पर वह कम से कम उस आदमी की 'देन' नहीं हो सकता जो सिर्फ सुख की तलाश करता है'' (पृष्ठ ८६)।

यह अक्षरश: सत्य है कि आज संसार में जो कुछ भी हो रहा है, वह उनकी ही देन है, जिन्होंने अपने शारीरिक सुख को, विकास की वेदी पर न्योछावर कर दिया है। लेकिन, यह कहते हुए प्रो० दयाकृष्ण सम्भवत: यह भूल जाते हैं कि मानवीय व्यक्तित्व के दो पक्ष हैं – शरीर (जड़) और आत्मा (चेतन)। यहाँ विकास का अर्थ केवल बौद्धिक विकास (शरीर) से नहीं है बल्कि आत्मिक विकास भी उसका एक अभिन्न पक्ष है, जिसका किसी भी परिस्थिति में परित्याग करना उचित नहीं है। जबकि प्रो० दयाकृष्ण विकास का अर्थ केवल भौतिक विकास से ले रहे हैं। स्पष्टत: जब तक आध्यात्मिक विकास नहीं होगा, तब तक भौतिक विकास, विकास का नहीं बल्कि विनाश का मार्ग प्रशस्त करेगा। वर्तमान विश्व का विषाक्त वातावरण, इसका साक्षात् उदाहरण है। अत: यह कहना कि जड़ता के विकास में निहित दु:ख ही दु:ख है, परन्तु जो आत्मिक उन्नति में लगा हुआ है, वह दु:ख नहीं उठाता, असत्य है। इतिहास इस बात का गवाह है कि आत्मिक उन्नति में लगे व्यक्ति अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अत्याधिक कष्ट उठाते आए हैं। लेकिन यह उन्हें दृष्टिगोचर नहीं होता क्योंकि यह इन्द्रिय गम्य नहीं है।

प्रो० दयाकृष्ण लिखते हैं कि ''वैसे साधना की बात बहुत की गयी है, पर इसके लिए साधना केवल एक ही प्रकार की होती है, केवल वह जिसका लक्ष्य मोक्ष है या निर्वाण है या कैवल्य है, यानि ऐसा लक्ष्य जिसमें न संसार है, न उसकी सांसारिकता, न कोई अन्य है, न उसके प्रति उत्तरदायित्व है, न धर्म है और न ही कोई पुरुषार्थ'' (पृष्ठ ८७–८८)। यद्यपि यह सत्य है कि साधना का लक्ष्य मोक्ष, निर्वाण या कैवल्य है, पर इसका अर्थ जीवन, जगत, कर्म, उत्तरदायित्व व पुरुषार्थ की उपेक्षा करना नहीं है। भारतीय परम्परा के प्रत्येक दार्शनिक जीवन व जगत को

किसी न किसी स्तर पर वास्तविक मानते हैं और मोक्ष (जीवन मुक्ति) के उपर्यन्त भी अपने उत्तरदायित्व से विमुख नहीं होते, बल्कि अपने उत्तरदायित्व को सही अर्थों में ग्रहण कर, अपने समग्र जीवन को प्राणिमात्र की सेवा में समर्पित कर देते हैं।

वास्तव में कर्म दो प्रकार के होते हैं – शारीरिक कर्म व मानसिक कर्म। एक व्यक्ति प्रत्यक्षत: शारीरिक कर्म तो नहीं कर रहा है परन्तु अपने ज्ञान के आलोक से सम्पूर्ण मानवता को आलोकित और अभिसिंचित कर, कर्म करने के लिए उत्प्रेरित कर रहा है। क्या हम उसके लिए यह कह सकते हैं कि वह कर्म नहीं कर रहा है? भारतीय धरा के प्रत्येक संत व फकीर, ज्ञानोपरांत भी विभिन्न स्थानों पर भ्रमण कर, मनुष्यों को सद्‌मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करते रहे हैं। स्पष्टत: मोक्ष, जीवन, जगत, उत्तरदायित्व, कर्म प्रभृति का निषेध नहीं करता। इसका साक्षात् उदाहरण गीता में मिलता है, जब भगवान कृष्ण, अर्जुन को 'कर्म का नहीं, बल्कि कर्म में त्याग' की शिक्षा देते हुए, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति मार्ग का समन्वय करते हैं। प्रवृत्ति मार्ग तो कर्म का मार्ग है परन्तु निवृत्ति मार्ग त्याग का मार्ग है। गीता के अनुसार कर्म तो करना ही पड़ेगा, साथ ही साथ त्याग भी आवश्यक है, परन्तु त्याग कर्म का नहीं और न ही उत्तरदायित्व का, बल्कि फलाकांक्षा का। यही कर्म में अकर्म की स्थिति है, जहाँ साधक कर्म करते हुए भी अकर्ता बना रहता है।

पुनश्च, भगवान कृष्ण कहते हैं कि अर्जुन, जब तक शरीर है, कर्म और उत्तरदायित्व से मुक्ति असम्भव है क्योंकि :–

- जब तक शरीर है, इसको जीवित रखने के लिए कुछ न कुछ तो कर्म करना ही पड़ेगा।
- इन्द्रियों का स्वभाव ही विषयोन्मुख होना होता है।
- यदि सभी व्यक्ति कर्म का परित्याग कर दे तो अंतत: लोक का उच्छेद हो जायेगा।
- इन सबके बावजूद लोक संग्रह के लिए भी हो तो कर्म करना ही पड़ेगा। स्वयं भगवान कृष्ण कहते हैं कि हे! अर्जुन मैं आप्तकाम हूँ और आप्तकाम होने के कारण मेरी कोई इच्छा नहीं है (आप्तकामस्य का स्पृहा) और नहीं मेरा कोई कार्य ही शेष है (तस्य कार्य न विद्यते –गीता ३/१७)। फिर भी मैं लोगो के कल्याण के लिए कर्म करता हूँ (वर्त एव

च कर्मणि —गीता ३/२२)।

जब स्वयं भगवान को कर्म करना अनिवार्य है, तो मुक्त आत्मा अपने कर्म से, अपने उत्तरदायित्व से कैसे मुक्त हो सकता है? स्पष्टत: मोक्ष परम पुरुषार्थ होते हुए भी, इसका अर्थ न तो संसार—त्याग है, नहीं उत्तरदायित्व से भागना और न ही नैतिक मूल्यों का अतिक्रमण करना है। यद्यपि इस अवस्था में साधक के लिए अच्छा बुरा, आदि का भेद नहीं रह जाता, परन्तु फिर भी वह इन भेदों को भुला नहीं देता। अर्थात् आत्मज्ञान, नैतिकता और उत्तरदायित्व का नहीं, बल्कि नैतिकता पूर्ण व्यक्तित्व की चरम सीमा है। इस दृष्टि से लोकमान्य तिलक, अपनी पुस्तक ''गीता रहस्य'' में ठीक ही लिखते हैं कि ''कुबेर से टक्कर लेने वाला करोड़पति साहूकार यदि बाजार में तरकारी लेने जाए, तो जिस प्रकार वह हरी धनिया की गड्डी की कीमत लाख रूपये नहीं दे देता, उसी प्रकार पूर्ण साम्यावस्था में पहुँचा हुआ पुरुष किसी भी कार्य का उचित तारतम्य भूल नहीं जाता। उसकी बुद्धि सम तो रहती है, पर समता का यह अर्थ नहीं है कि वह गाय का चारा मनुष्य को और मनुष्य का भोजन गाय को खिला दे।'' (गीता रहस्य पृ० ३९६)।

यही नहीं, बोधिसत्व का आदर्श तो यही है कि जब तक प्रत्येक प्राणी दु:खों से मुक्त नहीं हो जाता, तब तक मैं स्वयं निर्वाण नहीं ग्रहण करूँगा। इसीलिए बौद्धों ने निर्वाण और परिनिर्वाण से पृथक ''अप्रतिष्ठित निर्वाण'' को अंगीकार किया। जिसका अर्थ है कि यद्यपि भगवान बुद्ध मुक्त हो चुके हैं, तथापि अपने आप को शून्यता में विलीन करने की अपेक्षा, संसार और परमार्थ के मध्य में स्थापित किए हुए हैं, जिससे मुमुक्षु का हाथ पकड़कर परिनिर्वाण में स्थापित कर सकें।

स्पष्टत: मोक्ष का अर्थ 'ज्ञान' है। जब मनुष्य को ज्ञान हो जाता, तभी वह अपने उत्तरदायित्व को यथार्थ में समझ पाता, बिना ज्ञान के सब कुछ व्यर्थ है। इसी प्रकार यथार्थ को समझने के लिए भी ज्ञान का होना आवश्यक है। एक शब्द में सुव्यवस्थित जीवन जीने के लिए ज्ञान की महती आवश्यकता है। स्वयं प्रो० दयाकृष्ण लिखते हैं कि ''मनुष्य की चेतना में कर्म ज्ञान पर आश्रित है तथा ज्ञान कर्म पर......... ।'' (पृष्ठ ९०)। यह अक्षरश: सत्य है। परन्तु यह कहना कि इन दोनों की चर्चा दर्शन में कम ही हुई है, ठीक नहीं है। प्रो० दयाकृष्ण के मत में

''ऐसे आदर्श उसी संस्कृति में जन्म ले सकते हैं, जो संस्कृति अपने से ही विमुख हो चुकी है'' (पृष्ठ ८८)। यह न केवल संस्कृति का अपमान है बल्कि अपने कर्तव्य, उत्तरदायित्व, धर्म और पुरुषार्थ के प्रति एक प्रकार की उपेक्षा भी है।

प्रो० दयाकृष्ण लिखते हैं कि 'बुद्धि–अक्ल कुछ पकड़ने की कोशिश करती है, लेकिन जिस वस्तु को पकड़ना चाहती है वह हमेशा पकड़ से बाहर ही रहती है'' (पृष्ठ ९१)। दूसरी ओर वे यह भी लिखते हैं कि ''कर्म का लक्ष्य क्या है, यह किसी को पता नहीं होता, क्योंकि जीवन के लक्ष्य का ही जब पता नहीं है तो कर्म के लक्ष्य का पता कैसे होगा? बहुत हद तक मनुष्य भी उसी तरह परिचालित होता है जैसे पशु–पक्षी या कोई और प्राणी'' (पृष्ठ ९०)। वास्तव में बुद्धि जिसे पकड़ना चाहती है, वही जीवन का लक्ष्य है। यदि जीवन का लक्ष्य ज्ञात है तो तदनुरूप कर्म का लक्ष्य भी निर्धारित हो जाना चाहिए। जीवन का लक्ष्य क्या है? यह प्रत्येक मनुष्य जानता है। हालॉकि उन लक्ष्यों को प्राप्त करने में अनेकानेक बाधाएँ आती हैं, परन्तु इससे वह जीवन् के लक्ष्य का ही परित्याग कर देगा, यह कहना तो अनुचित होगा। यह सच है कि बाधाओं के कारण जीवन का लक्ष्य दूरस्थ हो जाता है क्योंकि वह इन बाधाओं के उन्मूलन को ही अपना लक्ष्य बना लेता है। सोचता है, यदि इन बाधाओं का उन्मूलन हो जाय तो लक्ष्य को पाना आसान हो जायेगा। परन्तु अफसोसा! बाधाएँ ऐसी मकड़जाल हैं, जो कि सरलता से पार नहीं होतीं। यदि लक्ष्य को केन्द्र और बाधाओं को परिधि मान लिया जाय तो, ऐसी स्थिति में बाधाओं में फॅसकर व्यक्ति परिधि को तो बढ़ाता है, लेकिन जितना ही अपनी परिधि को बढ़ाता जाता है, केन्द्र से दूर होता जाता है। अंततः अपने आप को आत्म–प्रवंचना की स्थिति में पाता है। उसके लिए दुनिया एक प्रकार की निरर्थक दुनिया तथा सभी प्रकार के मनोभाव एक निरर्थक मनोभाव प्रतीत होने लगते हैं। परिणामतः वह आनेकानेक मनोरोगों का शिकार हो जाता है। जो लक्ष्य था, उसे बाधाओं ने काल–कवलित कर लिया। अन्यमनसकता की इस विषम दशा में वह बाधाओं के उन्मूलन को ही अपना लक्ष्य बना लेता है। इन परिस्थितियों से प्रभावित होकर यह कहना कि जीवन के लक्ष्य का ही पता नहीं, अपने उत्तरदायित्व से भागने का एक असफल प्रयास मात्र है।

प्रो० दयाकृष्ण यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि व्यक्ति का जीवन जिन गलत फहमियों का शिकार हुआ है, उनमें दर्शन का महत्वपूर्ण योगदान है।

''आखिर सुख–दुःख की बात, आत्यांतिक दुःख निवृत्ति की बात, मोक्ष–निर्वाण की बात, परा–अपरा की बात कोई सीधा–सादा आदमी, जो जिन्दगी जीता है, काम करता है, परिवार चलाता है, वह तो नहीं करता। ऐसा लगता है कि दर्शन की दुकान और उसका व्यापार दार्शनिकों ने खुद चलाया है। .... इससे अभी तक उनको ही संतोष हुआ होगा, साधारण आदमी को तो कुछ मिला प्रतीत नहीं होता'' (पृष्ठ ९)। यह कहना कि धर्म की बातों से केवल दार्शनिकों को ही कुछ मिला है। सामान्य मनुष्य को नहीं, असत्य है। वास्तविकता यह है कि इससे जो कुछ भी मिला है वह उन सभी को मिला है जो ग्रहणशील थे। दार्शनिक तो केवल बौद्धिक विश्लेषण कर, समाज के लिए सद्मार्ग प्रशस्त करता है, जिसका लाभ सभी उठाते हैं। सामान्य मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन, आध्यात्मिकता से ओत–प्रोत रहता है। इस दृष्टि से आगस्त काम्टे ने ठीक ही कहा है कि जब मानवीय बुद्धि विकास की पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है, तो धर्म पीछे छूट जाता है क्योंकि यह तो अविकसित बुद्धि की मॉग है। धर्म वह धरोहर है जो विक्लांत और विकल हृदय को विश्रांति व तोष प्रदान करता है क्योंकि इसके अन्तर्गत यह भावना दृढ़ रहती है कि मेरे पीछे किसी शक्ति का हाथ है, जो मुझे सतत् देख रही है, व मदद कर रही है। इसी शक्ति के सहारे मनुष्य असम्भव को भी सम्भव कर डालता है। यह सत्य है कि धर्म के नाम पर जितनी कटुता व वैमनस्य लोगों के बीच फैला है, उतना किसी अन्य के नाम पर नहीं। तथापि धर्म ही वह धरोहर है जो लोगों को एक दूसरे से जोड़ कर, समाज में एकता एवं सामंजस्य को अक्षुण्य बनाये हुए है। मनुष्य जानता है कि यदि वह कोई गलत कार्य करेगा तो ईश्वर उसे अवश्य ही दण्डित करेगा। यदि धर्म का साया उठ जाय तो समाज, पराभव के गर्त में समाहित हो जायेगा।

भारत में गरीबी व भुखमरी के बावजूद भी रूस व अन्य देशों की तरह क्रान्ति नहीं हुई, क्योंकि यहाँ की भूमि अध्यात्म से ओत–प्रोत है। यहाँ गरीबी व भुखमरी को मनुष्य द्वारा किये गये कर्मों के प्रतिफल के रूप में स्वीकार किया गया है। यही नहीं, यहाँ किसी आततायी के अत्याचार को भी यह मानकर सहन कर लिया जाता है कि एक न एक दिन ईश्वर उसे अवश्य ही दण्ड देगा। इसलिए यह कहना कि एक साधारण मनुष्य को मोक्ष, निर्वाण, परा–अपरा, आत्यांतिक दुःख निवृत्ति से क्या मिला, निरर्थक ही है।

हाँ यह अवश्य ही सत्य है कि तथाकथित बौद्धिक लोगों को, इससे अवश्य ही कुछ कम मिला है क्योंकि वे प्रत्येक बात का बौद्धिक विश्लेषण करना चाहते हैं। परन्तु अफसोस! जिसका बौद्धिक विश्लेषण नहीं हो सकता, जिसे मन व बुद्धि से नहीं जाना जा सकता, उसे बौद्धिक बनाने का प्रयास कहां तक उपयुक्त है। हालाँकि जो अपनी बौद्धिकता की सीमा को पहचान लेता है, वह उसके विषय में सर्वथा मौन हो जाता है। जैसा कि विट्गेंस्टाइन, ट्रैक्ट्रेटस में लिखता है कि "जहाँ हम कुछ नहीं बोल सकते, वहाँ हमें मौन रहना चाहिए।" क्योंकि "हमारी भाषा की सीमा हमारे जगत की सीमा है (ट्रैक्टेटस—५.६)।" एफ०पी० रैम्जे तो यहाँ तक कह डालता है कि जहाँ हम नहीं बोल सकते, वहाँ हमें सीटी भी नहीं बजानी चाहिए।

आज के दार्शनिक बिना यह समझे हुए कि 'वे किसे जान सकते हैं, किसे नहीं जान सकते, यह दावा कर देते हैं कि जो कुछ भी प्राप्त होना चाहिए, वैज्ञानिक पद्धति से, लेकिन जो प्रचलित विज्ञान की खोज के परे है, मनुष्य उसे नहीं जान सकता क्योंकि 'आत्मानं विद्धि' या 'नो दाईसेफल' का बौद्धिक विश्लेषण नहीं हो सकता, इसका तथाकथित वैज्ञानिक पद्धति के माध्यम से ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए यह सब उनके लिए बकवास ही तो है। परिणामतः उन्हें दर्शन की पुस्तकों में 'बातों की बात' अधिक, 'काम की बात' कम दिखायी देती है। जो ठीक ही तो है क्योंकि दर्शन की पुस्तकों में तो आत्म—ज्ञान की बात की गई, यह उनके काम की बात कहाँ है? यहाँ भी प्रो० दयाकृष्ण, अमरकोश के उस कथन को भूल जाते हैं, जहाँ कहा गया है "मोक्षेधीर्ज्ञानम् अन्यत्र विज्ञानम्" अर्थात् मोक्ष में प्रवृत्त बुद्धि को ज्ञान कहते हैं, अन्यत्र प्रवृत्त बुद्धि सांसारिक विज्ञान है।

आत्म—केन्द्रित चिन्तन की मूल भ्रांतियों में प्रो० दयाकृष्ण 'स्वचिन्तन' को अपना विषय बनाते हैं। आज मनुष्य 'आत्म—केन्द्रित' होता जा रहा है, फलस्वरूप वह 'पर—चिन्तन' से उतना ही दूर होता जा रहा है। यह उस वैदिक निर्देश का उल्लंघन है जहाँ साथ—साथ रहने, खाने, पढ़ने और प्रार्थना करने की बात की गयी है। "ॐ सह—नाववतु सहनौ—भुनक्तु सह—वीर्यं करवावहै, तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।"

पर—चिन्तन किस प्रकार उपनिषद में आत्म—केन्द्रित हो गया, इसके बारे में प्रो० दयाकृष्ण लिखते हैं कि 'मनुष्य आत्म—चेतन प्राणी है और इसलिए

उसका चिन्तन सहज रूप में आत्म केन्द्रित होता है' (पृष्ठ ९३)। साथ ही वे यह भी कहते हैं कि 'उसे अपने को जानने के लिए विश्व को जानना पड़ता है, देश और काल को और उन सब मनुष्यों और प्राणियों को जिनसे उसका गहरा सम्बन्ध है'' (पृष्ठ ९३)।

यहाँ मूलभूत समस्या यह नहीं है कि किस प्रकार 'पर—चिन्तन', 'स्व—चिन्तन' में परिवर्तित हो गया, बल्कि यह है कि आखिर किस प्रकार स्व—चिन्तन, पर—चिन्तन का रूप धारण कर पायेगा? वास्तव में, जब तक जीव, ज्ञान रहित है, उसमें आसक्ति की भावना रहेगी, फलत: उसके सारे कार्य स्वार्थजनित प्रवृत्तियों से संचालित होते रहेगें, वह 'स्व' और 'पर' का भेद करेगा, अर्थात् स्त्री—पुरुष का, उच्च—नीच का, जाति—बिरादरी का। उसके सभी प्रकार के कार्य भेद—जनित प्रवृत्तियों से परिचालित होते रहेगें। लेकिन ऐसा होना अस्वाभाविक नहीं क्योंकि अभी तक उसने 'स्व' को जाना ही नहीं है। स्पष्टत: 'स्व' के दो अर्थ हैं 'स्वार्थ—चिन्तन' और 'आत्म—चिन्तन'। एक तो 'स्व' का अर्थ 'मैं' अर्थात् स्वयं मैं और मेरा परिवार है। लेकिन जो अपने आप को, ''अपने और अपने परिवार'' तक सीमित किए हुए हैं, वह वास्तव में 'स्व' चिन्तन नहीं, बल्कि 'स्वार्थ—चिन्तन' करता है, जो तुच्छ है, हेय है और त्याज्य है। 'स्व' का दूसरा अर्थ 'मैं' अर्थात— 'आत्मा' से है। जिसका अर्थ 'आत्मा को जानने' या 'अपने स्वरूप को जानने से' है। ज्योंही मनुष्य अपने आपको जान लेता है, वह सभी प्रकार के भेदों से ऊपर उठ जाता है। अभेद की इस अवस्था में उसका 'आत्म—चिन्तन' अर्थात् 'स्व—चिन्तन', 'पर—चिन्तन' का स्वरूप धारण कर लेता है। इस अवस्था में जीव एक में सब तथा सबमें एक को देखता है। अर्थात् सबमें एक ही तत्व की अनुभूति करता है। फलत: वह एक तरफ जहाँ यह कहता है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' या 'अयमात्मा ब्रह्म' तो दूसरी तरफ वह यह भी उद्घोष करता कि 'सर्व खल्विदं ब्रह्म', या 'यतो व इमानि भूतानि जायन्ते।' इसी को कबीर कहते हैं कि ''लाली मेरे लाल की जित देखूं तित लाल। लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गयी लाल।।' नामदेव को तो कुत्ते में भी भगवान दिखाई देते हैं क्योंकि अब वह जो अपने में देखता, वही दूसरे में भी, इसलिए दूसरों के प्रति स्वभावत: उसके मन में प्रेम उमड़ता है। अब वह जितना अपने और अपने परिवार से प्रेम करता है, उतना ही दूसरों से भी। जब प्रो० दयाकृष्ण यह कहते हैं कि अपने को जानने के लिए विश्व को जानना पड़ता है, तो यह बात

कुछ समझ में नहीं आती। वास्तविकता शायद यह है कि उसे विश्व को जानने के लिए अपने आपको जानना पड़ता है क्योंकि जो अपने आप (आत्मा) को नहीं जान सका, भला वह दूसरे को क्या जान सकेगा?

यह भी कैसी विडम्बना है कि प्रो० दयाकृष्ण एक तरफ तो साथ–साथ रहने, खाने, पढ़ने की बात करते, दूसरी तरफ भेद दृष्टि 'अधिकार–भेद' उजागर करते हैं, न केवल शरीर के स्तर पर बल्कि चेतना के स्तर पर भी। लेकिन मूलभूत प्रश्न यह है कि जब वह हमारी भेद–दृष्टि रहेगी, क्या हम 'पर' को 'स्व' समझ पायेगें? क्या दूसरों के साथ बैठ सकेगें, खा सकेगें, पढ़ सकेगें या दूसरों के साथ रह सकेगें? जब भी हम कोई सैद्धान्तिक पक्ष रखते हैं तो हमें, उसके व्यावहारिक पक्ष पर भी विचार कर लेना चाहिए। प्रो० दयाकृष्ण यह भूल जाते हैं कि इस अवस्था में तब तक हम नहीं जा सकते, जब तक हम सबमें एक की अनुभूति न कर ले।

एक अन्य समस्या विषय और विषयी को लेकर है। उनके अनुसार आत्म – केन्द्रित चिन्तन में व्यक्ति दूसरे को तो विषय समझता है परन्तु अपने आपको सदैव विषयी या ज्ञाता समझता है। जो ज्ञाता है वह कभी ज्ञेय नहीं हो सकता। इसलिए जहाँ एक ओर वे दूसरे को विषय मानकर उसे जानने का प्रयास छोड़ देते हैं वहीं दूसरी तरफ वे अपने आप को ज्ञाता मानकर जानने का विचार छोड़ देते हैं ''क्योंकि मैं जो विषय हूँ ही नहीं उसे कभी भी कैसे जाना जा सकता है'' (पृष्ठ ८७)। इसलिए न तो वह अपने आपको जान पाता है, न ही दूसरे को। प्रो० दयाकृष्ण लिखते हैं कि 'आत्म या चेतना–केन्द्रित विचार यह कभी सोच ही नहीं पाता कि दूसरे भी 'आत्म' हैं, वे भी चेतन हैं और उनमें से कुछ 'आत्म चेतन' हैं। वह तो यह स्वत: सिद्ध मानकर चलता है कि जो विषयी है, उसको कभी भी विषय–रूप में नहीं देखा जा सकता। पर उसे अन्य लोगों को 'विषय रूप' देखने में कोई कठिनाई प्रतीत नहीं होती'' (पृष्ठ ८७)। स्पष्टत: प्रो० दयाकृष्ण यहाँ यह दिखाना चाहते कि आत्म–केन्द्रित चिन्तन में केवल अपने को विषयी और अन्य को विषय माना जाता है। इसमें केवल विषयी ही सत् है, जो मैं हू तो फिर दूसरे को जानने का प्रयास व्यर्थ है क्योंकि वे तो विषय होने के कारण असत् हैं और असत् कभी सत् तो नहीं हो सकता, फिर ऐसे असत् को जानने से क्या लाभ।

अन्यत्र प्रो० दयाकृष्ण 'बेचारे अद्वैतवादियों' की मजबूरी बताते हैं। वे

सबको विषयी रूप मानते हैं, लेकिन ज्ञान के लिए तो विषय होना आवश्यक है। ज्ञान तो विषय और विषयी दोनों के सम्पर्क से आविर्भूत होता है। लेकिन यदि विषय नहीं हो तो ज्ञान किसका होगा? उन्हीं के शब्दों में ''बेचारे अद्वैतवादियों को लगता है इसी डर ने सताया था कि चेतना में किसी को 'विषय' रूप में जानने की सम्भावना को भी स्वीकार कर लिया जाय, तो वह बेचारी सदैव ही विषयग्रस्त हो जायेगी, उससे कभी भी उसे छुट्टी नहीं मिलेगी'' (पृष्ठ ९६)।

यहाँ पर प्रो० दयाकृष्ण अपने आपको एक उलझन में पाते हैं। एक ओर तो वे यह मानते हैं कि आत्म केन्द्रित चिन्तन केवल अपने को विषयी और अन्य को विषय मानकर चलता है, दूसरी तरफ वे यह भी कहते हैं कि अद्वैत वेदान्ती अपने और दूसरे, सबको विषयी मानकर चलते हैं। ये दोनों विचार परस्पर विरोधी हैं। यह सत्य है कि आत्म केन्द्रित चिन्तन अपने को विषयी या ज्ञाता मानता है। लेकिन वह कभी भी अपने आपको विषयी मानकर छोड़ नहीं देता बल्कि उसे सतत् जानने का प्रयास भी करता है। यह एक भ्रान्त धारणा है कि जिसको जाना जाता है वह विषय अर्थात् जड़ ही होना चाहिए, वह चेतन भी हो सकता है, हालाँकि जानने वाला सदैव चेतन ही होता है, जड़ नहीं। प्रश्न उठता है कि किससे, किसको जाना जाता है? यहाँ एक जानने वाला चेतन है जो अज्ञानयुक्त है, लेकिन जिसको जाना जाता है वह भी चेतन तो है, लेकिन अज्ञानमुक्त। यहाँ अज्ञानयुक्त चेतना, जीव कहलाती है, जबकि अज्ञानमुक्त चेतना, विशुद्ध आत्मा या परमात्मा। यहाँ जीव, विशुद्ध आत्मा या परमात्मा को जानना चाहती हैं और दोनों ही चेतन है, तथापि एक अज्ञानयुक्त होने के कारण सीमित है, जबकि दूसरा अज्ञानमुक्त होने के कारण असीमित, व्यापक, विभु है। दोनों एक ही हैं परन्तु दोनों में अन्तर ज्ञान और अज्ञान का है क्योंकि अज्ञान को हटाते ही जीव ब्रह्म या परम सत्ता या निरपेक्ष हो जाता है। ऐसी स्थिति में विषय और विषयी दोनों प्रकार के भेद समाप्त हो जाते हैं।

परमात्मा + अज्ञान = जीव

परमात्मा = जीव–अज्ञान

जब अज्ञान हटाते हैं

परमात्मा = जीव

यहाँ जीव और ब्रह्म का भेद समाप्त हो जाता है (जीवो ब्रह्मैव नापरः)।

जब जीव का जीवत्व समाप्त हो जाता तो वह ब्रह्म के स्वरूप में स्थापित हो जाता है (ब्रह्म वेद बह्मैव भवति)। जो न तो विषय है और न ही विषयी बल्कि विशुद्ध दृष्टा।

दूसरी बात यह भी है कि वह न केवल अपने आप को जानता है बल्कि विषय या जड़ को भी क्योंकि वह जगत या व्यवहार को किसी न किसी स्तर पर सत् मानता है। यही नहीं इसका कार्य ही सृष्टि के आदि तत्व (Original stuff) को पहचानना है। इसी आदि तत्व की खोज करते–करते वह एक ऐसे तत्व तक पहुँचता है जो न तो भौतिक है न ही मानसिक। वह भौतिकता और मानसिकता दोनों से ऊपर है, इसी तत्व को ब्रह्म या ईश्वर या परम तत्व या निरपेक्ष (Absolute) की संज्ञा दी जाती है। आज विज्ञान भी इसी प्रकार की शक्ति या उर्जा की बात कर रहा है, जो सृष्टि के मूल में है। प्रारम्भ में विज्ञान अणु को सरलतम तत्व के रूप में स्वीकार करते हुए सृष्टि का मूल मानता था, तत्पश्चात् परमाणु को। कालांतर में वह परमाणु को भी इलेक्ट्रान, प्रोटान और न्यूट्रान, में विभाजित करने लगा। पुनश्च, इलेक्ट्रान, प्रोटान, न्यूट्रान भी न्यूट्रीनों, पाजिट्रानों आदि के रूप में विभक्त हो गया। लेकिन अब विज्ञान, इसका भी मूल रूप ऊर्जा या शक्ति (Energy) के रूप में लेने लगा, जो न तो मानसिक है न ही भौतिक। सम्भव है, निकट भविष्य में विज्ञान भी दर्शन की तरह यह दावा कर दे कि सृष्टि का मूल तत्व या आदि तत्व (Original stuff) वह शक्ति है, जो न तो मानसिक है, न ही भौतिक। लेकिन जब दर्शन उस मूल तत्व को खोजने का प्रयास करता है, तो प्रो० दयाकृष्ण को वह 'काम की बात' नहीं लगती। उनके विचार में काम की चीज तो भौतिक वस्तुएँ ही हैं। प्रो० दयाकृष्ण यहाँ भी यह भूल कर जाते हैं कि जो भौतिक वस्तुएँ हैं, आखिर वे भी उसी तत्व से हैं। अब यदि हमने उस मूल तत्व (ऊर्जा) को जान लिया, तो क्या भौतिक वस्तुओं को नहीं जान लिया। क्या हम उसका स्थूल विश्लेषण करेगें तभी उसे सही अर्थों में जानना माना जायेगा, क्या सूक्ष्म विश्लेषण व्यर्थ है। इसलिए यह कहना कि अध्यात्म दृष्टि ''कर्म के द्वारा जिस संसार की रचना होती है उस संसार की ओर कुछ देख ही नहीं पाती, उसको समझने की बात तो और है।'' (पृष्ठ ७१)। कहॉ तक उपयुक्त है? स्पष्टत: अद्वैत वेदान्ती जगत या व्यवहार को मिथ्या मानकर नहीं चलते, बल्कि उसे व्यावहारिक स्तर पर पूर्णत: सत् मानते हैं। अर्थात् जब तक कोई

व्यावहारिक स्तर पर है, वह उसके लिए जगत् मिथ्या नहीं है। इसलिए इस स्तर पर, वह जगत् को विषय रूप में सत् मानकर, उसको जानने का प्रयास भी करता है।

यहाँ तक एक अन्य समस्या अज्ञान या 'मूल अविद्या' की है। जो 'मूल' है उसका अन्त नहीं हो सकता क्योंकि यदि उसका अन्त हो जाय तो वह 'मूल' नहीं हो सकता। 'अगर वास्तव में कोई 'मूल अविद्या' है तो न उसका निदान हो सकता है, न उपचार और अगर उपचार या निदान हो सकता है तो न वह असाध्य है न उसको मनुष्य के मूल में ही माना जा सकता है'' (पृष्ठ ९१–९२)। 'अविद्या इस अर्थ में मूल है क्योंकि सृष्टि के प्रारम्भ में दो तत्व थे, प्रकाश व अन्धकार और अन्त में भी ये दोनों ही तत्व रहेगें। अविद्या, अनादि है, अनन्त भी है, वास्तव में अविद्या का अन्त असम्भव है। हाँ! यह अलग बात है कि जहां प्रकाश रहता है, वहां से अज्ञान गायब हो जाता। अज्ञान या अंधकार का नाश नहीं होता। क्योंकि उनका स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं है ज्ञान ही अज्ञान तथा प्रकाश का अभाव ही अंधकार है। तुलसीदास ने कहा है कि ''ज्ञान कहै अज्ञान बिनु, तम बिनु कहै प्रकास।

यदि उपरोक्त सभी पक्षों पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया जाय तो 'आत्म ज्ञान की मूल प्रवृत्तियों' को समझा जा सकता है। इसके ऊपर सम्पूर्ण भारतीय दर्शन में व्यापक विवेचन किया गया है। अत: उन्हीं बातों को यहाँ पुन: रखना पुनरूक्ति मात्र होगी, फिर भी एक प्रश्न तो अवश्य ही विचारणीय है कि 'आखिर आत्म ज्ञान क्यों?' यदि आत्म ज्ञान नहीं हो तो क्या होगा? कोई माने या न माने, एक बात तो अवश्य ही सत्य है कि हमारे दो पक्ष हैं शरीर और आत्मा। हम शरीर को स्वच्छ रखने के लिए अनेकानेक उद्योग करते हैं। यदि ऐसा न करें तो वह विविध रोगों से आक्रान्त हो जाय। हमारे व्यक्तित्व का अभिन्न अंग आत्मा है। मनुष्य को इसकी अनुभूति हेतु निरन्तंर प्रयत्नशील रहना चाहिए। यदि इसका प्रयास किया जाय तो 'आत्मानं विद्धि' या 'नो दाईसेल्फ' का रहस्य समझ में आ जायेगा।

आत्म ज्ञान से व्यक्ति संसार से विमुख हो जाता है और अपने आप में ही केन्द्रित, यह विचार भी अनुपयुक्त है। आत्म ज्ञान न तो अपने आप तक सीमित रहने की बात करता है और न ही व्यवहार में संसार से विमुख होने की। यदि वास्तव में किसी ने आत्मा को जाना है तो अवश्य ही अन्य लोगों की अपेक्षा

अत्यधिक कार्यशील होगा। यदि ऐसा नहीं दिखता तो यह निश्चित जान लीजिए कि उसने अभी तक अपने मूल स्वरूप को जाना ही नहीं, भले ही वह कितनी ही बड़ी–बड़ी बातें क्यों न करें, क्योंकि व्यवहार ही परमार्थ की कसौटी है। जो व्यावहारिक दृष्टि से जितना ही ऊँचा होगा उसकी पारमार्थिक अवस्था उतनी ही ऊँची होगी। जिसने भी आत्मा को जाना उसमें अवश्य ही कुछ विशिष्ट प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होतीं हैं।

- पहली यह कि उसके पास पहुँचते ही अपार शान्ति की अनुभूति होती है, ठीक वैसे ही जैसे चिलचिलाती धूप से कोई व्यक्ति पेड़ की छाया में पहुँचता है तो स्वभावत: विश्रांति मिलती है।
- दुनियावी स्वार्थ के विचार, एकदम से गायब हो जायेगें।
- मन करता है कि वह कुछ बोलता रहे और मैं सुनता रहूँ, क्योंकि उसमें एक आकर्षण होता है। यद्यपि ऐसा आकर्षण तो 'मेस्मोरिजम' करने वालों के साथ भी हो सकता है। लेकिन मेस्मोरिजम वाले आपको कदापि शान्ति नहीं दिला सकते, भले ही चमत्कार दिखा दे।
- उनके व्यवहार में और सिद्धान्त में समानता होती है। अर्थात् अन्दर और बाहर दोनों तरफ एक ही हालत होती है।
- वे हर्ष ओर विपाद दोनों ही हालत में एकरूप रहते। हर्ष में न तो अत्यधिक प्रसन्न होते, नहीं विषाद से उद्विग्न।
- वे सभी से समान प्रेम रखते हैं, चाहे अपना बेटा हो या कोई अन्य। लेकिन 'प्रेम' उनकी कमजोरी का प्रतीक नहीं होता, क्योंकि वे चाहे तो उसका परित्याग भी कर सकते हैं। किसी सन्त ने ठीक ही कहा है कि 'फकीर किसी का नहीं होता।'
- उनसे सभी प्यार करने लगते है, यद्यपि उनके विरोधी भी हो सकते हैं तथापि उनको चाहने वाले अधिक होगें क्योंकि 'प्यारे का प्यारा सबका प्यारा होता है।'
- वे बेगरज होकर सबकी सेवा करते हैं। एक संत डा० चतुर्भुज सहाय जी ने ठीक ही कहा है कि दुनिया में मेहमान बनकर रहो और किसी की मदद करके, वहाँ से इस तरह गायब हो जाओ कि वह तुम्हें शुक्रिया भी

न बोल सके।

यदि ये प्रवृत्तियाँ किसी पुरुष में दृष्टिगोचर हों तो उसे 'आत्म द्रष्टा' या 'महात्मा' समझना चाहिए। यदि जीवन को 'और भी' बेहतर बनाना है तथा जीवन को सही अर्थों में जीना है तो 'आत्मानं विद्धि' उसमें अवश्य ही सहायक सिद्ध होगा।

लेकिन जब तक 'आत्मानं विद्धि या 'ने दाईसेल्फ' को न जान ले तब तक उसे 'काम की बात' नहीं बल्कि 'बातों की बात' कहना एक प्रकार की आत्म प्रवंचना ही तो है। माना एक ऐसी जनजाति है, जहाँ के सभी व्यक्ति जन्मांध अंधे हैं। यदि उनमें कोई आँख वाला पैदा हो जाय तो आँख वाला प्रकृति के मनोरम दृष्यों का वर्णन करेगा लेकिन अन्य सभी अंधे उसकी बातों को अनर्गल कहेगें जो उनकी दृष्टि से ठीक ही है, क्योंकि उन्होंने कभी प्रकृति के विविध रूपों को देखा ही नहीं है। लेकिन अन्य आँख वाले उसकी बातों को सत्य मानेगें क्योंकि उनके पास आँख है, उन्होंने स्वयं ही अपनी आँखों से इन दृष्यों का अवलोकन किया है। इसी प्रकार किसी व्यक्ति को आत्मानुभूति हुई है, उसकी सत्यता को उसने जान लिया है, तो हमें उसकी बातों को 'बचकानी' कहने का क्या अधिकार है? और यदि हम बचकानी कहते भी हैं तो भी वे हमें अवश्य ही 'नादान' या 'नासमझ' मानकर क्षमा कर देगें। ध्यान रहे कि प्रत्येक विद्या की अपनी मान्यताएँ होती हैं, उनका अपना Approach होता है। तर्कशास्त्र (Logic) में परिमाणक (Quantification) और सम्बंध (Relation) की समस्या और उसके हल को वही व्यक्ति समझ पायेगा, जिसने इसका अध्ययन किया है। इसी प्रकार गणित के किसी सिद्धान्त की सत्यता और असत्यता की परख वही कर सकता है जो उस विद्या में पारंगत हो। इसी प्रकार रहस्यवाद के किसी सिद्धान्त की परख, एक रहस्यवादी ही कर सकता है, अन्य नहीं।

तीसरी बात यह भी है कि हरेक विद्या में ''मानने'' की बात की गयी है। गणित भी मानकर चलता है। माना मूलधन X है, तभी हमारा हल सम्भव हो पाता है। इसी प्रकार विज्ञान की टोही अंगुलियाँ अपने आप को जब आगे बढ़ाती है तो पहले प्राकल्पना (Hypothesis) करके आगे बढ़ती है।, तभी किसी नूतन सिद्धान्त की खोज कर पाती हैं। यदि हम विज्ञान में प्रकल्पना को स्वीकार न करें तो नूतन सिद्धान्त की स्थापना असम्भव हो जायेगी। इसी प्रकार यदि गणित में X को न माने तो, हल असम्भव हो जायेगा। यदि गणित व विज्ञान में मानने की बात

की गयी तो फिर दर्शन में 'मानने' पर प्रतिवाद क्यों? ध्यान रहे, परिणाम सदैव अंत में ही आता है। यदि परिणाम की प्रत्याशा पहले से ही कर लें तो निराशा ही हाथ लगेगी। अर्थात् किसी भी सिद्धान्त, या मत पर विचार करने के लिए सभी प्रकार के पूर्वाग्रहों को छोड़ना पड़ेगा और खुले मन से विचार करना होगा तभी हम किसी सिद्धान्त को अच्छी तरह समझ पायेंगें। अध्यात्म न तो तर्क विरूद्ध है और न ही अवैज्ञानिक। लेकिन प्रारम्भ में तो इसमें भी गणित व विज्ञान की तरह प्राकल्पना का सहारा लेना पड़ता है, तभी हम किसी लक्ष्य तक पहुँच सकेगें। हमारी कमजोरी है कि हम गणित व विज्ञान की प्राकल्पना को तो वैज्ञानिक मानते परन्तु अध्यात्म के प्राकाल्पना को अवैज्ञानिक, जो अनुपयुक्त है।

अंततः यही कहा जा सकता कि 'आत्म ज्ञान की भ्रांतियों' की अपेक्षा 'अपने आप में भ्रान्तियों' को खोजने की आवश्यकता है। इसलिए मैं प्रो० दयाकृष्ण के कथनों से ही अपने लेख को विराम दे रहा हूं। 'आखिर दर्द तो मुझे ही होता है, अनुभव भी मुझे ही, ज्ञान भी मुझे ही, गलती करता हूं तो मैं ही करता हूं और उसका उत्तरदायित्व भी मुझे ही दिया जाता है और मुझे ही भोगना पड़ता है। अगर यह बात ठीक है ओर इसमें कोई इन्कार नहीं कर सकता, तो आत्मकेन्द्रित या स्वकेन्द्रित चिन्तन का दोषी क्यों ठहराया जाय?' (पृष्ठ ९४)।

उपर्युक्त पृष्ठों में प्रो० दयाकृष्ण द्वारा उठायी गयी विसंगतियों की विश्लेष्णात्मक समीक्षा कर इस तथ्य को उजागर करने का प्रयास किया गया है कि आत्मानुभूति भौतिक विज्ञान के माध्यम से बुद्धिगम्य नहीं है वह तो एक मात्र अनुभूति का विषय है। तर्क जो कि बौद्धिक ज्ञान पर आधृत है, से हम अध्यात्म राज्य की प्राचीर तक पहुँच सकते हैं पर उसमें प्रवेश नहीं कर सकते। जहॉ तर्क की समाप्ति हो जाती है वहीं से अध्यात्म आरम्भ होता है। एक फकीर ने ठीक ही कहा है :–

''न कोई परदा है उसके दर पै न रूए रोशन नकाब में है,
तू आप अपनी खुदी से गाफिल हिजाब में है हिजाब में है।''

**

IAS-08

ईश्वर का स्वरूप

प्रकृतिवादी ईश्वर का विचार

ईश्वर का स्वरूप क्या है? इस पर विभिन्न दार्शनिकों में मतैक्य नहीं हैं। कुछ दार्शनिक ईश्वर को प्राकृतिक शक्ति के रूप में मानते हैं, तो कुछ उसे व्यक्तित्वपूर्ण जबकि कुछ उसे निर्वैयक्तिक रूप में स्वीकार करते हैं। प्राचीन काल की धार्मिक मान्यतायें ईश्वर को प्राकृतिक शक्तियों के रूप में स्वीकार करती हैं। उस समय लोग मानते थे कि विभिन्न प्राकृतिक शक्तियां भिन्न–भिन्न रूप में हमारे जीवन को प्रभावित करती हैं। इसलिए ईश्वर एक नहीं बल्कि अनेक है।

यदि इस प्रश्न पर हम विचार करें तो तीन पक्ष उभरकर सामने आते हैं।

- पहला, प्रकृति ही अन्तिम सत्ता है। इसके परे कुछ भी नहीं है। यह एक निरीश्वरवादी अवधारणा है।
- दूसरा, प्रकृति और ईश्वर एक है अर्थात् दोनों में तादात्म्य है। दूसरे शब्दों में जो प्रकृति है, वही ईश्वर एवं जो ईश्वर है, वही प्रकृति है। यह सर्वेश्वरवाद है।
- अन्तत: कुछ मान्यतायें ऐसी हैं, जो विभिन्न प्राकृतिक सत्ताओं में ईश्वर को स्वीकार करती है। इसके अनुसार, सम्पूर्ण प्रकृति ईश्वर नहीं है, बल्कि प्रकृति के कुछ संस्थान को ईश्वर के रूप में माना जाने लगा। यहाँ ईश्वर और प्रकृति में विभेद करते हुए केवल कुछ प्राकृतिक सत्ताओं को ईश्वर के रूप में स्वीकार किया जाने लगा। इसे ही प्रकृतिवादी ईश्वर कहते हैं।

उसेनर के अनुसार, प्राचीन काल में दो तरह के ईश्वर स्वीकार किये जाते रहे हैं। पहला, विशिष्ट देव, जहाँ विभिन्न प्राकृतिक तत्वों को ही ईश्वर के रूप में स्वीकार किया जाने लगा। यथा, अग्नि देव, पवन देव, सोम देव प्रभृति।

दूसरा, मानवाकृत देव, जब इन प्राकृतिक सत्ताओं में मानवीय व्यक्तित्व का आरोपण कर दिया गया और तब प्राकृतिक शक्तियाँ व्यक्तित्व युक्त हो गई। ऐसे ही ईश्वर को मानवाकृत देव के रूप में स्वीकार किया जाने लगा। यथा, जो अग्नि प्राकृतिक शक्तियों के रूप में मानी जाती थी, उस पर व्यक्तित्व का आरोपण हो गया। तब वे अग्निदेव के रूप में जाना जाने लगे। इसी प्रकार पवन देव केवल प्राकृतिक शक्ति के रूप में नहीं थे, बल्कि अब वे व्यक्तित्वपूर्ण हो गये। इसी प्रकार इन्द्र, मरुत, वरुण आदि देवताओं को व्यक्तित्वपूर्ण रूप में स्वीकार किया जाने लगा। प्रारम्भ में उनका कार्य केवल प्राकृतिक शक्तियों का नियंत्रण करना था।

ऋग्वेद एवं यास्क के निरुक्त में ईश्वर की तीन अवधारणायें स्वीकार की गई हैं।

- पृथ्वी देव – ऐसे देव जिनका स्थान पृथ्वी पर था। यथा, अग्नि, सोम, पूषन प्रभृति।
- आकाशीय देव – जो आकाश के देवता थे। यथा– द्यौंस, वरुण प्रभृति।
- अन्तरिक्ष देव – ऐसे देव जिनका स्थान और क्षेत्र अंतरिक्ष था। यथा, इन्द्र, मरुत प्रभृति।

इसी प्रकार प्राचीन बेबोलोनिया (इराक) में भी ईश्वर को प्राकृतिक शक्तियों के रूप में स्वीकार किया जाता था। वहाँ त्रिदेव की सत्ता मानी जाती थी। जिसे 'अनु', 'बेल', 'ईआ' कहा जाता था। 'अनु' स्वर्ग के नियन्ता थे, 'बेल' पृथ्वी के जबकि 'ईआ' सागर के। कालांतर में इन तीनों शक्तियों का समावेश एक ईश्वर के अन्तर्गत कर दिया गया और उसे ही 'मारडॉक' के रूप में माना जाने लगा। यद्यपि वहाँ अभी भी त्रिदेव की मान्यता प्रचलित है।

इजिप्ट (मिस्र) में भी ईश्वर को प्राकृतिक शक्तियों के रूप में माना जाता था। उस समय वहाँ के देव **'रॉ'** को सूर्य देव के रूप में माना जाता था। कालांतर में सूर्य के पुत्र **'फराव'** हुए। उन्हें भी सूर्य देव के रूप में ही स्वीकार किया जाने लगा। परन्तु आगे चलकर इस मान्यता में भी परिवर्तन हुआ और एक नये देव **'आमन रॉ'** को माना जाने लगा तथा यह भी स्वीकार किया जाने लगा कि 'अमन रॉ' की आँखों से ही सम्पूर्ण सृष्टि की अभिव्यक्ति हुयी है।

इनके अलावा कुछ समकालिक दार्शनिकों ने भी प्रकृति को ईश्वर के रूप में स्वीकार किया। यथा, हक्सले सृष्टि की आदि से अन्त तक व्याख्या प्रकृति के रूप में करता है। इसी प्रकार नीत्शे प्रकृति से परे किसी दैवी सत्ता को स्वीकार नहीं करता बल्कि उसके अनुसार 'प्रकृति ही शक्ति पुंज है।' यही नहीं रसेल भी किसी अति प्राकृतिक ईश्वर को स्वीकार न करके प्रकृति को ही शक्ति प्रवाह के रूप में स्वीकार करता है।

इस प्रकार प्राचीन काल में ईश्वर को प्राकृतिक शक्तियों के संस्थान के रूप में माना जाता था। इसलिए उस समय बहुदेववादी परम्परा प्रचलित हुई, जहाँ ईश्वर एक नहीं बल्कि अनेक हैं। एक प्रचलित किंवदन्ति के अनुसार प्राचीन काल में, भारत में ३३ करोड़ देवताओं को स्वीकार किया जाता था। लेकिन बहुदेववाद की सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि यदि अनेक देव हैं तो उन सब की पूजा, आराधना कैसे की जा सकती है और यदि उनमें से किसी एक को छोड़ दिया जाय, तो उनका कोपभाजन बनना पड़ सकता था। इसलिए कालान्तर में 'बहुदेववाद' (Polytheism), 'एकदाएकदेववाद'(Henotheism) में परिणत हो गया, जहाँ किसी समय विशेष पर एक ही देव की प्रधानता मानी जाती थी और अन्य को गौण। पुनश्च, 'एकदाएकदेववाद' 'एकेश्वरवाद'(Monism) में परिणत हो गया, जहाँ केवल एक ही ईश्वर हुआ करता था, जो जगत् से परे था। कालांतर में 'एकेश्वरवाद', 'सर्वेश्वरवाद'(Pantheism) में परिणत हुआ। सर्वेश्वरवाद में ईश्वर को जगत् के कण–कण में स्वीकार किया जाने लगा। अन्ततः अद्वैतवादी अवधारणा विकसित हुई। अद्वैतवाद में 'एकेश्वरवाद' और ' सर्वेश्वरवाद ' दोनों का समन्वय था। जहाँ ईश्वर को 'जगत् के परे' एवं 'जगत् के अर्न्तयामी' दोनों रूपों में माना जाता था। इसे 'सर्वातिसर्वेश्वरवाद' (Panentheism) के नाम से जाना जाने लगा।

इस प्रकार ईश्वर का प्रकृतिवादी स्वरूप आज विलुप्त हो गया है। हालांकि कुछ जनजातियाँ आज भी हैं, जो ईश्वर को प्रकृतिवादी शक्तियों के रूप में मानती हैं।

ईश्वर की वैयक्तिक अवधारणा

ईश्वर का स्वरूप व्यक्तित्वपूर्ण है या निर्वैयक्तिक। यह दार्शनिकों के

बीच एक अत्यन्त ही विवादित समस्या है। कुछ धार्मिक व्यक्ति अपनी भावनाओं के आधार पर ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण मानते हैं, तो कुछ बौद्धिक व्यक्ति अपनी तार्किकता या बौद्धिकता के आधार पर उस व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर को देश–काल से सीमित मानते हुए ईश्वर को निर्वैयक्तिक रूप में स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर भले ही हमारी धार्मिक भावनाओं को संतुष्ट कर दे परन्तु वह तार्किकता या बौद्धिकता के अनुरुप नहीं है। इसीलिए वे ईश्वर को व्यक्तित्व रहित कहते हुए उसे पूर्णता तथा सर्वगुण सम्पन्नता से युक्त कर देते हैं। इनके अनुसार ईश्वर पूर्ण है क्योंकि वह अभाव का नहीं बल्कि अभावों के अभाव का प्रतीक है। जो दार्शनिक ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण मानते हैं, वे भी व्यक्तित्व के सन्दर्भ में एकमत नहीं हैं। इस सन्दर्भ में मूलत: तीन अवधारणायें हैं –

- व्यक्तित्व का तात्पर्य आत्म–चेतना से है।
- व्यक्तित्व में आत्म–चेतना एवं संकल्प की स्वतंत्रता दोनों ही है।
- व्यक्तित्व के अन्तर्गत आत्म–चेतना एवं संकल्प की स्वतंत्रता के साथ–साथ जैव संगठन को भी स्वीकार करते हैं।

जो दार्शनिक ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण मानते हैं, वे यह स्वीकार करते हैं कि ईश्वर आत्म–चेतन है। अत: वह व्यक्तित्वपूर्ण है। मैक्टैगर्ट लिखता है कि ईश्वर को अपनी चेतना का ज्ञान वैसे ही है, जैसे हमें अपनी चेतना का ज्ञान है। इस प्रकार आत्म चैतन्य होने के कारण ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण है। ट्रूबल्ड का कहना है कि व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर का तात्पर्य है कि वह चेतना एवं आत्म–चेतना इन दोनों का केन्द्र बिन्दु है।

कुछ अन्य दार्शनिक आत्म चेतना के साथ–साथ संकल्प की स्वतंत्रता को भी व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर का अनिवार्य गुण मानते हैं। उनके अनुसार ईश्वर में संकल्प की स्वतंत्रता है क्योंकि ईश्वर किसी शक्ति के माध्यम से नियंत्रित नहीं होता। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह अनियंत्रित है। ईश्वर नियंत्रण और अनियंत्रण इन दोनों से परे है। वह आत्म नियंत्रण के रूप में है। जहाँ वह स्वयं अपने स्वरूप के माध्यम से नियंत्रित होता है। इस दृष्टि से प्रो० लाट्जे का यह कहना है कि ईश्वर आत्म चेतना एवं संकल्प स्वतंत्रता इन दोनों से युक्त है। यद्यपि

संकल्प की स्वतंत्रता तो मनुष्यों में भी हो सकती है। लेकिन ईश्वर और मनुष्य में भेद यह है कि मनुष्य अपूर्ण एवं सीमित है, जबकि ईश्वर पूर्ण एवं असीमित है।

पुन: कुछ दार्शनिकों ने आत्म चेतना एवं संकल्प स्वतंत्रता के साथ–साथ ईश्वर को जैव संगठन के रूप में स्वीकार किया। यथा, ए०एन० व्हाइटहेड लिखता है कि ईश्वर में व्यक्तित्व की अपेक्षा एक तरह का जैव संगठन है। इसी प्रकार पॉल तिलिक का कहना है कि ईश्वर एक प्रकार का मिथ (Myth) है, जिसका तात्पर्य है कि ईश्वर कोई पारलौकिक सत्ता नहीं है, बल्कि वह एक भौतिक सत्ता है। लेकिन तिलिक के अनुसार ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण मानते हुए भी उसे व्यक्ति नहीं कहता। यद्यपि ईश्वर व्यक्तित्व का आधार है तथापि उसे व्यक्ति नहीं कहा जा सकता है क्योंकि वह व्यक्ति की तरह सीमित नहीं हैं।

भारतीय परम्परा में प्राय: सभी वैष्णव वेदान्तियों ने ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण रूप में स्वीकार किया है। यथा, रामानुज लिखते हैं कि हमारी तरह ईश्वर भी व्यक्तित्वपूर्ण है। लेकिन हमारा व्यक्तित्व भौतिक तत्वों से निर्मित है जबकि ईश्वर शुद्ध सत्व एवं आप्राकृतिक तत्वों से निर्मित है। इस प्रकार ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण होते हुए भी बन्धन का कारण नहीं बनता है क्योंकि बन्धन का कारण व्यक्तित्व नहीं बल्कि कर्म है एवं कर्म केवल प्राकृतिक शरीर ही करता है। मध्वाचार्य अपनी पुस्तक 'मध्व सिद्धान्त सार' में तो ईश्वर को पंच भौतिक तत्वों से निर्मित माना हैं, जिसे वे स्वेच्छा स्वीकृत शरीर की संज्ञा देते हैं। हालाँकि यह शरीर ईश्वर की इच्छा से निर्मित है। इसलिए ईश्वर पंच भौतिक तत्वों से निर्मित होते हुए भी बंधन का कारण नहीं बनता है।

लेकिन व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर के सम्बन्ध में कई प्रश्न उठाये जाते हैं:

- व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर देश–काल से सीमित होता है।
- ऐसा ईश्वर सृष्टिकर्त्ता होता है। अत: वह आप्तकाम नहीं हो सकता है।
- यदि ईश्वर ने जगत् की रचना की है, वह सर्वशक्तिमान दयालु भी है तो जगत् में अशुभ क्यों है?

लेकिन ये आलोचनाएँ उपयुक्त नहीं हैं। यद्यपि ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण है। फिर भी देश–काल से सीमित नहीं है क्योंकि उसका व्यक्तित्व भौतिक तत्वों से निर्मित नहीं है बल्कि शुद्ध सत्व एवं अप्राकृतिक तत्वों से निर्मित है। भौतिक तत्व

ही देश—काल से सीमित होते हैं।

यद्यपि ईश्वर सृष्टिकर्ता है, परन्तु फिर भी वह आप्तकाम है क्योंकि सृष्टि रचना के पीछे उसका कोई उद्देश्य नहीं है। प्रो० हर्बर्ट विलडन कार के अनुसार ईश्वर सृष्टिकर्ता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह एक—एक वस्तु का निर्माण करता है बल्कि वह सम्पूर्ण सृष्टि की रचना एक साथ करता है। इसे वह विकिरण (Fulguration) की संज्ञा देता है।

यद्यपि ईश्वर सृष्टिकर्ता है फिर भी जगत् में दुःख है। लेकिन इसमें कोई विरोधाभास नहीं क्योंकि हमारी बुद्धि उस दुःख को पूर्णता में समझने में असमर्थ है।

इन सबके उपर्यन्त भी कुछ दार्शनिक ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण मानने से इन्कार करते हैं। उदाहरण स्वरूप आई०एम० क्रोम्बी का कहना है कि हमें तुरन्त यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि हमारे मन में ईश्वर की संकल्पना नहीं है। हम ईश्वर को नहीं जानते और यह कहना दुर्भाग्यपूर्ण होगा कि ईश्वर कृपालु, दयालु आदि है। इसी प्रकार जॉन हिक लिखता है कि ईसाई धर्म में ईश्वर को प्रेम और करुणा का रूप माना गया है, जिसका हमें कोई अनुभव नहीं है। केवल ईश्वर को ही इन गुणों का अनुभव हो पाता है।

इन समस्त आलोचनाओं के बाद यह कहा जा सकता है, कि भावुक व्यक्ति अपनी भावना के आधार पर ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण मानते रहेंगे। इस दृष्टि से टूबल्ड का कहना ठीक ही है कि 'ईश्वर वह नहीं है, जिसके बारे में बात की जा सके बल्कि ईश्वर वह है, जिससे बात की जा सके।' परन्तु दार्शनिक और तार्किक बुद्धि का व्यक्ति इसका विरोध करते रहेंगे। धर्मों के अनुसार ईश्वर वह है,

- जिस पर हम अपने आपको पूर्णतया निर्भर कर सकें।
- वह हमारी पूजा आराधना का विषय बन सके।
- जो दया, प्रेम, करुणा की प्रतिमूर्ति हो तथा जो भक्तों की पुकार सुन सके।

इस प्रकार यदि व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर की अवधारणा को स्वीकार नहीं करते तो सम्पूर्ण धार्मिक चेतना के विकास को भ्रमात्मक कहना होगा।

ईश्वर की निर्वैयक्तिक अवधारणा

ईश्वर का स्वरूप व्यक्तित्वपूर्ण है या निर्वैयक्तिक, यह ईश्वरवादियों के

लिए एक अत्यन्त ही जटिल समस्या है। भावुक हृदय के व्यक्ति ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण मानते हैं, क्योंकि धर्म में निर्भरता की भावना होती है, जिसके लिए व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर का होना आवश्यक है क्योंकि बिना व्यक्तित्व के भक्ति करना असम्भव है। दूसरी तरफ कुछ दार्शनिक व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर में कुछ कमियों का उल्लेख करते हैं –

- व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर सीमितता को इंगित करता है, क्योंकि वह देश–काल से नियन्त्रित होता है।
- ईश्वर पर व्यक्तित्व का आरोपण करना उसका मानवीकरण (Anthropomorphism) करना है।
- यदि ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण है, तो व्यक्तित्व के सारे गुण और दोष ईश्वर पर आरोपित हो जायेगें, जो उपयुक्त नहीं है।
- यदि ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण है तो उसका हमें प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता?

इन्हीं कमियों के कारण कुछ दार्शनिक ईश्वर को निर्वैयक्तिक, निराकार रूप में स्वीकार करते हैं। जिसके अन्तर्गत ग्रीक दार्शनिक जेनोफेनिजम, आधुनिक दार्शनिक स्पिनोजा एवं भारतीय दार्शनिक आचार्य शंकर का महत्वपूर्ण स्थान है। जेनोफेनिजम परम्परागत यहूदी धर्म की मान्यताओं का विरोध करता है। जहाँ ईश्वर के सन्दर्भ में कई प्रकार की बातें कही जाती थीं। जेनोफेनिजम के अनुसार ईश्वर पर व्यक्तित्व का आरोपण करना उपयुक्त नहीं है क्योंकि जब हम ईश्वर के गुणों की कल्पना करते हैं तब हम ईश्वर में अपने विम्बों का ही प्रक्षेपण करते हैं। इस रूप में ईश्वर सीमित हो जाता है। इसीलिए जेनोफेनिजम कहता है कि यदि मनुष्य की तरह बैल, घोड़ा और शेरों के हाथ होते जिनसे वे चित्र बना सकते, तब वे ईश्वर को क्रमशः बैल, घोड़ा व शेरों के रूप में ही चित्रित करते। स्पष्टतः ऐसा ईश्वर सीमित हो जाता है। इसलिए जेनोफेनिजम कहता है कि सम्पूर्ण प्रकृति ही ईश्वर का रूप है। इसे ही सर्वेश्वरवाद कहते हैं।

आधुनिक दार्शनिक स्पिनोजा ईश्वरवाद का खण्डन करता है। इसके अनुसार ईश्वरवाद में दो कमियाँ हैं :

- ईश्वर जगत की रचना करके, जगत से पार चला जाता है।

- ईश्वर, जगत का केवल निमित्त कारण है। चित एवं अचित इसके उपादान कारण हैं।

स्पिनोजा के अनुसार ऐसा ईश्वर जो जगत का केवल निर्माता हो तथा जो जगत की रचना करके जगत के परे चला जाता हो, ऐसा ईश्वर पूर्ण नहीं हो सकता। इसीलिए स्पिनोजा, ईश्वर को जगत का निमित्त व उपादान दोनों ही कारण मानता है तथा जगत के परे न कहकर, जगत में अन्तर्यामी कहता है। स्पिनोजा के अनुसार सामान्यतः ईश्वर को जगत का कारण माना जाता है। लेकिन इस रूप में ईश्वर जगत का कारण नहीं हो सकता क्योंकि कारण – कार्य सिद्धान्त के अनुसार कारण, कार्य की पूर्ववर्ती होता है एवं कार्य, कारण का परवर्ती। इसीलिए स्पिनोजा ईश्वर को जगत का तार्किक कारण कहता है। जिसका अर्थ है कि जिस प्रकार त्रिभुज में तीन भुजायें होती हैं उसी प्रकार, ईश्वर में जगत अन्तर्निहित है। अर्थात् दोनों के बीच तादात्म्य है। इस प्रकार ईश्वर जगत के परे नहीं है बल्कि ईश्वर व जगत में अभेद है। स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर के दो रूप हैं,

- एक कारण रूप है जिसे स्पनोजा सृजमान प्रकृति (Natura-Naturans) कहता है, यह ईश्वर का समग्रता का रूप है।
- लेकिन यदि हम पृथक–पृथक रूप में विचार करते हैं तो इसे वह सृष्टि प्रकृति (Natura - Naturata) कहता है।

स्पिनोजा के अनुसार सृजमान प्रकृति एवं सृष्टि प्रकृति दोनों ईश्वर का ही रूप हैं। इस प्रकार ईश्वर विश्व है, विश्व ईश्वर है।

इसी कारण स्पिनोजा अपने ईश्वर को निर्गुण, निराकार कहता है और सभी प्रकार के निर्वचनों का निषेध करता है। उसके अनुसार जब हम ईश्वर में गुणों का आरोपण करते हैं तो जितना सोचते हैं, इतने ही गुणों का आरोपण करते हैं। इस रूप में ईश्वर सीमित हो जाता है, क्योंकि ''प्रत्येक विशेषीकरण निषेध को सूचित करता है।''

भारतीय दार्शनिक आचार्य शंकर भी अपने ब्रह्म को निर्गुण, निराकार मानते हैं। इनके अनुसार ब्रह्म के दो रूप हैं –

- **सगुण ब्रह्म,** जो सारे गुणों से युक्त है। यह व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर है।
- **निर्गुण ब्रह्म,** जो कि निर्वैयक्तिक है, तथा इसमें किसी भी प्रकार के

गुणों का आरोपण नहीं हो सकता।

आचार्य के अनुसार जब हम ब्रह्म को निर्गुण कहते हैं तब निर्गुण का अर्थ गुण रहित होना नहीं होता है, बल्कि सीमित गुणों के अभाव से है। अर्थात् ईश्वर अभाव रूप न होकर अभावों का अभाव है। लेकिन हमारी भाषा की एक सीमा है, जो ब्रह्म के अनंत गुणों का निर्वचन नहीं कर सकती। इसलिए आचार्य शंकर इसे अनिर्वचनीय कहते हैं।

लेकिन निर्वैयक्तिक ईश्वर के ऊपर भी कई आक्षेप किये जाते हैं:

- धर्मों के लिए व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर का होना आवश्यक है।
- व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर में ही सारे नैतिक गुणों की पराकाष्ठा दिखायी देती है।
- यदि ईश्वर निर्वैयक्तिक है तो अत्यन्त निकृष्टतम पदार्थों में भी ईश्वर को मानना पड़ता है।
- यदि ईश्वर सर्वत्र है तो मनुष्य स्वतंत्र नहीं है।

क्या धर्म के लिए व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर आवश्यक है? निर्वैयक्तिक ईश्वर को मानने वाले स्वीकार करते हैं कि धर्म के लिए ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं। जैसे – बौद्ध एवं मानववादी धर्म ईश्वरविहीन धर्म की स्थापना करते हैं।

निर्वैयक्तिक ईश्वर को मानने वाले, ईश्वर को नैतिक गुणों से युक्त नहीं मानते, बल्कि उसे नैतिकता से परे मानते हैं। हार्टमैन प्राकृतिक, नैतिक एवं अतिनैतिक इन तीन अवस्थाओं का भेद करते हुए ईश्वर को अतिनैतिक के रूप में स्वीकार करता है।

निर्वैयक्तिक ईश्वर के बारे में यह माना जाता है कि यदि ईश्वर सभी जगह है तो अत्यन्त निकृष्टतम पदार्थों में भी ईश्वर की सत्ता स्वीकार करना पड़ेगा और इस प्रकार ईश्वर का मूल स्वरूप खण्डित हो जायेगा, जिसे अत्यन्त ही पवित्र रूप में स्वीकार किया जाता है। लेकिन निर्वैयक्तिक ईश्वर के अनुसार अच्छा–बुरा, शुभ–अशुभ का भेद केवल सीमित दृष्टिकोण से है। जब हम समग्रता में विचार करते हैं तो इस तरह का भेद समाप्त हो जाता है।

लेकिन निर्वैयक्तिक ईश्वर के ऊपर सबसे बड़ा आक्षेप यह किया जाता है कि यदि ईश्वर विश्व है तो व्यक्ति की व्यक्तिगत स्वतंत्रता समाप्त हो जाती

है। इसी कारण हेगेल, स्पिनोजा के ईश्वर को एक ऐसे सिंह की गुफा के समान कहता है जिसके अन्दर जाने वाले पशुओं के पद चिन्ह तो दिखाई पड़ते हैं, परन्तु लौटते हुए नहीं। अर्थात् स्पिनोजा के दर्शन में व्यक्ति का संकल्प स्वातंत्रता समाप्त हो जाता है।

वास्तविकता यह है कि व्यावहारिक दृष्टि से स्पिनोजा जगत की सत्ता को स्वीकार करते हैं, लेकिन पारमार्थिक दृष्टि से वह ईश्वर व जगत में अभेद मान लेता है। लेकिन यहाँ पर भी वे ईश्वर का अवमूल्यन नहीं करते है बल्कि प्रकृति का उत्थान करके ईश्वर तक ले जाते हैं। जो ईश्वर को जगत के कण—कण में मानता है वह निरीश्वरवादी कैसे हो सकता है? इसलिए व्यावहारिक दृष्टि से स्पिनोजा संकल्प की स्वातंत्रता को मानता है, परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से केवल ईश्वर की ही सत्ता है। यहाँ पर व्यक्ति का संकल्प स्वातंत्र्य, ईश्वर के संकल्प—स्वातंत्र्य में विलीन हो जाता है। स्पष्टतः यह संकल्प—स्वातंत्र्य का उन्मूलन नहीं है बल्कि संकल्प—स्वातंत्र्य का दैवीकरण है। इसी कारण नोवलिस ने स्पिनोजा को ईश्वर उन्मत (God Intoxicated) कहा है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि भावुक व्यक्ति ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण मानते रहेंगे, जबकि तार्किक एवं बौद्धिक व्यक्ति, व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर में कमियों को इंगित करते हुए उसे निर्वैयक्तिक रूप में स्वीकार करते रहेगे। ऐसी स्थिति में तुलसीदास का यह कथन कि ''जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिनि तैसी'', अत्यधिक उपयुक्त लगता है।

**

ईश्वर विहीन धर्म

धर्म की संकल्पना में ईश्वर का क्या महत्व है? अर्थात् क्या धर्म के लिए ईश्वर अनिवार्य है या ईश्वर की सत्ता बिना धर्म के भी सम्भव है? धर्म दर्शन की यह एक अति विवादित समस्या है। एक ओर, जहाँ कुछ धर्म ईश्वर विहीन धर्म की स्थापना करते हैं वहीं दूसरी ओर, ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर के बिना धर्म के अस्तित्व को असम्भव मानते हैं । वे ईश्वर को धर्म का प्राण मानते हुए कहते हैं कि ईश्वर के स्वरूप पर मत वैभिन्य तो सम्भव है, परन्तु ऐसा नहीं हो सकता कि धर्म में ईश्वर का स्थान ही न हो। इसी दृष्टि से प्रो० फ्लिन्ट धर्म और ईश्वर को पर्यायवाची मानते हुए लिखते हैं कि ईश्वरवाद से कम कुछ स्वीकार्य नहीं है तथा इससे अधिक होने की कोई सम्भावना नहीं है। इस प्रकार ईश्वर विहीन धर्म असम्भव है।

कुछ दार्शनिक ऐसे भी हैं जो धर्म को मूलत: नैतिकता से सम्बन्धित करते हुए ईश्वर विहीन धर्म की मान्यता स्वीकार करते हैं। इसमें जैन, बौद्ध तथा मानववादी धर्मों का महत्वपूर्ण स्थान है। जैन और बौद्ध दार्शनिकों का उद्देश्य वैदिक मत का खण्डन करके अवैदिक मत की स्थापना करना था। वैदिक मत के केन्द्र में ईश्वर था। अत: जब तक ईश्वर का निषेध न कर दिया जाय, अवैदिक मत की स्थापना असम्भव थी। अत: इन दार्शनिकों का परमसाध्य हो गया कि येन—केन—प्रकारेण ईश्वर की सता का तर्कसम्मत खण्डन कर ईश्वर विहीन धर्म की स्थापना की जाय। इसी प्रकार मानववादी धर्म में भी ईश्वर की अपेक्षा मनुष्यता या नैतिकता को सर्वोच्च मानते हुए, मानवीय सेवा को ही धर्म के रूप में स्वीकार कर, धर्म की प्रकृतिवादी व्याख्या की गई है।

जैन दार्शनिक प्रथमत: मानते हैं कि ईश्वर का ज्ञान न तो प्रत्यक्षत: हो सकता है और न ही अनुमान से। अत: ईश्वर का अस्तित्व संदिग्ध है। दूसरा, जैन

दार्शनिकों ने न्याय दर्शन में प्रतिपादित ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन किया है। ध्यातव्य है कि उदयन अपनी पुस्तक **"न्यायकुसुमांजलि"** में ईश्वर के अस्तित्व के लिए ९ तर्कों का प्रयोग करता है, जिसमें पहला तर्क जगत को कार्य मानकर उसके कारण के रूप में ईश्वर की स्थापना करता है (**कार्यात्** आयोजनात् धृत्यादे: पदात् प्रत्ययत: श्रुते:)। उदयन मानते हैं कि कारण कार्य नियम के अनुसार प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य ही होता है और कारण सदैव ही कार्य से या तो बड़ा होता है या कम से कम उसके समतुल्य होता है। कारण कभी भी कार्य से छोटा नहीं हो सकता। अब यदि जगत को एक कार्य मान लिया जाय तो उसका कोई न कोई कारण अवश्य ही होगा और वह कारण या तो जगत से बड़ा होगा या फिर कम से कम उसके समतुल्य होगा। इस प्रकार इस असीमित जगत का कारण कोई सीमित सत्ता नहीं हो सकती। अत: जगत के कारण के रूप में ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

जैन दार्शनिकों का कथन है कि यदि जगत को एक कार्य मान भी लिया जाय तो भी इससे ईश्वर का अस्तित्व प्रामाणित नहीं हो सकता। प्रश्न उठता है कि ईश्वर किस प्रयोजन से जगत की रचना करता है। प्राय: कोई भी व्यक्ति किसी कार्य का सम्पादन करता है तो या तो किसी **इच्छा से** या फिर **करुणा से आप्लावित होकर**। यदि ईश्वर भी किसी इच्छा से जगत की रचना करता है, तो वह पूर्ण नहीं हो सकता, क्योंकि जो पूर्ण है वह आप्तकाम होता है और आप्तकाम वह है, जिसकी कोई कामना अवशिष्ट न हो । अब यदि ईश्वर आप्तकाम है, जैसा कि विभिन्न धर्म स्वीकार करते हैं, तो वह जगत–रचना में प्रवृत कैसे हो सकता है? यदि यह मानें कि वह करुणा से आप्लावित होकर जगत की रचना करता है तब और भी विकट समस्या आ जाती है कि यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान एवं दयालु है तो फिर जगत में अशुभ क्यों है? क्या सर्वशक्तिमान एवं दयालु ईश्वर, ऐसे जगत की रचना नहीं कर सकता जो दु:ख रहित हो? यदि वह ऐसा नहीं कर सकता तब या तो वह सर्वशक्तिमान नहीं है या फिर वह दयालु नहीं है।

इसी प्रकार बौद्ध दार्शनिकों ने भी ईश्वर की सत्ता का निषेध कर ईश्वर विहीन धर्म की स्थापना की है। महात्मा बुद्ध का उद्देश्य अत्यन्त ही व्यावहारिक था, इसीलिए वे ईश्वर और आत्मा जैसे विषयों पर चिन्तन करने की अपेक्षा दु:ख–मुक्ति का उपाय बताना चाहते थे। उनके अनुसार ईश्वर एवं आत्मा से

सम्बन्धित प्रश्नों पर विचार करना वैसे ही हैं, जैसे किसी व्यक्ति के पैर में कॉंटा चुभा हो, लेकिन वह निकालवाने के बजाय यह कहे कि मैं इसे तब तक निकालने नहीं दूँगा, जब तक मुझे यह न बता दिया जाय कि इसे चुभाया किसने है। इसी प्रकार वे मानते थे कि ईश्वर व आत्मा पर चर्चा उसी प्रकार हास्यास्पद है, जिस प्रकार किसी सुन्दर रमणी की सत्ता में विश्वास। इसीलिए वे कहा करते थे कि भिक्षुओं! मैं तुम्हें केवल दो ही बातों का उपदेश देता हूँ : दु:ख एवं दु:ख–निरोध। दु:ख संसार है, जबकि दु:ख–निरोध निर्वाण।

अपनी इसी मान्यता के आधार पर वे ईश्वर की सत्ता का निषेध करते हैं। उनके अनुसार ईश्वरवादी, ईश्वर को नित्य एवं पूर्ण मानते हैं साथ ही साथ उसे जगत का स्रष्टा भी। यदि ईश्वर सृष्टिकर्ता है तो सृष्टि में अनित्यता क्यों है? जिस सृष्टि का कर्ता नित्य एवं पूर्ण ईश्वर हो, उस सृष्टि में अनित्यता एवं अपूर्णता नहीं होनी चाहिए। लेकिन जगत में अनित्यता एवं अपूर्णता है। अत: इसका कारण नित्य एवं पूर्ण ईश्वर कैसे हो सकता है? दूसरा, यदि ईश्वर ने ही सृष्टि की रचना की है तब जगत में दु:ख क्यों है? दु:ख की समस्या, सभी ईश्वरवादियों के लिए एक इतनी दुर्बोध समस्या है जिसका कोई भी ईश्वरवादी सम्यक् समाधान करने में असफल रहता है। इसी कारण वे ईश्वर का निषेध करते हुए **'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय'** का उपदेश देते हैं, जो कालांतर में महायान दर्शन में **'बोधिसत्व'** की अवधारणा के रूप में विकसित होता है।

बौद्ध दार्शनिक कर्म को ही महत्व देते हुए, ईश्वर के न्यायाधीश स्वरूप का भी निषेध करते हैं। उनके अनुसार ईश्वर कर्म फलदाता नहीं है, बल्कि मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार ही अच्छा – बुरा फल भोगता है। यदि कोई व्यक्ति पाप कर्म करता है तो क्या पश्चाताप के उपरान्त वह पापों से मुक्त हो जायेगा? ऐसा कदापि सम्भव नहीं है। **ब्रह्मजातसुत्त** (जो बुद्ध के संवादों पर आधारित है) के दूसरे अध्याय में ब्रह्मा के आदि–देवता होने की और उसकी कल्पना द्वारा अन्य देवताओं के निर्माण पर अत्यंत ही सूक्ष्म व्यंग्य किया गया है। इसी प्रकार **केवड्ढसुत्त** में सब देवता ब्रह्मा को महान मानते हैं और बुद्ध तो ब्रह्म से भी महान हैं। एक बौद्ध भिक्षु ने ब्रह्मा से पूछा – ''ये चार मूल तत्व कहाँ तक जाते हैं तो ब्रह्मा ने उत्तर दिया – मेरे आस–पास के देवताओं के कारण मैं देख नहीं पाता, सो उत्तर नहीं दे सकता। इसलिए, बुद्ध के पास जाओ, वही बतायेगें।'' **बोधिचर्यावतार** में ईश्वर

के अनस्तित्व के लिए तीन तर्क दिये हैं (अध्याय ९, पद ११९)।

- ईश्वर ने आत्मा या अन्य वस्तुएँ उत्पन्न नहीं की, ये तो सदैव से ही हैं। ईश्वर ज्ञान भी उत्पन्न नहीं करता, क्योंकि ज्ञान वस्तुओं से निर्मित होता है। पुनश्च, वह सुख–दुःख का कर्ता भी नहीं, क्योंकि वह तो व्यक्ति के कर्म से होता है।
- यदि सृष्टि ईश्वर की इच्छा का परिणाम है तो वह आप्तकाम कैसे हो सकता है? पुनश्च, प्रश्न उठता है कि इच्छा का निर्माता कौन है, यदि वह इच्छा पर निर्भर है तो वह स्वतंत्र कैसे हो सकता है?
- यदि वह सबसे स्वतंत्र है, तो उत्पत्ति, स्थिति और लय एक साथ क्यों नहीं करता। जो आदि कारण है, वह सब कर सकता है। अतः सब कुछ क्षणिक है।

इसी प्रकार मानववादी धर्म में भी ईश्वर की अपेक्षा मनुष्य को महत्व दिया गया है। मानववाद एक प्रकार का मानव केन्द्रित दर्शन है, जिसके अनुसार मानवीय हित ही सर्वोपरि है। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इसके अन्तर्गत एक मात्र मानव का ही अस्तित्व माना जाता है। निःसंदेह मनुष्य के अतिरिक्त अन्य का भी अस्तित्व है, फिर भी मानववाद, मानव को केन्द्रीय स्थान प्रदान करता है, क्योंकि मनुष्य ही मूल्यों का स्रोत है।

'न्यू आक्सफोर्ड एडवांस लर्नर्स डिक्शनरी' के अनुसार मानववाद मनुष्य के हितों का समाधान धार्मिक विश्वासों की अपेक्षा, तर्कबुद्धि के आधार पर करना चाहता है। वहीं कालिन्स **'कन्साइज डिक्शनरी'** के अनुसार, मानववाद अपने प्रयत्नों द्वारा मानवता के विकास के पक्ष में धर्म का परित्याग है। जबकि फिंगर हीआर्थ अपनी पुस्तक **'इन्ट्रोडक्शन टू ह्यूमेनिज्म'** में लिखते हैं कि मानववाद वह विचारधारा है, जो मानव को केन्द्र में रखती है। यह मानवहित, मानव कल्याण, मानव गरिमा एवं मानवीय मूल्यों को सामने रख कर चलती है। इस प्रकार मानववाद में बुद्धिवादी प्रवृत्तियाँ अत्यधिक हैं। लेकिन यहाँ बुद्धिवाद का तात्पर्य केवल इतना है कि जो सभी प्रकार की पूर्व मान्यताओं एवं पूर्वाग्रहों से रहित होकर प्रयोग एवं निरीक्षण पर आधारित हो एवं जिसका बौद्धिक विवेचन सम्भव हो सके।

इस प्रकार **मानववाद** (Humanism), **मानवतावाद** (Humantaria-nism) नहीं है;

- मानवतावाद ईश्वर को केन्द्र में रखते हुए मानवीय कल्याण एवं उसके उत्थान की बात करता है, जबकि मानववाद मनुष्य को ही सर्वशक्तिमान मानकर उसकी सेवा को परम धर्म मानता है।
- मानवतावाद एक प्रकार का नियतिवादी एवं भाग्यवादी दर्शन है, जबकि मानववाद मानव को ही अपना भाग्य निर्माता मानता है।
- मानवतावाद के अनुसार ईश्वर ही मूल्यों का अन्तिम स्रोत है, जबकि मानववाद के अनुसार मनुष्य ही मूल्यों का स्रोत है।
- मानववाद वैज्ञानिक दृष्टिकोण है, क्योंकि यह बौद्धिकता पर आधारित है, जबकि मानवतावाद धार्मिक या आध्यात्मिक है, क्योंकि यह मूलतः आस्था पर आधृत है।
- मानवतावादी, नैतिकता को धर्म का प्रथम सोपान मानते हैं, जबकि मानववादी नैतिकता को ही धर्म मानकर 'ईश्वर विहीन धर्म' की स्थापना करते हैं।
- मानवतावाद का केन्द्र सभी प्राणी हैं, जबकि मानववाद का केन्द्र केवल मनुष्य है।
- मानवतावादियों का उद्देश्य ईश्वर–साक्षात्कार है, जबकि मानववादी ईश्वर की सत्ता का ही निषेध करते हैं।
- मानववाद मनुष्य को प्रकृति का विजेता मानता है जबकि मानवतावाद मनुष्य को प्रकृति का अंग मानता है।

मानववादी अवधारणा का आरम्भ ग्रीक दार्शनिक प्रोटागोरस के दर्शन से होता है, जब वह कहता है कि 'मनुष्य ही सभी वस्तुओं का मापदण्ड है' (Man is the measure of all things)। यही मानववाद की मूल संकल्पना है। इसी प्रकार मार्क्स भी कहता है कि 'मनुष्य मानवता की जड़ है' (Man is the root of mankind)। इसके अतिरिक्त चीन में कन्फ्यूशियस, ताओवाद, पाश्चात्य दर्शन में ऑगस्त काम्टे, जॉन डीवी, एरिक फ्रॉम, हर्बर्ट स्पेंसर, जॉन हास्पर्स, बी० रसेल, मार्क्स, जे० पी० सार्त्र, बुल्टमान, पॉल तिलिक, नीत्से, अल्टिजर्स, हैमिल्टन, एवं डान हाफर तथा भारतीय परम्परा में रवीन्द्र नाथ टैगोर, एम०एन० राय, नेहरू प्रभृति के दर्शन में मानववादी अवधारणा प्रतिध्वनित होती है।

चीन में कन्फ्यूसियस धर्म ईश्वर की अपेक्षा, मानव को अधिक महत्व देता है। एक समय कन्फ्यूसियस का एक शिष्य चीलू पूछता कि मैं ईश्वर की सेवा किस प्रकार कर सकता हूँ। इस पर कन्फ्यूसियस ने उत्तर दिया कि जब तुम्हें यह ज्ञान नहीं कि मनुष्य की सेवा किस प्रकार की जाय तब तुम देवों की सेवा के बारे में किस प्रकार पूछ सकते हो? वे सदैव ही अपने शिष्यों को ईश्वर से सम्बन्धित प्रश्नों को पूछने के लिए हतोत्साहित करते थे। वे मनुष्य को पूर्णत: सत्य एवं मानवीय सेवा को जन्मजात मानते थे। मानववाद सभी मनुष्यों के प्रति प्रेम की भावना का प्रकाशन करता है। इसी प्रकार ताओवाद (चीन) में भी मानव को ही महत्व दिया गया न कि ईश्वर को।

प्रत्यक्षवादी दार्शनिक अगस्त काम्टे भी ईश्वर विहीन धर्म की स्थापना करता है। काम्टे अपने प्रत्यक्षवादी मान्यता के आधार पर जहाँ एक ओर अतीन्द्रिय सत्ता का खण्डन करता है वहीं दूसरी ओर मानव को सर्वोच्च मानते हुए मानवहित का प्रतिपादन करता है। काम्टे के अनुसार मानवीय ज्ञान के विकास की उत्तरोत्तर तीन अवस्थायें है: **धार्मिक, तात्विक एवं वैज्ञानिक**। सर्वप्रथम आदिम समाज में जब मनुष्य की बुद्धि विकसित नहीं थी, तब वह प्राकृतिक घटनाओं को समझने में असमर्थ था। अत: प्रत्येक प्राकृतिक घटना के पीछे किसी न किसी अतीन्द्रिय सत्ता का हाथ मान लेता था। यहीं से धर्म का अभ्युदय होता है। जब मनुष्य की बुद्धि विकसित होती है, तब वह तर्क करना आरम्भ कर देता है। यह ज्ञान की दूसरी अवस्था है, जिसे वह तात्विक अवस्था कहता है। परन्तु जब बुद्धि परिपक्वता की पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है, तब मनुष्य यह दावा कर देता है कि जो कुछ भी निरीक्षण और प्रयोग के बाहर होगा, हम उसे कदापि स्वीकार नहीं करेगें। इस स्तर पर ईश्वर स्वत: गायब हो जाता है। इस प्रकार काम्टे के अनुसार ईश्वर मनुष्य की अविकसित बुद्धि की माँग है। इसीलिए वह कहता है कि **हमारा ज्ञान मानवता के ज्ञान के प्रति समर्पित है, हमारा स्नेह उसके प्यार में तथा मेरा कार्य उसकी सेवा में**। काम्टे के अनुसार मानववाद वह धर्म है जो कला से परिपूर्ण होने के बावजूद भी विज्ञान का विरोधी नहीं है, बल्कि यह मानव को ही सर्वोच्च मानकर उसकी सेवा को परम धर्म मान लेता है। जब मानव को साध्य मान लिया जाता है तब ईश्वर का अस्तित्व स्वत: खण्डित हो जाता है।

टी०एच० हक्सले **''एसेज अपॉन कन्ट्रोवर्सियल क्वेश्चन्स''** में लिखता

हैं कि मनुष्य अपनी सीमित बुद्धि द्वारा असीमित ईश्वर या अति प्राकृतिक सत्ताओं का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। अत: उनके अनुसार ईश्वर के संदर्भ में हमें निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहना चाहिए तथा इस सम्बन्ध में अपने निर्णय को स्थगित रखना ही सर्वथा उचित एवं तर्कसंगत दृष्टिकोण है। इसी कारण हक्सले सृष्टि की आदि से अन्त तक व्याख्या शक्ति के रूप में करते हैं।

रसेल भी ईश्वर का खण्डन करता है वह अपनी पुस्तक **''ह्वाय आई एम नाट ए क्रिश्चियन''** में लिखता है कि मैं ईश्वर को तब तक मानता रहा, जब तक जे०एस० मिल की आत्मकथा को नहीं पढ़ा था। उसके अनुसार जे०एस० मिल अपनी आत्मकथा में लिखता है कि एक बार उसके पिता (जेम्स मिल) ने कहा कि तुम्हें किसने पैदा किया, मैं इसका उत्तर नहीं दे सकता? क्योंकि तब प्रश्न उठेगा कि मुझे किसने पैदा किया और इस प्रकार अन्तत: ईश्वर आयेगा। रसेल के अनुसार यदि प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण है तब ईश्वर अकारण कैसे हो सकता है? और यदि ईश्वर अकारण हो सकता है तब सृष्टि क्यों नहीं? जो ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मानते हैं, उन पर आक्षेप करते हुए वह कहता है कि मुझे समझ में नहीं आता कि इतनी विसंगतियों यथा, अकाल, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, ज्वालामुखी, जो लाखों लोगों को काल के गाल में सुला देते हैं, के बावजूद भी कैसे कुछ लोग यह मान लेते हैं कि इस सृष्टि का कर्ता कोई सर्वशक्तिमान और दयालु ईश्वर है। उसके अनुसार मुझे तो बड़ा आश्चर्य होता है कि एक असीमित ईश्वर अनन्त काल के प्रयासों के बावजूद भी एक सामंजस्य पूर्ण सृष्टि की स्थापना करने में असफल रहा।

इसी प्रकार वाल्टेयर अपने उपन्यास **''कैण्डिड''** में ईश्वरवादी मतों पर प्रहार करते हुए कहता है कि ईश्वरवादी मान लेते हैं कि इस सृष्टि का सृजनकर्ता ईश्वर है। यथा, लाइबनीज कहता है कि यह जगत ईश्वर की सर्वोत्तम रचना है और पूरी तरह सामंजस्य पूर्ण है। **वाल्टेयर के अनुसार सृष्टि को सामंजस्यपूर्ण मानना वैसे ही है जैसे हमारे चेहरे पर नाक है, जिससे कि हम चश्मा पहन सकें।** वास्तव में चश्मे के लिए नाक नहीं है, बल्कि नाक के अनुरूप चश्मा है। उसी प्रकार सृष्टि में कोई सामंजस्य नहीं है और यदि कहीं सामंजस्य है तो वह मनुष्य के अथक प्रयत्नों का प्रतिफल है। पुनश्च, वह लिखता है कि एक बार डा० पैनग्लास निरीक्षकों के द्वारा पकड़ लिये गये और उन्हें फाँसी की सजा हो गयी।

लेकिन फॉसी से वे मरे नहीं, मूर्छित हो गये। लेकिन उन्हें मरा हुआ समझकर एक डाक्टर ने अपने प्रयोग करने के लिए उनके शरीर को क्रय कर लिया। उसे अपने प्रयोगशाला में ले जाने के उपरान्त ज्योंही उसके पेट को चीरा, वह कराहने लगा। तत्पश्चात् उस डाक्टर ने उसका उपचार कर एक सौदागर के हाथ बेचं दिया। सौदागर ने डाक्टर पैनग्लास को एक नदी के घाट पर नियुक्त कर दिया, जहाँ उनका काम था इधर से सामान लादकर उधर उतारना तथा उधर से समान लादकर इधर उतारना। इसी बीच डाक्टर पैनग्लास का शिष्य कैण्डिड पहुँचा । उसने डाक्टर पैनग्लास को पहचान लिया। फिर उसने पूछा कि क्यों डाक्टर पैनग्लास क्या आप अभी यह मानने को तैयार हैं कि इस सृष्टि का रचयिता कोई सर्वशक्तिमान ईश्वर है, जिसने एक सामंजस्य पूर्ण सृष्टि की रचना की है? इस पर डा० पैनग्लास ने उत्तर दिया कि **दार्शनिक वही होता है, जो बिना परीक्षण के किसी बात को स्वीकार नहीं करता।** स्पष्टत: इसके माध्यम से वाल्टेयर दिखाने का प्रयास करता है कि यदि बिना ईश्वर के ही सृष्टि की व्याख्या की जाय, तो वह अत्यधिक संतोषजनक होगी।

अर्थक्रियावादी दार्शनिक जॉन डिवी भी धर्म के लिए किसी अनुभवातीत सत्ता को स्वीकार नहीं करता। यद्यपि वह ईश्वर शब्द का प्रयोग तो करता है परन्तु इसका अर्थ किसी अप्राकृतिक सत्ता के लिए नहीं करता। उसके अनुसार ऐसा समझना ईश्वर के महत्व को कम करना है। सामान्यत: जो ईश्वर को मानता है वह उसे सृष्टि का **आदि कारण** के साथ ही साथ **आदर्श** भी मानता है। परन्तु जो आदि कारण है वह तो पहले से ही है, और जो पहले से है वह आदर्श नहीं हो सकता। आदर्श तो सर्वथा अनुपलब्ध रहता है। अत: अनुभूति ही आदर्शों की जननी है, जो बाहर से आरोपित नहीं होती बल्कि परिस्थितियों की उपज होती है। जो आदर्श अनुभूति की पूर्ण व्यापकता से सम्बन्धित है, वही पूर्ण आदर्श है और ऐसे आदर्श को ही ईश्वर कहना चाहिए। इस प्रकार **जॉन डिवी के अनुसार ईश्वर कोई सत्ता नहीं है, बल्कि एक मूल्य है और इस मूल्य को समग्र मानवता के परिप्रेक्ष्य में अंगीकार करना ही परम साध्य होना चाहिए।**

ऐरिक फ्राम **"साइकोएनालिसिस एण्ड रिलिजन"** में ईश्वर विहीन धर्म की स्थापना करता है। फ्राम के अनुसार धर्म मूलत: दो प्रकार का होता है: **निरंकुश धर्म एवं मानवीय धर्म**। मानवेतर शक्ति के समक्ष आत्म समर्पण, निरंकुश धर्म की

ि‍वशेषता है। इसमें ईश्वर शक्ति एवं सत्ता का प्रतीक होता है। इसके विपरीत मनुष्य एवं उसकी शक्ति पर आधारित धर्म मानवीय धर्म है। इसके अनुसार धार्मिक अनुभूति का अर्थ है सबके प्रति एकता का भाव और सबसे बड़ी सद्वृत्ति है आत्मलाभ न कि आत्मसमर्पण। इस प्रकार फ्राम ईश्वर से पृथक धर्म का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है।

जे० मिल्टन यिंगर **"सोसाइटी एण्ड इण्डिविजुअल"** में ईश्वर को तो नहीं परन्तु **देशभक्ति** को ही धर्म की संज्ञा देता है। उसके अनुसार श्रद्धा, प्रतीक, आराधनापूर्ण कृत्य, संगठन यह सभी विशेषतायें एक विशिष्ट देश के आसपास इकट्ठा हो जाती हैं। **यिंगर इसे देश के धर्मीकरण की संज्ञा देता है, न कि धर्म का देशीकरण।**

अस्तित्ववादी दार्शनिक जे०पी० सार्त्र **"एग्जिस्टेंसियलिज्म एवं ह्यूमनिज्म"** में ईश्वर का निषेध करता है। उसके अनुसार ईश्वर को मानने पर व्यक्ति की स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है। यही नहीं जो ईश्वर को मानता है वह उसे चेतन एवं पूर्ण दोनों ही मानता है। लेकिन जो चेंतन होगा, वह पूर्ण नहीं हो सकता क्योंकि चेतना तो विषयापेक्षी होती है। इस प्रकार चेतना अभाव का द्योतक है, जबकि ईश्वर पूर्णता का प्रतीक है। इसीलिए सार्त्र ईश्वर के प्रत्यय को आत्मविरोधी प्रत्यय कहता है। अपनी इसी मान्यता के आधार पर सार्त्र मूल्यों का स्रोत ईश्वर को न मानकर व्यक्ति को मानता है। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति मूल्यों का स्रोत है, लेकिन प्रत्येक का प्रत्येक निर्णय नैतिक निर्णय नहीं हो सकता। किसी भी व्यक्ति का केवल वही निर्णय नैतिक होता है जो समग्र मानवता के परिप्रेक्ष्य में लिया गया हो, अर्थात् जिसके प्रति उस व्यक्ति की प्रतिबद्धता हो। इस प्रकार जे०पी० सार्त्र ईश्वर की अपेक्षा मनुष्य पर सर्वोच्च ध्यान देते हुए मानवहित को परमधर्म के रूप में स्वीकार करता है।

नीत्से अपनी पुस्तक **'गे साइंस"** में दिखाता है कि एक वृद्ध व्यक्ति अर्ध विक्षिप्तता की अवस्था में ईश्वर को खोजने चलता है परन्तु वह ईश्वर को खोजने में असफल रहता है और अन्त में वह दावा करता है कि उसने ईश्वर को मार डाला। वह मर गया, परन्तु यह बात अभी तक लोगों तक नहीं पहुँच पायी है। इस कथन से नीत्से का तात्पर्य केवल इतना है कि सामान्यतः ईसाई धर्म में ईश्वर को मूल्यों का स्रोत माना गया है। लेकिन उसके अनुसार जब हम ईश्वर के

समक्ष अपने आपको समर्पित कर देते हैं तो ऐसा करके हम मनुष्य को शक्तिहीन बना देते हैं। यह दासों की नैतिकता है। इसीलिए वह दास–नैतिकता के स्थान पर स्वामी–नैतिकता की स्थापना करना चाहता है। जहाँ मनुष्य सर्वोच्च ईश्वरीय गुणों, जैसे शारीरिक, बौद्रिक, आध्यात्मिक आदि सभी दृष्टियों से पूर्ण होगा। ऐसे ही मानव को नीत्से अति–मानव (Superman) की संज्ञा देता है। इस प्रकार नीत्से ईश्वर का खण्डन करके मनुष्य को ही ईश्वर तुल्य मान लेता है।

इसी प्रकार थॉमस जे०जे० अल्टीजर्स, हैमिल्टन आदि ने नीत्से की तरह केवल आलंकारिक अर्थ में ही नहीं माना कि ईश्वर की मृत्यु हो गयी बल्कि इन दार्शनिकों ने तो वास्तविक रूप में यह स्वीकार कर लिया कि ईश्वर मर गया है। इनके अनुसार पहले तो ईश्वर था और वह जीवित भी था परन्तु अब उसकी मृत्यु हो गयी है। लेकिन ईश्वर की मृत्यु कब हुई? जब ईश्वर ने मनुष्य (जीसस) के रूप में जन्म लिया । इसका तात्पर्य यह है कि जीसस से पूर्व ईश्वर शुद्ध आत्मा के रूप में था। परन्तु मनुष्य (जीसस) के रूप में जन्म लेने के उपरांत वह केवल साधारण मनुष्य के रूप में रह गया। पुनश्च, जब जीसस को शूली पर चढ़ा दिया गया, तो उसकी वास्तव में मृत्यु हो गयी। अत: अब ईश्वर को मानने की कोई आवश्यकता नहीं हैं।

बीसवीं शताब्दी में जर्मन दार्शनिक रूडोल्फ बुल्टमान भी यह मानने लगा कि अब परम्परागत ईसाई धर्म की अवधारणा अप्रासंगिक हो गयी है। बाइबिल केवल मिथकों पर आधारित रह गया है, जिसकी पुनर्व्याख्या की आवश्यकता है। परम्परागत ईसाई धर्म में जगत की उत्पत्ति काल्पनिक ढंग से की गयी है। इसी प्रकार त्रिस्तरीय विश्व, एक स्वर्गिक शहर, पापों से मुक्ति प्रभृति विचार अप्रासंगिक हो गये हैं। आगे वह लिखता है कि परम्परागत धर्मों में ईश्वर को निरंकुश बना दिया गया है। लेकिन अब ऐसे ईश्वर की आवश्यकता है जो निरंकुश शासक की मान्यता से रहित हो। इसी प्रकार ईश्वर को विश्वातीत माना गया है। यदि उस विश्वातीत की व्याख्या, विश्व के द्वारा नहीं हो सकती तो ऐसे ईश्वर को मानने की क्या आवश्यकता है? अब वह समय आ गया है, जहाँ सब कुछ इसी विश्व के माध्यम से व्याख्यायित हो। इन सबकी नूतन परिप्रेक्ष्य में व्याख्या करने की आवश्यकता है, जिसे वह **"अमिथकीकरण"** की संज्ञा देता है। यही नहीं, जीसस शूली पर चढ़ाये जाने के बाद भी जीवित हो गये यह कैसे

सम्भव हो सकता है। कोई भी शिक्षित मनुष्य, इसे कदापि स्वीकार करने को तैयार नहीं होगा। अत: हमें जीसस की अपेक्षा उससे सम्बन्धित केवल मूल्यों को मानना चाहिए। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी है, वह सब मिथ्या है। कार्ल यास्पर्स भी विश्वातीत या उस पार सम्बन्धी ईश्वर की अवधारणा को निराधार एवं काल्पनिक मानता है। इसके अलावा दिव्य चक्षु, तृतीय नेत्र एवं अन्त:प्रज्ञा आदि का ज्ञान असम्भव सा दिखता है। इस प्रकार यास्पर्स ईश्वर के अस्तित्व को संदेहास्पद मानता है।

इसका प्रभाव पॉल तिलिक के ऊपर पड़ा। तिलिक के अनुसार सत्ता (Existence) ससीम है। अत: इसका कोई न कोई कारण होना चाहिए और वह कारण कोई असीम सत्ता ही हो सकती है, जिसे वह ईश्वर कहता है। वह ईश्वर को सार (Essence) भी कहता है, जो चैतन्य मन के द्वारा पूर्णरूपेण जाना नहीं जा सकता। अस्तित्व, उसी सार पर निर्भर है। इस प्रकार सार ही सत्ता का आधार एवं स्रोत है। लेकिन एक तरफ सार असीमित है जबकि दूसरी तरफ सत्ता सीमित है। अत: सत्ता एवं सार में अलगाव हो जाता है। तिलिक के अनुसार इसी कारण मनुष्य एवं ईश्वर में अलगाव हो गया है।

पॉल तिलिक मानता है कि जीसस वह नूतन सत्ता है, जिसमें सार एवं सत्ता का अलगाव समाप्त हो जाता है क्योंकि जीसस के सीमित होने के बावजूद भी सार उसमें अभिव्यक्त हो गया हैं। तिलिक के अनुसार यह सत्ता के वास्तविक स्वरूप के संदर्भ में एक प्रकार का प्रतिगामी कदम है। जहाँ सार और सत्ता के बीच खाई समाप्त हो गई। इस प्रकार सार जो असीमित है, सीमित सत्ता में व्यक्त हो गया है। तिलिक मानता है कि जीसस ईश्वर नहीं हो सकते बल्कि वे ईश्वर के प्रकाशित रूप हैं। जबकि ईसाई धर्म में उसे ईश्वर माना जाता है, जो उचित नहीं है। उनके अनुसार जीसस मनुष्य के परम साध्य का प्रतीक मात्र है। अत: जीसस एवं मनुष्य में अत्यधिक विभेद नहीं है, सिवाय यह कि उनमें सार की अभिव्यक्ति हुई है।

इस प्रकार तिलिक के अनुसार ईश्वर का अस्तित्व नहीं है, क्योंकि वह तो सार एवं सत्ता दोनों से परे है। अत: यह कहना कि ईश्वर की सत्ता है एक प्रकार से उसके असीम स्वरूप की उपेक्षा करना है। इसका तात्पर्य यह है कि ईश्वर की सत्ता नहीं है। क्योंकि सत्ता मानने पर वह सीमित हो जाता है और सीमित

सत्ता तो विसंगतियों से पूर्ण होती है। तिलिक के अनुसार वास्तविक धर्म वह है जो असीमित को पूर्णरूपेण अभिव्यक्त करे। परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है कि असीमित, सीमित सत्ता के माध्यम से अभिव्यक्त हो। अत: असीमित केवल प्रतीकों एवं उपमाओं के द्वारा ही व्यक्त हो सकता है। इस प्रकार सम्पूर्ण बाइबिल केवल प्रतीकात्मक ही है। इसी प्रकार सम्पूर्ण आध्यात्मिक एवं ईश्वरवादी ज्ञान प्रतीक के अलावा कुछ भी नहीं है। उसके अनुसार यह प्रतीक आस्था के लिए महत्वपूर्ण है, क्योंकि प्रतीकों के बिना आस्था केवल मूर्ति पूजा ही है। इस प्रकार तिलिक व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर की अवधारणा का निषेध करता है। यह एक निरीश्वरवादी कथन है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह ईश्वर को नहीं मानता। ईश्वर को तो मानता है, लेकिन ईसाई धर्म की अवधारणा को केवल प्रतिबिम्ब कहता है।

जर्मन दार्शनिक डान हाफर भी मानता है कि अब मनुष्य परिपक्व हो गया है। अत: परम्परागत ईश्वर को मानना, उसके लिए सम्भव नहीं रहा। ईश्वर ने जगत की रचना की, उसने अपने आपको प्रकाशित किया। आधुनिक तकनीकी के युग में यह केवल एक मिथक मात्र ही है। प्रारम्भ में जिस रूप में ईश्वर को माना जाता था, उसका काम था, ज्ञान की कमियों या रिक्तियों को भरना, लेकिन जबसे डार्विन ने अपने विकासवाद का प्रतिपादन किया, तब से इस मिथक का भी अन्त हो गया कि ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता है। अब न तो ईश्वर की आवश्यकता बाह्य जगत के लिए है और न ही आन्तरिक जगत के लिए क्योंकि बिना ईश्वर के भी मानव अपनी समस्याओं का समाधान कर सकता है। वह अपनी पुस्तक **''लेटर्स फ्राम प्रिजन''** में लिखता है कि धार्मिक जीवन भी अब ईश्वर के बिना उसी प्रकार चल सकता है, जैसा कि प्रारम्भ में ईश्वर से युक्त होकर चलता था। इस प्रकार प्रारम्भिक जीवन जो ईश्वरयुक्त था, अब ईश्वर मुक्त हो गया है। इसीलिए डान हाफर लिखते हैं कि धर्म का अर्थ है जीसस द्वारा बताया गया आदर्श, जैसे दु:ख–मुक्ति, दूसरों के लिए जीना प्रभृति। इसके लिए ईश्वर को मानना आवश्यक नहीं है।

कुछ दार्शनिक तो ईश्वर शब्द को ही निरर्थक मान लेते हैं। उनके अनुसार तार्किक एवं व्याकरणिक दृष्टि से ईश्वर सम्बन्धी कथन भ्रम या संशय उत्पन्न करता है क्योंकि इन कथनों के अर्थ एवं महत्व का निर्धारण नहीं हो सकता

है। आर०एस० हाईनवैक तो इसे अपनी पुस्तक "**थियोलॉजी एण्ड मीनिंग**" में तो ईश्वर को ज्ञान का विषय भी नहीं मानते। इसके अलावा कुछ दार्शनिक इस कथन को तत्वमीमांसीय दृष्टिकोण से भी अर्थहीन मानते हैं। उनके अनुसार जो स्वयं में परम रहस्य है, उसकी चर्चा करना निरर्थक नहीं तो क्या है? पॉल बान बुरेन भी ईश्वर एवं उसके समानार्थक शब्दों की निरथर्कता के आधार पर सर्वप्रथम ईश्वर विहीन ईसाई मत की तर्कसंगत व्याख्या करता है। इसी प्रकार एफ० फेरे, डब्ल्यू०टी० ब्लैकस्टोन प्रभृति ने भी ईश्वर शब्द की निरर्थरता का समर्थन किया है।

भारतीय परम्परा में रवीन्द्र नाथ टैगोर, एम०एन० राय, नेहरू प्रभृति को मानववाद के अग्रदूत के रूप में स्वीकार किया जाता है। टैगोर के अनुसार मानव ससीम एवं असीम की समष्टि है। शारीरिक दृष्टि से तो वह सीमित है, परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से वह असीमित है। इस धर्म में मानव को आराधना का विषय माना गया है। टैगोर मनुष्य को ही सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी मानते हैं और अन्य सभी जगत केवल उसी की श्रेष्ठता दिखाने के लिए ही है। उनके अनुसार असीम का पूर्ण उद्घाटन तारों भरे आकाश में नहीं, बल्कि मनुष्य की आत्मा में होता है। मानव आत्मा अतुलनीय है, क्योंकि ईश्वर अपने आपको उसमें विशेष प्रकार से प्रकट करता है। अत: यह कहा जा सकता है कि मनुष्य से अधिक सत्य और कुछ नहीं। १९३१ के शान्ति निकेतन भाषण के दौरान टैगोर ने कहा था कि **"मनुष्य की वीणा में बहुत से तार हैं कुछ लोहे के, कुछ तांबे के परन्तु ईश्वर की वीणा में सोने का तार केवल मनुष्य है।"**

स्पष्टत: **टैगोर आध्यात्मिक मानववाद के प्रतिपादक हैं**। वे समग्र सत्य ईश्वर को भी मानवता की दृष्टि से परिभाषित करते हैं। उनके अनुसार परम सत्ता मानवीय है। यदि परमसत्ता में मानवीय अंश न हो तो वह मनुष्य के भीतर सर्वोत्तम अंश उसकी महानता को संतुष्ट नहीं कर सकता। इसीलिए टैगोर ने अपनी पुस्तक "**दि रिलीजन ऑफ मैन**" में लिखा है कि ईश्वरीय सत्ता को चाहे जो नाम दिया जाय, परन्तु उसे अपने मानवीय स्वरूप के कारण ही हमारे धर्म के इतिहास में सर्वोच्च स्थान मिला है। वह पूर्णता के उन समस्त आदर्शों के लिए चिन्तन पृष्ठभूमि प्रस्तुत करती है, जिसका मनुष्य ने अपने स्वभाव से सामंजस्य है। वे लिखते हैं कि मेरा धर्म मानव धर्म है जो असीम मानवता में परिभाषित होता है।

अर्थात् धर्म कुछ मानवीय गुणों को ईश्वर में आरोपित करने में नहीं अपितु ईश्वर की मानवता की सिद्धि में है।

एम०एन० राय भी अपनी पुस्तक **"न्यू ह्यूमनिज्म"** तथा अन्यत्र अपनी रचनाओं में नव मानववाद या अविकल मानववाद या वैज्ञानिक मानववाद की स्थापना करते हैं। राय के अनुसार मनुष्य ही सब कार्यों का केन्द्र बिन्दु है। राय अपने मानववाद में किसी बाह्य, रहस्यमय तथा अतिप्राकृतिक सत्ता का निषेध करते हुए कहते हैं कि इतिहास मनुष्य के क्रिया कलापों का लेखा–जोखा है। वे अध्यात्मवाद को एक अंध विश्वास मानते हुए कहते हैं कि मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। उसमें इतनी क्षमता है कि वह संसार को आज के बजाय अधिक सुन्दर और श्रेष्ठ बना दे, क्योंकि मनुष्य स्वभावत: विवेकपूर्ण तथा नैतिक है। इस प्रकार वे मानववाद को विवेक और लौकिक आत्मा पर आधारित मानते थे। यही नव मानववाद है।

राय लिखते हैं कि यदि मानव अपने लिए एक नवीन, जीवन–दर्शन की सृष्टि नहीं करता तो वह अपने आप का विश्वास खो बैठेगा तथा सदा के लिए मार्ग च्युत हो जायेगा। अत: सामाजिक ढॉचे का नवनिर्माण एवं मानव जीवन को सौहार्दपूर्ण एवं सुखमय बनाने के लिए मानव का पुनर्मूल्यांकन नव मानववाद का ध्येय है।इसी प्रकार वे लिखते हैं कि मानव की स्वतंत्रता ही उसे बर्बरता से सभ्यता की ओर बढ़ने में सहायक हुई है। मानव विवेकपूर्ण चिंतन तथा ज्ञान के आधार पर ही अपने तथा बाह्य विश्व के अस्तित्व को समझ सकता है। अंध विश्वास तथा धार्मिक मतान्धता से ऊपर उठकर, वह ईश्वर की सत्ता को चुनौती देते हुए स्वयं को ढूढ़ने का प्रयास करता है।

इसी मानवीय स्वतंत्रता के रक्षार्थ राय उन सभी प्रकार की मान्यताओं को खण्डित करते हैं जो व्यक्ति के स्वतंत्र चिंतन एवं जीवन में बाधक बने हुए हैं। इसमें सर्वाधिक प्रमुख अवधारणा धर्म (ईश्वर का अस्तित्व) है। उन्हें मानवतावाद की धर्मभीरूता स्वीकार्य नहीं थी, क्योंकि उनके अनुसार धर्म का मिश्रण कभी भी मानववाद को विनष्ट कर सकता है। अंत: वे मनुष्य को सर्वोपरि मानते हुए किसी भी प्रकार के अतीन्द्रिय सत्ता का निषेध करते हैं। उनके अनुसार धर्म का दुष्प्रभाव यह रहा है कि व्यक्ति अपनी मुक्ति की जिम्मेदारी ईश्वर पर सौंप कर स्वयं आलसी एवं निकम्मा हो जाता है। यह अकर्मण्यता की स्थिति है। इस आदि–पाप

एवं आदि–पतन से मनुष्य की मुक्ति अनिवार्य है। राय के अनुसार आदि–पाप का अर्थ है अनादि काल से चला आ रहा अज्ञान, जबकि आदि–पतन का तात्पर्य है कि मनुष्य अपने आपको अन्य की तुलना में कमजोर एवं असमर्थ समझने लगे। राय के अनुसार इससे मुक्त होना आवश्यक है जिससे मानव में आत्म–विश्वास जागृत हो सके और वह अपने उद्धार का प्रयास कर सके। राय के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने उद्धार का प्रयास स्वयं करना होगा, कोई ईश्वर या अन्य सत्ता इस कार्य को नहीं कर सकेगा।

नेहरू जी भी अपने मतों में धर्म का प्रतिवाद करते हुए मानव की अन्तर्जात शक्ति में अटूट आस्था रखते हैं। १९६० में उन्होंने कहा था कि मैं किसी धर्म अथवा मताग्रह से बंधा हुआ नहीं हूं। परन्तु इसे कोई धर्म कहे या न कहे, मैं मनुष्यों की अन्तर्जात आध्यात्मिकता में विश्वास करता हूं। वे अपनी पुस्तक **मेरी कहानी** में लिखते हैं कि मुझे परलोक या मृत्यु के बाद क्या होगा, इसमें कोई दिलचस्पी नहीं है। इस जीवन की समस्यायें ही मेरे जीवन को उलझाने के लिए काफी महसूस होती हैं। मुझे तो चीनियों की वह परम्परा जो मूलत: नैतिक है, फिर भी नास्तिकता का रंग लिए हुए है, अत्यधिक पसंद है।

लेकिन यदि उपरोक्त मतों पर सूक्ष्मता पूर्वक विचार किया जाय तो पाते हैं कि जिन धर्मों में ईश्वर को अस्वीकार किया गया है, वहाँ भी किसी न किसी रूप में अतिप्राकृतिक सत्ता को स्वीकार किया गया है। यद्यपि मानववाद, ईश्वर का निषेध करता है तथापि मानववाद को भी मूलत: दो भागों में विभक्त किया जा सकता हैं:

- प्रकृतिवादी मानववाद (Naturalistic Humanism)
- अतिप्रकृतिवादी मानववाद (Supra Naturalistic Humanism)

एक तरफ, प्रकृतिवादी मानववाद केवल बौद्धिकता या तर्क का सहारा लेकर धर्म की व्याख्या करना चाहता है। लेकिन यथार्थत: वह धर्म, धर्म ही नहीं जो शुद्ध बौद्धिकता पर आधारित हो। दुर्खाइम के अनुसार तो शुद्ध प्रकृतिवादी विश्वास धर्म ही नहीं है। दूसरी तरफ, अतिप्रंकृतिवादी मानववाद बौद्धिकता के साथ–साथ किसी न किसी रूप में आध्यात्मिक सत्ता को भी अंगीकार करता है। इस अर्थ में जैन एवं बौद्ध धर्म प्रकृतिवादी मानववाद के उदाहरण न होकर अतिप्रकृतिवादी मानववाद के अन्तर्गत आयेंगें। एक ओर वे शुद्ध बौद्धिक आधार

पर जगत की व्याख्या करते है, तो दूसरी ओर वे अतिप्राकृतिक सत्ता को भी अपने धर्म में महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं। यद्यपि, जैन धर्म अनीश्वरवादी है, लेकिन व्यावहारत: जैन तीर्थंकरों का उस धर्म में वही स्थान है, जो हिन्दू धर्म में ईश्वर का। इसी प्रकार ईश्वर का निषेध करने वाले महात्मा बुद्ध अन्तत: भगवान बुद्ध हो गये। यही नहीं मानववादी धर्म भी अन्तत: या तो मनुष्य को ईश्वर बना देता या तो कहीं न कहीं से अतिप्राकृतिक सत्ता को अवश्य ही स्वीकार कर लेता है। यथा, कन्फ्यूसियस नास्तिक थे, परन्तु एक स्थान पर लिखते है कि मनुष्य को नैतिक बनाने का श्रेय केवल ईश्वर को ही है। ईश्वर ने ही मनुष्य में सद्‌गुण का समावेश किया है।

स्पष्टत: धर्म में किसी न किसी रूप में **निर्भरता** एवं **अभाव** का तत्व अवश्य ही विद्यमान रहता है। श्यालरमाखर लिखता है कि **निर्भरता में ही धर्म का सार तत्व निहित है**। यदि धर्म से निर्भरता के तत्व को पृथक कर दिया जाय, तो वह धर्म न होकर नैतिक या दार्शनिक सिद्धान्त बनकर रह जायेगा। लेकिन बिना सर्वोच्च सत्ता को स्वीकार किये निर्भरता एवं अभाव के तत्व की सांगोपांग व्याख्या नहीं की जा सकती है। इसी कारण धर्म के लिए अतिप्राकृतिक सत्ता का होना अनिवार्य है। जहाँ व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण भावनाओं का समर्पण करके अत्यधिक संतोष का अनुभव कर सके। इस दृष्टि से रोडनी स्टार्क एवं डबल्यू० सिम्स वेनब्रिज अपनी पुस्तक **''दि फ्यूचर ऑफ रिलीजन''** में ठीक ही लिखते हैं कि धर्म एक ऐसा मानव संगठन है, जो मूलतया अतिप्राकृतिक मान्यता के द्वारा जीवन एवं जगत में अभाव की सम्पूर्ति करने में प्रयत्नशील है।

अन्तत: प्रश्न उठता है कि क्या ईश्वर विहीन धर्म सम्भव है? इस प्रश्न का उत्तर इस बात पर निर्भर है कि ईश्वर से हमारा तात्पर्य क्या है? यदि ईश्वर से हमारा तात्पर्य एक व्यक्तित्वपूर्ण, सगुण, साकार ईश्वर से है तो नि:संदेह ऐसे कई धर्म सम्भव हैं, जिनमें व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर की अवधारणा को अस्वीकार किया गया है। परन्तु यदि हम ईश्वर शब्द का प्रयोग अत्यन्त व्यापक अर्थ में करते हैं, जहॉ व्यापकता का अर्थ ऐसा आदर्श अथवा अध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति से है, जिसके लिए धार्मिक व्यक्ति सदैव ही सचेष्ट रहता है, जैसे सत्यता, प्रेम, उदारता, करुणा, सहानुभूति, निर्भरता प्रभृति तो नि:संदेह ऐसा धर्म असम्भव है, जिसमें किसी न किसी रूप में इन मूल्यों को स्वीकार न किया गया हो। इस प्रकार वे सभी

विचार जो धर्म को केवल बौद्धिक व्यापार तक सीमित रखते हैं, धर्म न होकर केवल विचारणा मात्र है। इस प्रकार ईश्वर विहीन धर्म एक कपोलकल्पित अवधारणा मात्र है। जिसकी न तो सैद्धान्तिक आधार पर और न ही व्यावहारिक धरातल पर अनुशंसा की जा सकती है।

**

क्या अशुभ ईश्वर विरोधी है?

अशुभ की समस्या धर्म दर्शन की एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण एवं दुर्बोध समस्या है। यह ईश्वरवादियों के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती है, जिसका कोई भी ईश्वरवादी सम्यक् समाधान करने में असफल रहता है। सामान्यत: अशुभ का अर्थ है जो प्राणियों के लिए दु:खद, अहितकर एवं अमंगलमय हो। मनुष्य द्वारा जानबूझ कर किये गये दुराचरण तथा प्राकृतिक एवं मानवीय कारणों से उत्पन्न वे सभी प्रकार के दु:ख (यथा, आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक) जिसका मनुष्य अनुभव करता है परन्तु जो न्यायोचित नहीं है, अशुभ कहलाता हैं।

प्राय: प्रत्येक व्यक्ति कमोवेश इन दु:खों का अनुभव करता है। महात्मा बुद्ध ने तो यहाँ तक कहा कि दुखियों ने जो आंसू बहाये हैं वह समुद्र के जल की अपेक्षा भी कहीं अधिक है। इसलिए उन्होंने जब चार आर्य सत्यों का उपदेश दिया। दु:ख, दु:ख समुदय, दु:ख निरोध एवं दु:ख मुक्ति के उपाय। इसी प्रकार टेनिसन के अनुसार प्रकृति के नख एवं दन्त रक्त रंजित हैं। मिल भी कहता है कि जिन कार्यों के लिए मनुष्य को प्राण दण्ड दे दिये जाते हैं वे तो प्रकृति की दिनचर्या के अंग हैं। जर्मन दार्शनिक शोपेनहावर भी विश्व को बुराइयों से युक्त मानता है। उसके अनुसार मानव जीवन अतृप्त आकांक्षाओं एवं इच्छाओं की लाश मात्र है। यह निकृष्टतम जगत् है एवं जीवन एक धोखा है।।

अशुभ मूलत: दो प्रकार के होते है — प्राकृतिक अशुभ (Natural evil) एवं नैतिक अशुभ (Moral evil)। प्राकृतिक अशुभ वे हैं जो प्रकृति प्रदत्त होते हैं तथा जिस पर मनुष्य का कोई अधिकार नहीं होता है, यथा भूकम्प, ज्वालामुखी, सुनामी, बाढ़, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारी, जन्मजात शारीरिक विकृतियाँ प्रभृति। जबकि नैतिक अशुभ मानवकृत है। अत: इसके लिए मनुष्य स्वयं जिम्मेदार है। इस प्रकार के दु:ख व्यक्ति द्वारा उसके संकल्प स्वातंत्र्य के

दुरूपयोग का प्रतिफल होता है, यथा, हत्या, बलात्कार, दंगा, फसाद, युद्ध प्रभृति।

इस प्रकार यद्यपि प्राकृतिक अशुभ एवं नैतिक अशुभ दोनों ही एक दूसरे से पृथक हैं तथापि दोनों में अत्यन्त ही घनिष्ट सम्बन्ध है। कुछ परिस्थितियों में प्राकृतिक अशुभ, नैतिक अशुभ को जन्म देता है तो कुछ परिस्थितियों में नैतिक अशुभ प्राकृतिक अशुभ को। प्राय: ऐसा देखा जाता है कि जब प्राकृतिक विपदाओं को सहन करने में व्यक्ति असमर्थ हो जाता है तो उसमें संचय की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। इसी प्रकार नैतिक अशुभ भी प्राकृतिक अशुभ को बल देता है क्योंकि जब समाज में नैतिक मूल्यों का ह्रास होता है तो ईश्वर न्याय की स्थापना के लिए दुराचारियों को दण्ड देता है जो प्राकृतिक विपदाओं के रूप में दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार प्राकृतिक एवं नैतिक अशुभ में अन्यन्त ही गहरा सम्बन्ध है।

लेकिन प्राकृतिक एवं नैतिक अशुभ में प्रथम कौन है? इस बात का निर्धारण कर पाना अत्यंत जटिल है। एक तरफ कुछ दार्शनिक मानते हैं कि प्राकृतिक अशुभ पहले है, नैतिक अशुभ बाद में, तो दूसरी तरफ कुछ दार्शनिक मानते हैं कि नैतिक अशुभ पहले है, प्राकृतिक अशुभ बाद में अर्थात् जब मनुष्य ईश्वर द्वारा प्रदत्त संकल्प स्वतंत्र्य का दुरूपयोग कर अनुचित कार्यो का चयन करता है तो ईश्वर दण्ड स्वरूप प्राकृतिक अशुभ उत्पन्न करता है। जबकि कुछ दार्शनिक मानते हैं कि मनुष्य प्राकृतिक अशुभों के बीच अपने आपको समायोजित न कर पाने के कारण नैतिकता के विरुद्ध आचरण करने को विवश हो जाता है। अत: प्राकृतिक अशुभ ही नैतिक अशुभ को उत्पन्न करता है।

अशुभ की समस्या किसी भी व्यक्ति के हृदय को विचलित कर देने वाली एक वास्तविक यथार्थ है। यह केवल धर्मशास्त्र की पहेली नहीं है, बल्कि जीवन की साक्षात् अनुभूति है जिससे प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी रूप में अवश्य ही प्रभावित होता है। लेकिन यह समस्या धार्मिक व्यक्तियों के समक्ष एक अत्यन्त ही जटिल समस्या के रूप में उभरकर सामने आती है क्योंकि धार्मिक व्यक्ति ईश्वर को सर्वशक्तिमान और दयालु दोनों ही मानता है। यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान और दयालु है तब क्या वह दु:खों को दूर नहीं कर सकता? यदि वह ऐसा नहीं कर सकता तब या तो वह सर्वशक्तिमान नहीं है या फिर वह दयालु नहीं। जबकि ईश्वरवादी ईश्वर को सर्वशक्तिमान एवं दयालु दोनों ही मानते हैं।

सर्वप्रथम ग्रीक दार्शनिक एपीक्यूरियस (343-270 ईसा पूर्व) ने अशुभ

की समस्या को एक उभयत:पाश के रूप में प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार "यदि ईश्वर अशुभ को दूर करना चाहता है और दूर नहीं कर पाता तो क्या वह असमर्थ है? यदि वह समर्थ है, लेकिन वह दु:ख दूर करना ही नहीं चाहता तब क्या वह अनिष्टकारी है? पुनश्च, यदि वह समर्थ है और अशुभ दूर करना भी चाहता है तो .फ़िर अशुभ क्यों है?" इसी प्रकार आधुनिक दार्शनिक डेविड ह्यूम अपनी पुस्तक "डायलॉग्स कन्सर्निंग नेचुरल रिलीजन" में लिखता है कि यदि इस विश्व में अशुभ ईश्वर की इच्छा से है तो वह दयालु नहीं। यदि अशुभ ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध है तब वह सर्वशक्तिमान नहीं। लेकिन अशुभ या तो ईश्वर की इच्छा से है या फिर उसकी इच्छा के विरुद्ध। अत: या तो ईश्वर दयालु नहीं, या फिर वह सर्वशक्तिमान नहीं। इसी प्रकार समकालिक दार्शनिक जे० एल० मैकी अपने लेख "इविल एण्ड ओम्नीपोटेन्स" (माइंड, 1950) में इस समस्या को एक विरोधाभास के रूप में प्रस्तुत करता है। उसके अनुसार

- ईश्वर सर्वशक्तिमान है,
- ईश्वर दयालु है, एवं
- जगत में अशुभ है,

मैकी के अनुसार किसी भी ईश्वरवादी के लिए इन तीनों कथनों का एक साथ सत्य होना आवश्यक है। परन्तु यदि तार्किक दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो पाते है कि इनमें से कोई भी दो कथन के सत्य होने पर तीसरा कथन अवश्य ही असत्य हो जाता हैं। यथा, यदि हम मानें कि ईश्वर सर्वशक्तिमान और दयालु है तो जगत् में अशुभ नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार यदि यह मानें कि ईश्वर सर्वशक्तिमान है, फिर भी जगत् में अशुभ है। इसका तात्पर्य यह है कि ईश्वर दयालु नहीं है। परन्तु यदि यह मान लें कि ईश्वर दयालु है, फिर भी अशुभ है। इसका तात्पर्य यह है कि वह सर्वशक्तिमान नहीं है। मैकी के अनुसार यह समस्या सभी ईश्वरवादियों के समक्ष एक चुनौती प्रस्तुत करती है। जिसका कोई भी ईश्वरवादी सम्यक् समाधान करने में असफल रहता है।

भारतीय परम्परा में जैनियों एवं बौद्धों ने भी विश्व में व्याप्त अशुभ को सर्वशक्तिमान एवं पूर्ण शुभ ईश्वर के विरुद्ध एक प्रबल तर्क के रूप में प्रस्तुत किया। जैनियों के अ़नुसार यदि यह मान लिया जाय कि ईश्वर सृष्टि कर्त्ता है तो ईश्वर जगत् की रचना या तो किसी इच्छा से करता है या फिर करुणा से

आप्लावित होकर। यदि ईश्वर जगत् का सृजन इच्छा से करता है तब वह पूर्ण नहीं। परन्तु यदि वह करुणा से आप्लावित होकर करता है तब जगत् में अशुभ क्यों है? बौद्धों ने भी यह माना कि जिस सृष्टि का रचयिता सर्वशक्तिमान ईश्वर हो उसमें दुःख नहीं होना चाहिए। हालाँकि इस समस्या का समाधान ईश्वरवादियों द्वारा सतत् रूप से प्रस्तुत किया जाता रहा है तथापि जैसा कि डब्ल्यू०टी० स्टेस लिखते हैं कि ह्यूम की चुनौतियों का न तो अभी तक कोई उत्तर दिया जा सका है और न ही अनागत में इसकी कोई सम्भावना है।

अशुभ की समस्या का समाधान करने के लिए ईश्वरवादियों द्वारा कई समाधान प्रस्तुत किये गये जिसमें कुछ प्रमुख हैं :-

- अशुभ शुभ का साधन है।
- अशुभ व्यक्ति के संकल्प स्वातंत्र्य के दुरुपयोग का प्रतिफल है।
- अशुभ शुभ का पूरक है।
- अशुभ मिथ्या है।
- अशुभ प्राकृतिक नियमों के अनुरूप है।
- ईश्वर शुभ तो है परन्तु सर्वशक्तिमान नहीं।
- मानव बुद्धि अशुभ को समझने में असमर्थ है।

अशुभ शुभ का साधन है

इस समाधान के दो पक्ष हैं — पहला, अशुभ एक प्रकार की चेतावनी है, जिसके फलस्वरूप मनुष्य ईश्वर की महानता एवं उसकी अपार शक्ति के महत्व को समझ पाता है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि मनुष्य जब घोर विपत्ति की अवस्था में होता है एवं उसका समाधान अपने पौरुष के आधार पर करने में असफल हो जाता है तब वह अपने आपको सर्वतोभावेन किसी अतीन्द्रिय एवं असीमित शक्ति पर निर्भर कर देता है। यदि उसे दुःख का अनुभव न हो तो वह ईश्वर का स्मरण ही क्यों करे। इस दृष्टि से कबीर दास ने ठीक ही लिखा है कि —

"दुःख में सुमिरन सब करै, सुख में करै न कोय,
जो सुख में सुमिरन करे, दुःख काहे को होय।"

जी०एच० जायस अपनी पुस्तक ''प्रिसिंपल आफ नेचुरल थियोलॉजी'' में इस समाधान को अत्यधिक महत्व देते हैं।

दूसरा, अशुभ मानव को ईश्वर द्वारा दी गयी एक चेतावनी है, जिसके फलस्वरूप मानव विकसित एवं समृद्ध होता है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि जब मनुष्य के समक्ष दुःख आते हैं तब वह दुःखों से हताश नहीं होता, बल्कि उससे उबरने का उपाय सोचता है और अन्ततः उस पर विजय भी प्राप्त करता है। इस प्रकार यदि दुःख नहीं हो तो मनुष्य का यह जीवन अत्यंत ही अविकसित एवं निरर्थक हो जाता है। किसी ने ठीक ही कहा है कि —

सुर्खरू होता है इंशा, ठोकरें खाने के बाद।
रंग लाती है हिना, पत्थर पर घिस के जाने के बाद।।

डब्ल्यू० डी० निवेन "इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स" में लिखते हैं कि अशुभ मनष्य को आगे बढ़ाने वाली वह अभिप्रेरणा है जो उसे सफलतायें प्राप्त करने के लिए प्रेरित करती हैं तथा जिसके कारण मानव इतिहास इतना आश्चर्यजनक बना है। उनके अनुसार कठिनाई कष्टकारक तो है परन्तु अविष्कार की जननी है। स्पष्टतः जितने तरह के अविष्कार होते हैं उनके पीछे मूल भाव मनुष्य को अधिक से अधिक सुखी एवं सम्पन्न बनाना है। दुःख ही मनुष्य सहित सभी प्राणियों के जीवन को निरन्तर गतिशील बनाये हुए है। डा० राधा कृष्णनन् ने भी कहा है कि अपूर्णता के अभाव में विश्व रिक्त एवं अप्रगतिशील हो जायेगा।

पुनश्च, एफ०आर० टेनेन्ट अपने लेख "दैट इविल इज निसेसरी" में लिखते हैं कि यदि विश्व का अध्ययन उसकी सम्पूर्णता में किया जाय तो हम पाते हैं कि अशुभ शुभ के विकास में एक अनिवार्य सहवर्ती के रूप में प्रतीत होता है। इनके अनुसार विश्व मूलतः विकासशील है, जिसमें एक तरह की सोपानिक श्रेणीकरण पाया जाता है। अतः यदि हम उच्चतर शिखर को प्राप्त करना चाहते हैं तो सर्वप्रथम हमें इसकी शुरूआत निम्नतर श्रेणी से करना पड़ेगा। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि जो व्यक्ति अपने प्रयास एवं पौरुष से उत्तरोत्तर अभिवृद्धि करता जाता है उसमें स्थायित्व अत्यधिक होता है।

टेनेन्ट का यह भी कहना है कि अशुभ खतरे के विरुद्ध चेतावनी देकर हमको सावधान करता है। यदि रोग न हो तो स्वास्थ्य का मूल्य समझ में नहीं आ सकता और न ही एक दूसरे के प्रति सहानुभूति की भावना का प्रादुर्भाव हो सकता है। मनुष्य दुःखों में ही एक दूसरे के अत्यधिक निकट आता है। इस प्रकार मनुष्य

के सर्वांगीण विकास के लिए यह आवश्यक है कि अशुभ हो अन्यथा मनुष्य का जीवन एकांगी बनकर रह जायेगा।

इसी प्रकार मिल अपने लेख "थ्री ऐसे आन रिलीजन" में इस समाधान की समीक्षा करते हैं। मिल के अनुसार प्रकृति में कहीं भी न्याय एवं दया नहीं है। प्रकृति के निर्मम थपेड़े केवल कुछ व्यक्तियों को ही नहीं बल्कि समग्र प्राणी जगत् को काल के गाल में सुला देते हैं। प्रकृति द्वारा प्रतिदिन ऐसे कार्य किये जाते हैं कि यदि उसे मनुष्य करे तो निश्चित रूप से उसे प्राणदण्ड दे दिया जायेगा। प्रकृति के निर्मम थपेड़ों से केवल बुरे लोग आहत नहीं होते है। इससे तो उच्चतर आदर्शों में लगे हुए सन्त तथा सद्विचारी पुरुष भी प्रभावित होते हैं। यदि अशुभ, शुभ का साधन है तो इन विपदाओं से केवल उन्हीं व्यक्तियों को प्रभावित होना चाहिए जो दुराचारी हैं। लेकिन ऐसा नहीं होता।

यही नहीं यदि अशुभ, शुभ का साधन है तब प्रश्न उठता है कि क्या वास्तव में अशुभ से शुभ उत्पन्न होता है? मिल के अनुसार अशुभ से शुभ नहीं बल्कि अशुभ से अशुभ ही उत्पन्न होता है क्योंकि कई बार ऐसा देखा जाता है कि गरीबी एवं रोग से लड़ते–लड़ते व्यक्ति जब असमर्थ एवं असहाय हो जाता है तो अन्ततः वह आत्महत्या भी कर लेता है। यहीं नहीं यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान एवं दयालु है तो उसे सुख एवं दुःख का उचित अनुपात में विभाजन करना चाहिए। जबकि ऐसा नहीं होता है। ऐसा अक्सर देखा जाता है कि जो सदाचारी हैं उनका जीवन अत्यधिक कष्टमय है जबकि दुराचारियों का जीवन अत्यधिक सुखद। इसी प्रकार मिल कहता है कि यदि मान भी लिया जाय कि अशुभ से शुभ उत्पन्न होता है, तब समस्या उठती है कि क्या ईश्वर बिना अशुभ को साधन बनाये शुभ उत्पन्न नहीं कर सकता?

इसके अलावा कुछ अन्य दार्शनिकों ने भी इस समाधान की आलोचना की है। यथा, एच०जे० मैककास्के "गॉड एण्ड इविल" में लिखता है कि अशुभ से शुभ का होना न्याययुक्त नहीं बल्कि दोषपूर्ण एवं भ्रामक भी प्रतीत होता है। यदि बिना अशुभ के शुभ का उदय नहीं होता तब तो अधिक से अधिक शुभ के लिए अधिक से अधिक अशुभ की भी अभिवृद्धि करनी पड़ेगी, जो उचित नहीं है। इसी प्रकार जान लेयर्ड 'इविडेन्स अगेन्स्ट ए प्रोविजनल गॉड' में तो यहाँ तक लिखता है कि यदि अशुभ से शुभ का उदय होता है तो दोनों के बीच उपयुक्त

अनुपात होना चाहिए। परन्तु यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान और दयालु है तो क्या ऐसा सम्भव नहीं है कि वह कम से कम दुःख देकर अधिक से अधिक सुख का विधान कर सके। यदि ऐसा नहीं कर सकता तब ईश्वर के सर्वशक्तिमान एवं दयालु होने का क्या अर्थ है?

अशुभ मनुष्य के संकल्प स्वातंत्र्य के दुरूपयोग का प्रतिफल है

इस मत के अनुसार जब ईश्वर सृष्टि की रचना करता है तब वह मनुष्य को संकल्प स्वातंत्र्य प्रदान करता है। इस संकल्प स्वातंत्र्य के दो मार्ग हैं – प्रथम वह है जो अत्यधिक चौड़ा और आनन्ददायक है। परन्तु कालान्तर में उत्तरोत्तर संकीर्ण एवं कष्टकारी होता जाता है। दूसरा मार्ग प्रारम्भ में संकीर्ण एवं कष्टकारी है परन्तु उत्तरोत्तर विस्तृत एवं आनन्ददायक होता जाता है। मनुष्य संकल्प स्वातंत्र्य का दुरुपयोग कर प्रथम मार्ग का चयन करता है, जो प्रारम्भ में सुखद है परन्तु अन्त में दुःखद, जिसके फलस्वरूप अन्ततः वह दुःखों का भागी बनता है। इस प्रकार अशुभ के लिए व्यक्ति स्वयं जिम्मेदार है न कि ईश्वर।

जॉन हास्पर्स अपनी पुस्तक "एन इन्ट्रोडक्शन टू फिलासोफिकल एनालिसिस" में लिखते हैं कि अशुभ के समाधान के लिए ईश्वरवादियों द्वारा जितने भी समाधान प्रस्तुत किये गये उसमें यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण समाधान है। लेकिन इसमें भी कई कमियाँ हैं। पहली कमी तो यह है कि इसके अन्तर्गत प्राकृतिक एवं नैतिक अशुभ का स्पष्ट भेद नहीं किया गया है। भूकम्प, ज्वालामुखी, सुनामी, प्रभृति प्राकृतिक अशुभ के उदाहरण हैं जबकि हत्या, बलात्कार, युद्ध प्रभृति नैतिक अशुभ के। यदि इस समाधान को स्वीकार कर भी लिया जाय तो इसके द्वारा नैतिक अशुभ की तो सांगोपांग व्याख्या हो जाती हैं, लेकिन प्राकृतिक अशुभ की व्याख्या किस प्रकार की जा सकती है? क्योंकि प्राकृतिक अशुभ के लिए मनुष्य नहीं बल्कि प्रकृति स्वयं जिम्मेदार है।

इस पर ईश्वरवादियों का कहना है कि ईश्वर ने मनुष्य को संकल्प स्वातंत्र्य प्रदान किया परन्तु जब मनुष्य इस संकल्प स्वातंत्र्य का दुरुपयोग करके अनुचित कार्यों का चयन करता है तो ईश्वर उसके दण्ड स्वरूप प्राकृतिक अशुभ प्रदान करता है। लेकिन इसमें भी कई विसंगतियाँ हैं। पहली यह कि पहले नैतिक अशुभ है या प्राकृतिक अशुभ? कुछ दार्शनिक मानते हैं कि प्राकृतिक अशुभ नैतिक अशुभ से पहले है क्योंकि सर्वप्रथम प्रकृति है फिर प्राकृतिक विपदायें।

प्राणियों का आर्विभाव तो लाखों करोड़ों वर्ष बाद हुआ है। इस प्रकार प्राकृतिक अशुभ के लिए मनुष्य जिम्मेदार कैसे हो सकता है? किसी भी कारण का कार्य उसके अनन्तर आता है न कि पहले। दूसरा यह कि यदि मान भी लिया जाय कि ईश्वर संकल्प स्वातंत्र्य के दुरुपयोग के प्रतिफल प्राकृतिक अशुभ को भेजता है तब तो इन प्राकृतिक विपदाओं से केवल उसी व्यक्ति को प्रभावित होना चाहिए जो उसके जिम्मेदार हों। लेकिन ऐसा देखा जाता है कि जब प्राकृतिक विपदायें आती हैं तब सभी प्राणाी चाहे वे सदाचारी हों या दुराचारी समान रूप से प्रभावित होते हैं। इस प्रकार यह समाधान भी उपयुक्त नहीं है।

कुछ दार्शनिकों का तो यहाँ तक कहना है कि यदि ईश्वर जानता था कि मनुष्य संकल्प स्वातंत्र्य का दुरुपयोग करके अनुचित कार्यों का वरण करेगा तो ईश्वर ने संकल्प स्वतंत्र्य क्यों प्रदान किया? प्रत्युत्तर में ईश्वरवादी कहते हैं कि स्वचालित यंत्रों की अपेक्षा संकल्प स्वातंत्र्य से युक्त मनुष्य श्रेष्ठतर है। उदाहरण के लिए ट्रूब्लड अपनी पुस्तक ''फिलासाफी आफ रिलीजन'' में लिखता है कि एक ऐसे यंत्र का शुभत्व जिसके समक्ष कोई और विकल्प नहीं हो, वस्तुतः वह शुभत्व नहीं है। वह प्राणी जो स्वेच्छा से परन्तु गलत रूप से शुभ का चयन करता है उस प्राणी से श्रेष्ठ है जिसके समक्ष अन्य कोई विकल्प नहीं हो।

लेकिन आलोचकों के अनुसार जब ईश्वर सर्वशक्तिमान और दयालु है तब मनुष्यों को बुरे चयन करने से क्यों नहीं रोकता? क्या ऐसा सम्भव नहीं है कि ईश्वर संकल्प स्वातंत्र्य तो प्रदान करे परन्तु सिर्फ अच्छे कार्यों के लिए। इस मत का समर्थन करते हुए मैकी एवं जायस कहते हैं कि निरपेक्ष शुभ के साथ भी संकल्प स्वातंत्र्य सम्भव है। जायस के अनुसार संकल्प स्वातंत्र्य का अर्थ अनिवार्यतः अशुभ चयन करना नहीं है। ऐसा देखा जाता है कि जो ज्ञानी पुरुष हैं जैसे संत, महात्मा उनमें संकल्प स्वातंत्र्य भी है फिर भी वे अनिवार्यतः शुभ का चयन करते हैं। तब क्या ईश्वर ऐसा नहीं कर सकता कि सभी का जीवन इसी तरह निर्धारित हो। मैकी तो यहाँ तक लिखता है कि मनुष्य को स्वतंत्रता प्रदान करते समय यदि ईश्वर उसमें शुभ के प्रति अनिवार्यता निश्चित नहीं कर सकता तो ईश्वर सर्वशक्तिमान कैसे हो सकता है क्योंकि संकल्प स्वातंत्र्य एवं अनिवार्यतः शुभ चयन में कोई विरोध नहीं है।

लेकिन अनीश्वरवादी यह भूल जाते हैं कि संकल्प स्वातंत्र्य एवं

अनिवार्यत: शुभ चयन यह दोनों ही परस्पर विरोधी हैं। संकल्प स्वातंत्र्य का अर्थ है स्वतंत्रता जबकि अनिवार्यत: शुभ का अर्थ बाध्यता है। यदि हम एक तरफ स्वच्छन्दता को मानें और दूसरी तरफ बाध्यता को स्वीकार करें तब यह दोनों ही बातें परस्पर एक दूसरे के विरोधी होगी। अत: इनमें से हमें किसी एक विकल्प का ही चयन करना पड़ेगा। या तो हम संकल्प स्वातंत्र्य को मानें तब हम अनिवार्यत: शुभ को नहीं मान सकते। परन्तु जब हम अनिवार्यत: शुभ को मानते हैं, तब हम संकल्प स्वातंत्र्य को स्वीकार नहीं कर सकते हैं।

अशुभ शुभ का पूरक है

कुछ ईश्वरवादियों का कहना है कि अशुभ एवं शुभ दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं। अर्थात अशुभ के बिना शुभ अपूर्ण है एवं शुभ के बिना अशुभ। दूसरे शब्दों में यदि विश्व में केवल शुभ ही शुभ होता, अशुभ नहीं तब यह एकांगी अवधारणा हो जाती। इसी प्रकार यदि केवल अशुभ ही अशुभ होता, शुभ नहीं तो भी यह एक एकांगी अवधारणा होती। अत: शुभ एवं अशुभ मिलकर ही समग्रता का बोध कराते हैं।

परन्तु आलोचकों के अनुसार इसमें ईश्वर को सीमित कर दिया गया है क्योंकि ईश्वर बिना अशुभ के शुभ का निर्माण नहीं कर सकता। तब ऐसी स्थिति में ईश्वर सर्वशक्तिमान कैसे हो सकता है? हालांकि ईश्वरवादी कहते हैं कि सर्वशक्तिमान होने का तात्पर्य तार्किक असम्भावना नहीं है। अर्थात् ईश्वर ऐसे विश्व की रचना नहीं कर सकता, जो गणित एवं तर्कशास्त्र के नियमों का अतिक्रमण करे। लेकिन यदि ईश्वर ऐसा करता है तो अनीश्वरवादी उस पर अत्याचारी होने का आरोपण करेगें।

अशुभ मिथ्या है

कुछ ईश्वरवादियों के अनुसार अशुभ, मिथ्या या भ्रम है। इस मत का समर्थन अद्वैतवादी आचार्य शंकर, सर्वेश्वरवादी स्पिनोजा, हेगेल, ब्रेडले, लाइबनीज प्रभृति करते हैं। इनके अनुसार अशुभ की वास्तविक या यथार्थ सत्ता नहीं है। अशुभ हमारे संकुचित दृष्टिकोण का प्रतिफल है। यदि पारमार्थिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो कहीं कोई अशुभ है ही नहीं । यथा, आचार्य शंकर लिखते हैं कि एक मात्र ब्रह्म ही सत् है एवं जगत् मिथ्या है। लेकिन जब वे जगत् को मिथ्या कहते हैं तब वे व्यावहारिक दृष्टि से इसे मिथ्या नहीं कहते। उनके अनुसार

व्यावहारिक दृष्टिकोण से यह जगत् पूर्णतः यथार्थ है। परन्तु जब हम पारमार्थिक दृष्टिकोण से इस जगत् पर विचार करते हैं तब हमें इस जगत् के मिथ्यात्व की अनुभूति होती है। इस प्रकार अशुभ आंशिक दृष्टिकोण का परिणाम है। समग्रता में तो केवल सच्चिदानन्द ब्रह्म की ही सत्ता है।

पाश्चात्य दार्शनिक स्पिनोजा भी यह मानता है कि सम्पूर्ण जगत् ईश्वर का ही रूप है। इसीलिए वह जगत् पर दो दृष्टिकोणों से विचार करता है। पृथक–पृथक दृष्टिकोण से तथा समग्रता के दृष्टिकोण से जिसे वह क्रमशः सृष्टि प्रकृति एवं सृजमान प्रकृति की संज्ञा देता है। स्पिनोजा के अनुसार जगत् की प्रत्येक वस्तु ईश्वर का रूप है। यह सृष्टि प्रकृति है। परन्तु जब हम समग्रता के दृष्टि से अवलोकन करते हैं तो पाते हैं कि यह सम्पूर्ण सृष्टि ईश्वर का ही विराट रूप है। इस प्रकार ईश्वर और विश्व में तादात्म्य है। स्पिनोजा का महत्वपूर्ण कथन है कि ईश्वर विश्व है एवं विश्व ईश्वर। अब यदि समग्र सृष्टि ईश्वर का ही रूप है तब हम किसे अशुभ कह सकते हैं। इसीलिए स्पिनोजा कहता है कि अशुभ केवल हमारे सीमित दृष्टिकोण का प्रतिफल है। समग्रता में ईश्वर के अलावा अन्य किसी की भी सत्ता नहीं है। इस प्रकार स्पिनोजा के दर्शन में अशुभ भ्रम है।

लाइबनीज भी यह मानता है कि यह जगत् चिदणुओं की रचना है। चिदणु चेतन हैं। अतः सम्पूर्ण सृष्टि चेतना का रूप है। इसीलिए लाइबनीज कहता है कि यह विश्व ईश्वर की सर्वोत्तम रचना है अर्थात् ईश्वर इससे बेहतर सृष्टि की रचना नहीं कर सकता। यह कहकर लाइबनीज यह दिखाने का प्रयास करता है कि समग्रता में कहीं अशुभ नहीं है। उसके अनुसार सीमित दृष्टिकोण से जो द्वैत एवं विरोध है व्यापकता में वही पूर्ण एवं सामंजस्यपूर्ण हो जाता है। इसीलिए लाइबनीज ईश्वर को इस विश्व की व्यवस्था का सर्वोच्च व्यवस्थापक मानता है। उसके अनुसार ईश्वर ने विश्व में ऐसी व्यवस्था उत्पन्न की है जिसमें अनन्त काल तक सामंजस्य बना रहे। इसे लाइबनीज 'पूर्व स्थापित सामंजस्य' की संज्ञा देता है।

ब्रेडले भी जगत् को आभास या मिथ्या कहता है। उसके अनुसार सत्य वह है जो आत्म सुसंगत हो अर्थात् जो सभी प्रकार के सम्बन्धों से परे हो। लेकिन ब्रेडले के अनुसार यह जगत् तो सम्बन्धों पर आधारित है और जो भी सम्बन्धों पर आधारित है वह वास्तविक नहीं हो सकता है। इसीलिए वह अपनी पुस्तक ''एपीयरेन्स एण्ड रियलिटी'' में लिखता है कि एकमात्र निरपेक्ष ही परम सत्य है

और निरपेक्ष के अतिरिक्त जो कुछ भी है वह आभास या प्रतीति मात्र है। इस प्रकार ये सभी दार्शनिक किसी न किसी रूप में जगत् को आभास या मिथ्यात्व कहकर अशुभ की सता को अस्वीकार कर देते हैं।

परन्तु आलोचकों के अनुसार क्या अशुभ को केवल भ्रम कहकर उसकी कठोर वास्तविकता का निषेध किया जा सकता है? इनके अनुसार पहला, अशुभ या दुःख को मिथ्या कहकर हम इस समस्या का समाधान नहीं करते बल्कि इस महत्वपूर्ण समस्या की उपेक्षा कर देते हैं। जैसे कैंसर के दर्द से छटपटाते किसी व्यक्ति को देखकर यह कहना कि उसका दर्द मिथ्या है, निश्चित रूप से हम उसके दर्द में अभिवृद्धि कर देते हैं। दूसरा, यदि दुःख मात्र भ्रम है और उसकी वास्तविक सत्ता नहीं है तब फिर मनुष्य उस दुःख निवृत्ति का प्रयास क्यों करता है। तीसरा, यदि मान भी लिया जाय कि अशुभ भ्रम है तो अन्ततः इसके लिए ईश्वर ही उत्तरदायी माना जायेगा क्योंकि जिस सृष्टि का रचयिता सर्वशक्तिमान और दयालु ईश्वर है क्या हमें वह ऐसे भ्रमों से मुक्त नहीं कर सकता और यदि मुक्त नहीं कर सकता तो उसे दयालु क्यों स्वीकार किया जाय। चौथा, लाइबनीज विश्व को ईश्वर की सर्वोत्तम रचना मानता है। इस पर आक्षेप करते हुए वाल्टेयर अपने उपन्यास "कैण्डिड" में लिखता है कि इस जगत् को सर्वोत्तम मानना वैसे ही है जैसे हमारे चेहरे पर नाक है क्योंकि हम चश्मा पहन सके। वाल्टेयर के इस कथन का अभिप्राय केवल इतना है कि इस जगत् में कोई व्यवस्था नहीं है और यदि कोई व्यवस्था है तो वह मनुष्यों के प्रयास से ही सम्भव है इसके लिए ईश्वर को उत्तरदायी मानना कदापि उपयुक्त नहीं है। शोपेनहावर तो यहाँ तक कह डालता है कि यह जगत् बुराइयों ओर खराबियों से युक्त है। मानव जीवन अतृप्त इच्छाओं और आकांक्षाओं का लाश मात्र है। यह निकृष्टतम जगत् है और जीवन एक धोखा है। पॉचवां, मैक्टैगर्ट के अनुसार प्रत्ययवादी दार्शनिक यह मानते हैं कि इस जगत् में केवल शुभ है लेकिन हम शुभ को अशुभ के रूप में समझ लेते हैं। इस पर टिप्पणी करते हुए मैक्टैगर्ट लिखता है कि यदि मनुष्य अशुभ को अशुभ के रूप में नहीं जान सकता तो इसी तर्क के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मनुष्य शुभ को भी शुभ रूप में नहीं जान सकता क्योंकि जिस बुद्धि व तर्क के आधार पर हम शुभ की वास्तविकता को स्वीकार करते हैं उसी बुद्धि के आधार पर हम अशुभ की वास्तविकता को भी स्वीकार करते हैं। अतः यदि हम अशुभ की

वास्तविकता को नहीं जान सकते तब हम कैसे कह सकते हैं कि हमने शुभ की वास्तविकता को जान लिया है। पुनश्च, मैक्टैगर्ट कहता है कि यदि मान भी लिया जाय कि मनुष्य में अशुभ की वास्तविकता को स्वीकार करने की क्षमता नहीं है तब अन्तत: हमें संदेहवाद की शरण में जाना पड़ेगा क्योंकि तब वास्तविकता क्या है इसकी पहचान कैसे हो सकती है?

हालाँकि उपर्युक्त सभी आक्षेप अनुचित प्रतीत होते हैं क्योंकि जब ये दार्शनिक इस जगत् की व्याख्या करते हैं तो वे मूलत: दो दृष्टिकोणों का सहारा लेते हैं – व्यावहारिक एवं पारमार्थिक। व्यावहारिक दृष्टिकोण से इस जगत् से दु:ख एवं बुराइयों का निषेध नहीं किया जा सकता। इस प्रकार अशुभ एक व्यावहारिक यथार्थ है। परन्तु यदि हम इस जगत् के ऊपर पारमार्थिक दृष्टिकोण से विचार करें तो पाते हैं कि इस जगत् में कहीं भी अशुभ नहीं है क्योंकि समग्रता में अशुभ का कहीं कोई स्थान नहीं है। आलोचक इस बात की उपेक्षा कर देते हैं और वे व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही शुभ अशुभ की बात करने लगते हैं जो कदापि उचित नहीं है।

अशुभ प्राकृतिक नियमों के अनुरूप है

कुछ दार्शनिकों ने यह मान लिया कि यद्यपि इस जगत् में अशुभ है लेकिन अशुभ प्राकृतिक नियमों के अनुरूप है। उनके अनुसार ईश्वर ने जिन प्राकृतिक नियमों का निर्माण किया है वे कुल मिलाकर सभी प्राणियों के लिए अनिवार्य है। इन नियमों में कारणता का नियम, सुख दु:ख का नियम आदि महत्वपूर्ण है। इन्हीं नियमों के माध्यम से समग्र समाज एवं पर्यावरण में एकरूपता बनी हुयी है। इस दुनिया में कोई भी चीज ऐसी नहीं हो सकती जो एक आयामी हो यथा, केवल सुख, केवल आनन्द, केवल अच्छा और केवल शुभ हो। वास्तव में अस्तित्व तो द्वैतपरक होता ही है। ऐसा कोई भी अस्तित्व सम्भव नहीं है जो सुख–दु:ख, अच्छा–बुरा, शुभ–अशुभ इन द्वन्द्वों से ऊपर हो। एक ही चीज एक मनुष्य के लिए सुखद है और वही चीज दूसरे मनुष्य के लिए दु:खद। इस प्रकार शुभ एवं अशुभ का कोई एक मापदण्ड नहीं है और न ही प्रकृति में कोई ऐसी सत्ता सम्भव है जो सभी व्यक्तियों के लिए सभी परिस्थितियों में समान रूप से सुखद या शुभ हो। इसी दृष्टिकोण से ट्रूवल्र्ड अपनी पुस्तक ''फिलासफी ऑफ रिलीजन'' में लिखता है कि हमारे व्यक्तिगत विकास के लिए ऐसा स्थिर पर्यावरण

अनिवार्य है जो सभी व्यक्तियों के लिए सभी परिस्थितियों में समान रूप से सुखद नहीं हो सकता। इसी प्रकार पी०ए० बर्टोस्की अपनी पुस्तक ''इन्ट्रोडक्शन टू द फिलॉसफी ऑफ रिलीजन'' में लिखता है कि हमें ऐसा पानी नहीं मिल सकता जो प्यास तो बुझाये लेकिन डुबाये नहीं। ऐसी अग्नि नहीं मिल सकती जो घरों को तो जलावे लेकिन मांस को जलाये नहीं, इसी प्रकार ऐसा मन नहीं हो सकता जो संवेदनशील तो हो किन्तु विक्षिप्त या अस्वस्थ नहीं हो। अर्थात् यह द्वन्द्व प्रकृति का नियम हैं।

लेकिन आलोचकों के अनुसार पहला, क्या ईश्वर ऐसे प्राकृतिक नियमों की रचना नहीं कर सकता जिसमें केवल और केवल सुख हो और यदि ऐसा नहीं कर सकता तब वह सर्वशक्तिमान कैसे हो सकता है? दूसरा, इसके द्वारा सभी प्रकार के नैतिक अशुभ की व्याख्या नहीं की जा सकती। उदाहरण के लिए कैंसर, पीलिया आदि भयंकर रोगों से उत्पन्न दुःख के लिए किन्हीं प्राकृतिक नियमों को उत्तरदायी सिद्ध करना बहुत ही कठिन है क्योंकि यह रोग प्राकृतिक नियमों के उल्लंघन के फलस्वरूप नहीं होते। इसी प्रकार जन्मजात शारीरिक एवं मानसिक विकृतियाँ भी ऐसी हैं जिसकी व्याख्या करने में यह सिद्धान्त असफल है।

लेकिन ये आलोचनायें उचित नहीं हैं क्योंकि ईश्वर सर्वशक्तिमान तो है लेकिन सर्वशक्तिमान का अर्थ यह नहीं है कि वह प्राकृतिक नियमों का अतिक्रमण करे। अस्तित्व का अनिवार्य धर्म द्वन्द्व है। अब यदि ईश्वर इन नियमों की उपेक्षा करके अद्वैत की स्थापना कर दे तब तो हम स्वयं ईश्वर को अत्याचारी कहना शुरु कर देंगे क्योंकि एक चीज जो एक के लिए सुखद है वही दूसरे के लिए दुःखद। कोई चोर है जो किसी के घर में चोरी करता है। अब यदि पुलिस उस चोर को पकड़कर डण्डे लगाती है तो जिसके घर चोरी हुई थी उसके लिए सुखद है लेकिन डण्डे लगाना उस चोर के लिए दुःखद है। अब क्या ऐसा सम्भव है कि पुलिस डण्डे भी लगावे और उसे दुःख भी न हो। स्पष्टतः ऐसा होना असम्भव है। इस प्रकार यह आक्षेप की ईश्वर ऐसे विश्व की रचना क्यों नहीं करता जिसमें केवल और केवल सुख हो न तो व्यावहारिक दृष्टिकोण से उचित है और न ही नैतिक दृष्टिकोण से मर्यादित। यह केवल एक कपोलकल्पित अवधारणा है।

ईश्वर शुभ तो है परन्तु सर्वशक्तिमान नहीं है

कुछ ईश्वरवादियों ने यह समाधान प्रस्तुत किया कि ईश्वर शुभ तो है

परन्तु सर्वशक्तिमान नहीं है। ईश्वर की भी कुछ अनिवार्य सीमाएँ हैं जिसके कारण वह अपनी इच्छानुसार सब कुछ नहीं कर सकता। प्लेटो के अनुसार ईश्वर ने जिस जगत् की रचना की है, वह उसकी सर्वोत्तम रचना है क्योंकि जगत् की रचना में वह भी कुछ सम्भाव्यताओं एवं आदर्श प्रारूपों से मर्यादित होता है। इस परिस्थिति में जितने सम्भव सर्वोत्तम जगत् की रचना सम्भव थी, ईश्वर ने की है। इस रूप में ईश्वर शुभ तो है परन्तु सर्वशक्तिमान नहीं। इसी प्रकार बर्टोस्की लिखता है कि मूलत: ईश्वर का अनुभव हमारे अनुभव से भिन्न नहीं है, उसके जीवन में भी चुनौतियाँ, आनन्द तथा संघर्ष विद्यमान है। जबकि ट्रूवल्ड लिखता है कि सर्वशक्तिमान शब्द बहुत ही अस्पष्ट है क्योंकि यदि इसका अर्थ कुछ भी करने से है तो व्यावहारिक दृष्टिकोण से यह शब्द निरर्थक है और इस रूप में ईश्वर सर्वशक्तिमान नहीं हो सकता।

आलोचकों का कहना है कि ऐसा कहकर ईश्वरवादी स्वयं अपनी जाल में फँस जाते हैं। एक तरफ ईश्वरवादी ईश्वर को सर्वशक्तिमान मानते हैं, लेकिन अशुभ की समस्या से बचने के लिए वे ईश्वर के मूल गुण सर्वशक्तिमानता का ही खण्डन कर देते हैं। अब यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान नहीं है तो वह पूर्ण कैसे हो सकता है। फेडरिक फेरे अपनी पुस्तक ''फेथ एण्ड रीजन'' में लिखता है कि यदि ईश्वर की पूर्णता की कोई सीमा निर्धारित कर लें तो ईश्वर की सम्पूर्ण अवधारणा खण्डित हो जाती है। इसी प्रकार एफ० आर० टेनेन्ट कहते हैं कि विश्व की बुराइयाँ ईश्वर की सीमा को प्रामाणित नहीं करती और फिर ईश्वर को किसी भी प्रकार की सीमा में बांधना उसे अपूर्ण बनाना है। ध्यातव्य है कि स्पिनोजा ने भी यह कहा था कि प्रत्येक विशेषीकरण निषेध को सूचित करता है। अर्थात् ईश्वर में किसी भी प्रकार का विशेषीकरण निषेधात्मक होता है। इस रूप में ईश्वर सीमित हो जाता है।

इस शोध पत्र के माध्यम से मैंने जे० एल० मैकी के विरोधाभास का समाधान करने का प्रयास किया है। मैकी अपने लेख ''इविल एण्ड ओम्नीपोटेन्स'' में लिखता है कि ''ईश्वर सर्वशक्तिमान है, वह दयालु भी है और जगत् में अशुभ भी है।'' उसके अनुसार यह तीनों कथन परस्पर विरोधी हैं क्योंकि इसमें से कोई भी दो कथन सत्य होगा तो तीसरा निश्चित रूप से असत्य होगा। लेकिन यदि मैकी के कथनों पर सूक्ष्मता पूर्वक विचार किया जाय तब ऐसा प्रतीत होता है कि

इन तीनों कथनों में कोई विरोधाभास नहीं है।

पहला, उपरोक्त तीनों तर्कवाक्यों में कोई व्याघात नहीं है क्योंकि व्याधात का प्रश्न वहाँ पर उठता है जहाँ किसी तर्कवाक्य का रूप $(P . \sim P)$ के रूप में है। जैसे लखनऊ उत्तर प्रदेश की राजधानी है और यह सत्य नहीं है कि लखनऊ उत्तर प्रदेश की राजधानी है। यदि किसी भी तर्कवाक्य का रूप इस प्रकार हो तब निश्चित रूप से व्याधात होगा लेकिन उपर्युक्त तीनों तर्कवाक्यों का रूप ऐसा नहीं है।

दूसरा, व्याधात वहाँ पर होता है जब आधारवाक्य एवं निष्कर्ष में तार्किक सुसंगता नहीं हो यथा

यदि सभी धर्म प्रेम और सौहार्द चाहते हैं तो उनमें एकरूपता होनी चाहिए।

सभी धर्म प्रेम और सौहार्द चाहते हों।

फिर भी उनमें एकरूपता नहीं है।

अर्थात्

$P \supset Q$

P

$/ \sim Q$

लेकिन मैकी के कथन इस रूप में नहीं हैं। वह तो सीधे सीधे कहता है कि –

ईश्वर सर्वशक्तिमान है।

ईश्वर दयालु है।

जगत् में अशुभ है।

स्पष्टत: यहाँ पर किसी तार्किक नियम का उल्लंघन नहीं हुआ है।

तीसरा, तार्किक नियम का उल्लंघन वहाँ पर होता है जहाँ पर सभी कथन एक स्तरीय हों। या तो वे कथन अनुभवजन्य हों या फिर अनुभवातीत। लेकिन यदि मैकी के कथनों पर विचार किया जाय तो हम पाते हैं कि उसके दो कथन अर्थात् ईश्वर सर्वशक्तिमान है एवं ईश्वर दयालु है। ये दोनों ही कथन अनुभवातीत है। जबकि जगत् में अशुभ है, यह अनुभवजन्य कथन है। अब यदि हम अतीन्द्रिय कथन का अनुभवजन्य कथन के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का

प्रयास करते हैं, तब निश्चित रूप से उसमें दोष उत्पन्न होगा, जिसे गिल्बर्ट राइल की भाषा में 'कोटि दोष' (Category Mistake) की संज्ञा दी जा सकती है। स्पष्टत: इन कथनों में कोई विरोधाभास नहीं है, बल्कि एक प्रकार की भूल है जिसे मैकी विरोधाभास समझ लेता है।

चौथा, उपरोक्त तर्कवाक्यों में विरोधाभास हो सकता है, जब इन तीनों कथनों के पूर्व पक्ष के रूप में यह स्वीकार कर लिया जाय कि ईश्वर जगत् का स्रष्टा है। ऐसी परिस्थिति में उपरोक्त तीनों कथनों का रूप निम्नवत् होगा –

> यदि ईश्वर जगत् का स्रष्टा है और वह सर्वशक्तिमान तथा दयालु है तो जगत् में अशुभ नहीं होने चाहिए।
>
> परन्तु जगत् में अशुभ है।
>
> अत: इस जगत् का स्रष्टा ईश्वर सर्वशक्तिमान एवं दयालु नहीं हो सकता।

स्पष्टत: मैकी के सम्पूर्ण लेख में कहीं भी यह कथन नहीं आता है कि ईश्वर जगत् का स्रष्टा है।

पांचवां, यदि मान भी लिया जाय कि ईश्वर जगत् का स्रष्टा है तब एक और भी जटिल समस्या हमारे समक्ष उठती है कि क्या वास्तविक रूप में ईश्वर जगत् का स्रष्टा है। यदि इस जगत् के ऊपर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो यह नहीं कहा जा सकता कि इस जगत् का स्रष्टा ईश्वर है। चार्ल्स डार्विन अपनी पुस्तक "ओरिजिन ऑफ स्पेसीज" में विकासवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। जिसके अनुसार योग्यतम ही अवशिष्ट रह जाते हैं। इस संदर्भ में दो सिद्धान्तों की चर्चा करना अपेक्षित है।

पहला, ईडविन हब्बल का बिग बैंग सिद्धान्त है (१९२०)। इसके अनुसार सम्पूर्ण सृष्टि का विकास एक आयाम रहित गणितीय बिन्दु (dimensionless mathematical point) से हुआ है जिसमें अनन्त मात्रा, ऊर्जा, देश एवं काल संघनित रूप में विद्यमान रहता है। हब्बल के अनुसार इसमें १५ करोड़ वर्ष पूर्व अचानक विस्फोट हुआ जिसके फलस्वरूप सृष्टि का सर्ग हुआ। इस प्रकार यह सृष्टि किसी दैवी सत्ता का सृजन न होकर एक प्राकृतिक प्रक्रिया के रूप में विकसित हुआ है। हब्बल के अनुसार इस भूमण्डल में अभी भी विस्तार हो रहा है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस सृष्टि के मूल में ईश्वर नहीं

बल्कि एक प्राकृतिक प्रक्रिया का विकास है।

दूसरा सिद्धान्त उष्मा गतिकी का उत्क्रम माप (Entrpopy) का सिद्धान्त है। उत्क्रम माप का तात्पर्य है ऊर्जा का व्यतिक्रम (Disorder of Energy)। उदाहरण के लिए एक प्याला चाय जब हम कमरे में रखते हैं तो चाय का तापक्रम थोड़े समयोपर्यन्त कमरे के तापक्रम के बराबर हो जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि उस चाय से ऊर्जा का व्यतिक्रम हुआ और यह तब तक चलता रहता है जब तक साम्यावस्था न आ जाय। सृष्टि में ऊर्जा का व्यतिक्रम अभी भी चल रहा है। इसका तात्पर्य यह है कि अभी तक साम्यावस्था नहीं आ पाई है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि यह सृष्टि किसी दैवी सत्ता की रचना नहीं है बल्कि यह एक प्राकृतिक प्रक्रिया है।

यह सृष्टि ईश्वर की रचना इसलिए भी नहीं हो सकती क्योंकि ईश्वर पूर्ण एवं शाश्वत सत्ता है। अब यदि जगत् का स्रष्टा वही है तो इस जगत् में भी पूर्णता एवं शाश्वतता होनी चाहिए। जबकि जगत् तो परिवर्तनशील एवं अपूर्ण है। इन्हीं मान्यताओं के आधार पर कुछ दार्शनिकों ने यह कहा कि ईश्वर केवल एक अवधारणा (Concept) है जिसे हमने बनाया है। अर्थात् ईश्वर जगत् का स्रष्टा नहीं बल्कि मनुष्य ही ईश्वर का स्रष्टा है।

इन मान्यताओं के अलावा एक अवस्था यह भी हो सकती है जिसमें ईश्वर को जगत् का स्रष्टा न मानते हुए भी उसे दुःख मुक्तिदाता के रूप में स्वीकार किया गया है। यथा, योगदर्शन में यह माना गया है कि ईश्वर जगत् का स्रष्टा नहीं है बल्कि वह क्लेश, कर्म, विपाक, आशय आदि से रहित पुरुष विशेष है (क्लेशकर्मविपाकआसयैरपरामृष्ट: पुरुष विशेष ईश्वर:)। योग दर्शन में ईश्वर जगत् का स्रष्टा नहीं है बल्कि उसके मूलत: दो कार्य बताये गये हैं –

- वह समाधि में सिद्धि प्रदान करता है (समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्)।
- वह सृष्टि के प्रारम्भ में प्रथम उपदेष्टा है (गुरूणां गुरू)।

यदि इस रूप में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करें तो अशुभ की समस्या का एक अत्यन्त ही सन्तोषजनक समाधान प्रस्तुत किया जा सकता है। ऐसा ईश्वर विज्ञान और धर्म दोनों को प्रिय हो सकता है क्योंकि ईश्वर दुःख उत्पन्न नहीं करता बल्कि दुःखों से मुक्ति दिलाता है। सृष्टि ईश्वर की रचना नहीं। अत: वह सृष्टि के लिए न तो उपादान कारणों पर निर्भर है और न ही अशुभ का कारण

है। लेकिन दयालु एवं सर्वशक्तिमान होने के कारण वह हमें दु:खों से अवश्य ही मुक्ति दिला सकता है। लेकिन इसके लिए ईश्वर प्रणिधान आवश्यक है। ईश्वर प्रणिधान का अर्थ है ईश्वर पर सर्वतोभावेन समर्पण अर्थात् जब भक्त सब कुछ छोड़कर आर्त्त भाव से जब ईश्वर पर समर्पित हो जाता है तब ईश्वर उसे सारे पापों से मुक्त कर देता है। इस प्रकार भक्त दु:खों से बच जाता है। ज़िस प्रकार एक डाक्टर रोग उत्पन्न नहीं करता बल्कि रोगों से मुक्ति दिलाता है। इसके लिए हमें उस डाक्टर से प्रार्थना अवश्य करनी पड़ती है। इसी प्रकार एक न्यायाधीश दो व्यक्तियों के बीच आपसी विवाद उत्पन्न नहीं करता है, बल्कि वह सभी प्रकार के मुकदमों का निपटारा करता है, लेकिन केवल उसी के मुकदमें का निपटारा करता है जो इसके लिए उस न्यायाधीश से प्रार्थना करता है। इसी प्रकार क्रिकेट में पगबाधा के द्वारा खिलाड़ी के आउट होने पर भी रेफरी तब तक उसे आउट नहीं देता, जब तक कि खिलाड़ी आउट के लिए अपील नहीं करते हैं। इसी प्रकार ईश्वर दयालु एवं सर्वशक्तिमान होने के कारण लोगों को दु:खों से मुक्ति तो दिला सकता है, लेकिन इसके लिए हमें ईश्वर से प्रार्थना करनी पड़ेगी।

कोई यहाँ पर प्रश्न उठा सकता है कि ईश्वर तो सर्वज्ञाता है, अत: उससे अपील करने की क्या जरूरत है? जब वह सब कुछ जानता है तो बिना अपील के ही वह हमारे दु:खों को दूर कर सकता है। लेकिन यह प्रश्न निरर्थक प्रतीत होता है। यह सत्य है कि ईश्वर सर्वज्ञाता है लेकिन बिना अपील के ही यदि वह हमारे दु:खों से मुक्ति दिला देता तब फिर हम ईश्वर का महत्व नहीं समझते। यही नहीं हम यह भी आक्षेप करते कि ईश्वर अन्यायी है, क्योंकि घोर अपराधी को भी दण्ड देने की अपेक्षा अपनी दयावश उसे दु:खों से मुक्त कर देता है। यही नहीं ऐसी स्थिति में तब सद्कर्म और पाप कर्म का निर्धारण कैसे होगा? क्योंकि विधर्मी भी घोर अपराध के बावजूद दु:खों से मुक्त हो जायेगा।

इसके अलावा यह भी सम्भव है कि ईश्वर जगत् का स्रष्टा हो, वह सर्वशक्तिमान और दयालु भी है फिर भी जगत् में अशुभ है। परन्तु ईश्वर अशुभ के लिए उत्तरदायी नहीं है क्योंकि जब ईश्वर सृष्टि की रचना करता है तब वह हमें संकल्प की स्वातंत्र्य प्रदान करता है। इस संकल्प स्वातंत्र्य में शुभ एवं अशुभ दोनों पक्ष विद्यमान हैं लेकिन शुभ का रास्ता प्रारम्भ में जटिल एवं दु:खद है परन्तु अन्त में आनन्ददायी। जबकि अशुभ का मार्ग प्रारम्भ में सुखद है, अन्त में दु:खद।

ईश्वर ने हमें संकल्प स्वातंत्र प्रदान किया है। अब यदि हम इस संकल्प स्वातंत्र का दुरुपयोग करके अशुभ का मार्ग वरण करते हैं तो इसका अंत दुःखद होना ही है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है कि –

प्रथम हँसता जो कुमुद तब पंक में फँसता वही।
मुरझे पड़ा रहता कुमुद तब अन्त में हँसता वही।।

अतः यदि मान भी लिया जाय कि जगत् में अशुभ है तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि इस अशुभ के लिए हम स्वयं जिम्मेदार है। लेकिन कोई कह सकता है कि यदि ईश्वर यह जानता था कि मनुष्य संकल्प स्वातंत्र्य का दुरूपयोग करके अशुभ का वरण कर सकता है तब ईश्वर संकल्प स्वातंत्र्य ही क्यों प्रदान करता है? लेकिन यह प्रश्न भी निरर्थक है, क्योंकि संकल्प स्वातंत्र्य एवं अनिवार्यतः शुभ चयन दोनों परस्पर व्याघाती हैं। संकल्प स्वातंत्र्य, स्वतंत्रता की वकालत करता है वहीं अनिवार्यतः शुभ चयन परतंत्रता की।

ईश्वर को जगत् का स्रष्टा मानते हुए भी अशुभ के लिए उसे उत्तरदायी नहीं माना जा सकता। ईश्वर तो अतीन्द्रिय सत्ता है, जबकि सृष्टि भौतिक। जब कोई चीज अस्तित्व में आती है तब कुछ सीमाओं के साथ। अस्तित्व का तात्पर्य ही है सीमा। ऐसा नहीं हो सकता कि कोई सत्ता अस्तित्वमान हो फिर भी वह असीमित हो। इसीलिए आचार्य शंकर अपने ब्रह्म को असीमित होने के कारण नाम एवं रूप से परे मानते हैं। लेकिन वही ब्रह्म यदि सृष्टिकर्ता के रूप में आता है तो नाम एवं रूप से युक्त होकर सीमित हो जाता है। दूसरे शब्दों में अस्तित्व से ही द्वन्द्व की कहानी की शुरुआत होती है। जगत् में क्या कोई ऐसी सत्ता है जो अस्तित्ववान तो हो परन्तु केवल शुभ या केवल अशुभ हो। जब भी हम अस्तित्व की बात करते हैं तो इसके दो आयाम स्वयमेव उसमें चले आते हैं। लेकिन यह अस्तित्व का दोष नहीं है बल्कि उसका तो अलंकरण है क्योंकि ऐसी सत्ता जो अस्तित्वमान हो, लेकिन फिर भी जिसके केवल एक आयाम हो या तो शुभ या अशुभ। स्पष्टतः ऐसा कहना बदतोव्याघात है। शुभ एवं अशुभ एक ही सिक्के दो पक्ष हैं। जो सत्ता एक दृष्टि से शुभ है वही दूसरी दृष्टि से अशुभ। जो एक समय में एक सुखद है वही दूसरे समय में दुःखद। अतः यदि जगत् में शुभ एवं अशुभ दोनों ही हैं तो यह कोई विरोधाभास नहीं बल्कि यह एक सम्यक् सिद्धान्त है।

यदि मान भी लिया जाय कि ईश्वर जगत् का स्रष्टा है परन्तु इससे तो

केवल यह सिद्ध होता है कि ईश्वर जगत् का स्रष्टा है। इससे यह कहाँ सिद्ध होता है कि ईश्वर शुभ या अशुभ का स्रष्टा है। वास्तव में जब ईश्वर सृष्टि की रचना करता है तब वह एक–एक करके वस्तुओं का निर्माण नहीं करता है, बल्कि वह एक साथ एक व्यवस्था का सृजन करता है जिसे हम अपनी सुविधानुसार शुभ एवं अशुभ इन दो भागों में विभक्त कर देते हैं। इस प्रकार शुभ अशुभ का स्रष्टा ईश्वर नहीं बल्कि स्वयं मनुष्य है।

दूसरी बात यह है कि जगत् में विकास हो रहा है परन्तु विकास तो अपूर्णता या द्वन्द्व का द्योतक है। जब इस विकास में पूर्णता आ जायेगी, द्वन्द्व समाप्त हो जायेगा। अब माना कि ईश्वर ने सृष्टि की रचना की है, फिर भी इसमें द्वन्द्व (शुभ–अशुभ है) तो इसका तात्पर्य केवल इतना है कि जगत् विकास की ओर उन्मुख है। जब विकास अपनी चरम पराकाष्ठा पर पहुंच जायेगा, अपूर्णतायें पूर्ण हो जायेगीं, द्वन्द्व समाप्त हो जायेगा तब शुभ अशुभ का भेद स्वयमेव समाप्त हो जायेगा। इन समस्त तर्कों पर विचार करने के उपर्यन्त यह कहा जा सकता है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान है, वह दयालु भी है फिर भी जगत् में अशुभ है। लेकिन इन तीनों कथनों में कोई विरोध नहीं है। इस प्रकार मैकी का विरोधाभास तथ्यहीन एवं निस्सार है।

**

आत्मा का अमरत्व

आत्मा का अमरत्व की अवधारणा, धर्म दर्शन की एक अत्यन्त ही प्रिय एवं व्यापक अवधारणा है। यह केवल ईश्वरवादियों की समस्या नहीं है, बल्कि अनीश्वरवादी भी बहुत हद तक इस अवधारणा से प्रभावित दिखते हैं। इस दृष्टि से जे०एच० ल्यूबा, "दि बिलीफ इन गाड एण्ड इर्मोटिलिटी" में ठीक ही लिखते हैं कि ईश्वर में विश्वास करने वालों की अपेक्षा अमरत्व में विश्वास करने वालों की संख्या अत्यधिक है क्योंकि यह धर्म पर आधारित न होकर जीवन के प्रति उचित दृष्टिकोण पर आधारित है। अत: इस भावना के परित्याग का अर्थ है धर्म के साथ–साथ जीवन के प्रति उचित दृष्टिकोण का परित्याग।

ग्रीक परम्परा में भी अमरत्व को माना गया है, लेकिन वहाँ आत्मा को शरीर से पृथक न मानकर केवल एक छाया के रूप में माना जाता था। जो मृत्यु के उपरान्त इस शरीर का परित्याग कर नदी पार करके मृतकों के घर में जाया करती थी। बाइबिल में भी इस बात को स्वीकार किया गया है। परन्तु सुकरात एवं प्लेटो आत्मा को शरीर से पृथक मानने लगे। यही नहीं इन लोगों ने तो शरीर को आत्मा का बन्दीगृह तक कह डाला। जिससे मुक्त होने के बाद आत्मा अमर हो जाती है। प्रारम्भ में इसाई धर्म में भी यह मत प्रचलित था कि यही शरीर पुनर्जीवित हो जाता है। परन्तु कालान्तर में यह माना जाने लगा कि इस शरीर का अन्त हो जाता है और उसके स्थान पर एक नया शरीर मिलता है और न्याय दिवस के दिन आत्मा सशरीर ईश्वर के समक्ष उपस्थित होता है। ध्यातव्य है कि प्राचीन काल में लोग शरीर के ऊपर लेप लगाकर रखते थे, क्योंकि उनका दृढ़ विश्वास था कि यही शरीर पुनर्जीवित होकर न्याय दिवस के दिन ईश्वर के समक्ष प्रस्तुत होगा। इसाई, इस्लाम, यहूदी इन तीनों ही धर्मों में आत्मा को शरीर से पृथक न मानकर शरीरयुक्त आत्मा की अवधारणा स्वीकार की जाती है।

जहाँ तक अमरत्व की बात है एक दृष्टिकोण से अमरत्व के दो विभेद किये जाते हैं, जैविक अमरता एवं सामाजिक अमरता। जैविक अमरता वह है जिसके अन्तर्गत यह माना जाता है कि व्यक्ति तो मर जाता है परन्तु सन्तान के रूप में वह अमर रहता है। जैसा कि बर्गसा लिखता है कि जीवन एक ऐसा प्रवाह है जो एक कीटाणु से दूसरे कीटाणु में प्रवाहित होता रहता है और इस प्रकार कीटाणु जीवन के माध्यम से अमर जीवन की सम्भावना सिद्ध होती है। इसे ही जैविक अमरता कहते हैं।

इसमें कई दोष है। पहला, ऐसी अमरता अत्यन्त ही सीमित हो जाती है क्योंकि बहुत से व्यक्ति ऐसे हैं जो अविवाहित हैं और जो वैवाहिक हैं उनमें भी कई नि:संतान हैं। यदि इस अवधारणा को मान लिया जाय कि व्यक्ति सन्तान के रूप में ही जीवित रहता है तब निश्चित ही ऐसे लोग अमरत्व को प्राप्त नहीं कर सकते। दूसरा, अमरत्व की यह अवधारणा व्यक्ति के मन को सन्तोष नहीं दिला पाती, क्योंकि वह तो जानता है कि हमें तो निश्चित रूप से मरना ही है। तीसरा, यह कि धर्म परायण व्यक्ति अमरत्व की उसी अवधारणा को मानते हैं जो शरीर से पृथक एवं शाश्वत हो।

इसके विपरीत कुछ दार्शनिक सामाजिक अमरता की अवधारणा को मानते हैं। उनके अनुसार व्यक्ति तो मर जाता है फिर भी वह समाज में कुछ मूल्यों एवं आदर्शों की स्थापना करता है। अत: वह उन्हीं मूल्यों एवं आदर्शों के माध्यम से समाज में जीवित रहता है। यथा, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, दयानन्द सरस्वती, डा० चतुर्भुज सहाय जी, महात्मा गांधी, नेहरू, टैगोर प्रभृति सभी व्यक्ति समाज में मूल्यों की स्थापना कर आज भी अमर हैं। ऐसी अमरता को सामाजिक अमरता कहते हैं।

इसमें यह दोष है कि यह अमरता बहुत ही सीमित लोगों को प्राप्त हो पाती है क्योंकि समाज में ऐसे बहुत कम लोग हैं जो मूल्यों एवं आदर्शों की स्थापना कर पाते हैं। यही नहीं यह अवधारणा मनुष्य के अंतर्गत मृत्यु के भय को समाप्त भी नहीं कर पाती क्योंकि व्यक्ति यह जानता है कि वह समाज में मूल्यों की स्थापना न कर पाने के कारण अवश्य ही मृत्यु को प्राप्त होगा। इस दृष्टि से मान्टेस्क्यू का यह विचार ठीक ही प्रतीत होता है कि व्यक्तिगत अमरता ही हमारा सर्वोच्च आदर्श है।

एक अन्य दृष्टिकोण से अमरता को अशारीरिक एवं शारीरिक इन दो

भागों में विभक्त किया गया है। अशारीरिक अमरता वह है जिसके अन्तर्गत यह स्वीकार किया जाता है कि मृत्यु के उपर्यन्त व्यक्ति का शरीर तो विनष्ट हो जाता है परन्तु आत्म–चेतना से युक्त उसका व्यक्तित्व बना रहता है। इस अशारीरिक अमरता के भी दो भेद किये गये, व्यक्तित्वपूर्ण अमरता एवं निर्वैयक्तिक अमरता। व्यक्तित्वपूर्ण अमरता वह है जहाँ मृत्यु के उपरान्त मनुष्य का आत्म–चेतना से परिपूर्ण व्यक्तित्व बना रहता है। भारतीय दर्शन में वैष्णव सम्प्रदाय तथा पश्चात्य परम्परा में जसिया रायस एवं मैक्टैगर्ट आदि आदर्शवादी दार्शनिकों ने व्यक्तित्वपूर्ण अमरता को माना है। वैष्णव सम्प्रदायी मानते हैं कि मनुष्य मृत्यु के उपर्यन्त ईश्वर के लोक में पहुॅचता है, वहाँ पर उसके अहंकार का तो अन्त हो जाता है परन्तु उसका चेतना से परिपूर्ण व्यक्तित्व बना रहता है। इस प्रकार जीव ईश्वर में विलीन होने की अपेक्षा ईश्वर के समतुल्य हो जाता है। जिससे वह ईश्वर की भक्ति एवं आराधना कर सके। इस प्रकार वैष्णव सम्प्रदायी मानते हैं कि मोक्ष में व्यक्तित्व का अन्त नहीं होता, बल्कि अहंकार का अन्त होता है।

जसिया रायस भी मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति का एक विशिष्ट एवं अनूठा व्यक्तित्व होता है जिसका स्थानापन्न कोई दूसरा व्यक्ति नहीं हो सकता। उसके अनुसार ईश्वर में व्यक्ति प्रयोजन एवं मूल्य की दृष्टि से जीवित रहता है। जिस प्रकार सम्पूर्ण संख्याओं का समूह अनन्त होते हुए भी प्रत्येक संख्या एक दूसरे से पृथक है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति ईश्वर की अनन्तता में स्थित होते हुए भी अपना पृथक व्यक्तित्व अक्षुण्ण रखता है। इसी प्रकार मैक्टैगर्ट का कहना है कि आत्माओं का निरपेक्ष में वही स्थान है जो समाज में व्यक्ति का।

दूसरी ओर व्यक्तित्व रहित अमरता की संकल्पना भारतीय दार्शनिक आंचार्य शंकर करते हैं। आचार्य के अनुसार जब जीव को मोक्ष मिलता है तब उसका ब्रह्म से पृथक व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है। इस प्रकार जीव ब्रह्म के समतुल्य नहीं होता जैसा कि वैष्णव सम्प्रदायी मानते हैं अपितु जीव साक्षात् ब्रह्म हो जाता है। इस अवस्था में जीव एवं ब्रह्म के बीच विभेद का पराभव हो जाता है। जीव का जीवत्व ब्रह्म में उसी प्रकार विलीन हो जाता है, जिस प्रकार एक घड़ा जल, समुद्र के जल में विलीन हो जाने के उपर्यन्त घड़े के जल और समुद्र के जल के बीच भेद समाप्त हो जाता है अर्थात् दोनों में तादात्म्य हो जाता है। इसी प्रकार जीव एवं ब्रह्म में तादात्म्य स्थापित हो जाता है।

अशारीरिक अमरता के विपरीत शारीरिक अमरता की अवधारणा है। इसके अन्तर्गत मनुष्य को सदेह अमर होने की कल्पना की गयी है। उनके अनुसार मृत्यु के उपर्यन्त व्यक्ति का पुर्नजन्म तो नहीं होता है अपितु वह सशरीर न्याय दिवस के दिन ईश्वर के समक्ष उपस्थित होता है, जहाँ उसके कर्मों का मूल्यांकन होता है। इसीलिए इन धर्मों में दाह संस्कार की अपेक्षा कब्र में गाड़ने की प्रथा प्रचलित है। लेकिन इन धर्मों में केवल मनुष्य ही अमरत्व का अधिकारी है न कि पशु–पक्षी या अन्य प्राणी। इस मत का समर्थन इस्लाम, यहूदी और ईसाई धर्म में किया गया है।

अन्ततः व्यापकता की दृष्टि से अमरत्व के दो भेद किये जाते हैं। व्यापक अमरता एवं सीमित अमरता। व्यापक अमरता के अन्तर्गत यह स्वीकार किया जाता है कि सभी मनुष्य यहाँ तक कि पशु–पक्षी भी एक न एक दिन अमरत्व को अवश्य ही प्राप्त करेंगें। इसके लिए न तो शुभ कर्म आवश्यक है और न ही ईश्वरीय कृपा। स्पष्टतः यह अवधारणा केवल और केवल हिन्दू धर्म में मानी गई है। इसके विपरीत ईसाई धर्म में यह माना गया है कि केवल शुभ कर्म करने वाला मनुष्य ही अमरत्व को प्राप्त कर सकता है और दूसरा यह कि केवल और केवल मनुष्य ही अमरत्व को प्राप्त कर सकता है कोई अन्य प्राणी नहीं क्योंकि बाइबिल की परम्परा में आत्मा केवल मनुष्य के अन्तर्गत है अन्य प्राणियों के अन्तर्गत नहीं। अपनी इसी मान्यता के आधार पर यह केवल मनुष्य को ही अमरता का अधिकारी मानते हैं।

अमरता के पक्ष में कई प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं। जिसमें कुछ प्रमुख हैं:—

- ज्ञानमीमांसीय युक्ति।
- तत्वमीमांसीय युक्ति।
- नैतिक युक्ति।
- धार्मिक युक्ति।
- परामनोवैज्ञानिक युक्ति।
- वैज्ञानिक युक्ति।
- भाषायी युक्ति।

ज्ञानमीमांसीय युक्ति

इस युक्ति का समर्थन प्लेटो करता है। प्लेटो अपनी पुस्तक 'मीनो संवाद' में यह दिखाता है कि दो व्यक्ति हैं एक सुकरात और दूसरा एक दास का लड़का। सुकरात दास के लड़के को अपने पास बुलाता है एवं त्रिभुज की आकृति बनाकर उससे सम्बन्धित प्रश्न करता है। वह दास का लड़का जो पूर्णतया अशिक्षित था फिर भी सुकरात के सारे प्रश्नों का उत्तर देने में सफल हो जाता है। इस आधार पर प्लेटो यह सिद्ध करने का प्रयास करता है कि आत्मा अमर है और व्यक्ति पूर्व जन्म में ही सम्पूर्ण ज्ञान अर्जित करता है, जिसका इस जीवन में अभिव्यक्ति होती है। प्लेटो के इस सिद्धान्त को दर्शन जगत् में स्मरण सिद्धान्त (Memory theory) के नाम से जानते हैं। अपनी इस मान्यता के आधार पर प्लेटो यह सिद्ध करता है कि जब विद्यार्थी गुरु के पास जाता है तो गुरु उसे कोई नवीन ज्ञान प्रदान नहीं करता बल्कि उसे केवल पूर्व जन्म के ज्ञानों का ही स्मरण करा देता है।

लेकिन प्लेटो का स्मरण सिद्धान्त प्राच्य दर्शन के स्मृति सिद्धान्त से भिन्न है। ध्यातव्य है कि बौद्ध दर्शन में भी यह माना जाता है कि महात्मा बुद्ध के कई जन्म थे जिनकी विस्तृत चर्चा जातक कथाओं में मिलती है और भगवान बुद्ध उन जन्मों से होते हुए अन्त में यह शरीर धारण कर सके किन्तु प्राच्य दर्शन का यह स्मृति सिद्धान्त पाश्चात्य दर्शन के स्मृति सिद्धान्त से भिन्न है। डब्ल्यू०टी० स्टेस अपनी पुस्तक ''ए क्रिटिकल हिस्ट्री आफ ग्रीक फिलॉस्फी'' में लिखते हैं कि प्लेटो का स्मरण सिद्धान्त केवल उन अनुभवों की स्मृति की ओर संकेत करता है जिसे उसने अदैहिक अवस्था में प्रत्ययों के जगत् में प्राप्त किया था। इस प्रकार यह पूर्व जन्म से सम्बन्धित न होकर प्रत्ययों के जगत् से सम्बन्धित है।

प्लेटो का यह ज्ञानमीमांसीय तर्क भी आलोचना का विषय बन गया क्योंकि उसका ज्ञानमीमांसीय तर्क इस तत्वमीमांसीय सिद्धान्त पर आधारित है कि दो प्रकार के जगत् हैं पहला, प्रत्ययों का जगत् जो शाश्वत एवं स्थायी है, जबकि दूसरा, वस्तुओं का जगत् जो अनित्य एवं परिवर्तनशील है। अब यदि कोई व्यक्ति इस सिद्धान्त को स्वीकार न करे तो प्लेटो का सम्पूर्ण तर्क व्यर्थ हो जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ दार्शनिकों का यह भी मत है कि प्लेटो अपने स्मृति–सिद्धान्त में सर्वप्रथम यह मान लेते हैं कि आत्मा अमर है और तत्पश्चात् यह सिद्ध करते हैं

कि वह पूर्व जन्मों में प्राप्त ज्ञान को स्मृति सिद्धान्त के रूप में संचित रखते हैं। इसके परे कुछ दार्शनिकों का यह भी कथन है कि प्लेटो इस प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थ है कि सर्वप्रथम आत्मा को ज्ञान कब प्राप्त हुआ? क्योंकि कोई न कोई जन्म ऐसा होगा जो पहला जन्म होगा। अब यदि वह पहला जन्म है तो व्यक्ति ने कब ज्ञान प्राप्त किया? इसके अतिरिक्त प्लेटो का यह सिद्धान्त भी अप्रासंगिक हो जाता है कि मनुष्य का सम्पूर्ण ज्ञान केवल पूर्व जन्मों की स्मृति मात्र है। अनुभववादी दार्शनिक जॉन लॉक अपनी पुस्तक ''एन ऐसे कन्सर्निंग ह्यूमैन अण्डरस्टैण्डिंग'' में लिखता है कि ''कोई भी ज्ञान जन्मजात नहीं होता है।'' जब बच्चा पैदा होता है तब उसका मस्तिष्क अंधेरी कोठरी या सफेद कागज की भाँति होता है, जिस पर ज्ञान की रश्मियाँ अनुभव रूपी लेखनी के माध्यम से क्रमश: अंकित होती रहती है। दूसरे शब्दों में हमारा मस्तिष्क एक साफ स्लेट की भाँति होता है जिस पर ज्ञान की रश्मियां संवेदन एवं स्वसंवेदन इन दो खिड़कियों के माध्यम से क्रमश: प्रविष्ट होती हैं। स्पष्टत: प्लेटो का स्मृति–सिद्धान्त दर्शन जगत में विवाद का विषय बना रहा।

तत्वमीमांसीय युक्ति

इस सिद्धान्त की व्याख्या प्लेटो अपनी पुस्तक 'फीडो' में करता है जब वह उस परम्परागत यूनानी मान्यता का विरोध करता है जिसके अनुसार यद्यपि मनुष्य का शरीर नष्ट हो जाता है परन्तु आत्मा परछांई के रूप में कुछ समय तक बना रहता है। इस मान्यता के विरोध में प्लेटो कई तर्क प्रस्तुत करता है। पहला, प्लेटो के अनुसार इस जगत् में दो तरह के पदार्थ हो सकते हैं सावयव एवं निरवयव। सावयव वे हैं जो विनाशयुक्त होते हैं, जबकि निरवयव वे हैं जो अविनाशी हैं। आत्मा निरवयव होने के कारण अविनाशी है। परन्तु समस्या यह है कि हम यह कैसे कह सकते हैं कि आत्मा निरवयव है। प्लेटो के अनुसार संसार में दो ही तरह के पदार्थ हैं – परिवर्तनशील एवं अपरिवर्तनशील। जो सावयव है वे परिवर्तनशील है तथा उनका ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से होता है। अत: वे विनाशी है। लेकिन जो निरवयव है वे अपरिवर्तनशील है तथा उनका ज्ञान केवल बुद्धि के माध्यम से होता है। आत्मा एक ऐसी सत्ता है जो निरवयव है। अत: वह अविनाशी है।

आधुनिक दार्शनिक रेने डेकार्ट भी इस युक्ति का समर्थन करता है। उसके

अनुसार द्रव्य वह है जिसका अस्तित्व किसी दूसरे के अस्तित्व पर निर्भर न हो। लेकिन ऐसे द्रव्यों को वह दो भागों में विभक्त कर देता है — निरपेक्ष द्रव्य, जिसे वह ईश्वर कहता है तथा सापेक्ष द्रव्य जिसे वह चित् एवं अचित् कहता है। चित् का अर्थ है आत्मा जबकि अचित् का अर्थ है जड़। डेकार्ट के अनुसार ईश्वर की भाँति चित् एवं अचित् भी सत् एवं सनातन सत्ताएँ हैं। अत: ईश्वर की भाँति ही वे भी उत्पत्ति विनाश से रहित हैं। इस प्रकार डेकार्ट आत्मा को सापेक्ष द्रव्य कहकर उसे शाश्वत कहता है।

लाइबनीज भी अपने चिदणु सिद्धान्त में यह दिखाता है कि किसी भी मानव शरीर में असंख्य चिदणु हैं लेकिन इन चिदणुओं में एक चिदणु ऐसा है जिसकी चेतना अन्य चिदणुओं से अत्यधिक विकसित होती है। उसी विकसित चिदणु को लाइबनीज आत्मा कहता है क्योंकि चिदणु अविनाशी हैं अत: आत्मा भी एक चिदणु होने के कारण अविनाशी है।

दूसरा, प्लेटो लिखता है कि कोई भी तत्व अपने विरोधी स्वरूप में भाग नहीं ले सकता। आत्मा का स्वरूप जीवन्तता का स्वरूप है तथा मृत्यु जीवन का विरोधी है। इस प्रकार प्लेटो यह सिद्ध करता है कि आत्मा नित्य एवं अमर है।

तीसरा, प्लेटो कहता है कि दो प्रकार के जगत् होते हैं एक प्रत्ययों का जगत् जो शाश्वत नित्य एवं अपरिवर्तनशील है तथा दूसरा वस्तुओं का जगत् जो अनित्य एवं परिवर्तनशील है। आत्मा का कार्य शरीर के ऊपर शासन करके प्रत्ययों का ज्ञान प्राप्त करना है। इससे स्पष्ट होता है कि आत्मा भी प्रत्ययों के समान ही नित्य एवं शाश्वत है। विलियम जेम्स ने भी यह लिखा है कि शरीर एक ऐसा उपकरण है जिसे बुद्धि साधन के रूप में प्रयुक्त करती है। भारतीय दर्शन में भी शरीर एवं आत्मा के सम्बन्धों की भी रथ एवं सारथी से तुलना की जाती है। सांख्य दर्शन भी यह मानता है कि प्रकृति एवं उसके कार्य जड़ होने के कारण भोग्य है। अत: उनके भोगार्थ चेतन भोक्ता की सत्ता अनिवार्य है। "पुरुषोस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थ प्रवृतेश्च।" स्पष्टत: आत्मा ही शरीर का संचालन करता है।

लेकिन प्लेटो का तत्वमीमांसीय सिद्धान्त भी उसी पूर्व मान्यता पर आधारित है कि दो प्रकार के जगत् हैं पहला, प्रत्ययों का एवं दूसरा, वस्तुओं का। एक शाश्वत है दूसरा परिवर्तनशील। यदि कोई व्यक्ति इस सिद्धान्त को स्वीकार

न करे तब प्लेटो का सम्पूर्ण सिद्धान्त स्वयमेव खण्डित हो जाता है। यही नहीं कुछ दार्शनिक तो प्लेटो के उस सिद्धान्त पर ही प्रहार करते हैं जब प्लेटो आत्मा को शरीर से पृथक एवं शाश्वत मान लेता है तथा आत्मा को शरीर का स्वामी मानता है। इनके अनुसार आत्मा एवं शरीर दोनों ही एक दूसरे से अवियोज्य रूप से जुड़े हुए हैं। अत: शरीर से पृथक आत्मा एवं आत्मा से पृथक शरीर की परिकल्पना निरर्थक है। उदाहरण के लिए भाषायी दार्शनिक पी०एफ० स्ट्रासन अपनी पुस्तक ''इनडीविजुअल'' में लिखता है कि – यदि स्वामित्व सिद्धान्त को माना जाय जिसके अनुसार आत्मा शरीर का स्वामी है तब तो स्वामित्व के हस्तान्तरण को भी मानना पड़ेगा। जिस प्रकार कोई मकान है ओर उसका कोई स्वामी है तो वह स्वामी अपने मकान को बेचकर अपने स्वामित्व का हस्तान्तरण कर सकता है। उसी प्रकार यदि कोई हमारे शरीर का स्वामी है तब स्वामित्व का हस्तान्तरण भी होना चाहिए। परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है कि कोई व्यक्ति अपने दर्द का अनुभव दूसरे को हस्तान्तरित कर दें। तब स्वामित्व की बात करना निरर्थक है। दूसरा यह कि इस शरीर का स्वामी आत्मा है जो नित्य एवं शाश्वत है तो उसका अभिज्ञान कैसे हो सकता है? अभिज्ञान के लिए तो जड़ता का होना आवश्यक है और जड़ता के माध्यम से ही हम चेतना का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इसी कारण ह्यूम ने लिखा है कि आत्मा जैसी कोई शाश्वत सत्ता नहीं है, क्योंकि जब–जब मैं अपने अन्दर आत्मा को खोजने चलता हूँ तब मेरी टकराहट कुछ विशिष्ट संवेदनाओं जैसे सुख–दु:ख, प्रेम–घृणा, हर्ष–विषाद आदि से होती है और इनसे टकराकर मैं वापस चला आता हूँ। जब इनके मूल में जाकर किसी इकाई को खोजने का प्रयास करता हूँ तब वह इकाई नहीं मिलती। अपनी इसी मान्यता के आधार पर स्ट्रासन यह सिद्ध करता है कि व्यक्ति का सम्प्रत्यय एक मूल सम्प्रत्यय है जिसका प्रयोग हम शारीरिक एवं मानसिक दोनों ही अवस्थाओं के लिए एक साथ करते हैं। अर्थात् व्यक्ति न तो केवल शरीर है न ही केवल आत्मा बल्कि व्यक्ति का सम्प्रत्यय एक मूल सम्प्रत्यय है जिसके दो पक्ष हैं शारीरिक अवस्था एवं मानसिक अवस्था। सम्भवत: इसी कारण ईसाई धर्म में यह माना जाता है कि न्याय दिवस के दिन व्यक्ति सशरीर उपस्थित होता है।

नैतिक युक्ति

जिस प्रकार ईश्वर के अस्तित्व के बिना जगत् की व्याख्या नहीं हो

सकती उसी प्रकार आत्मा के अमरत्व के बिना भी नैतिकता की व्याख्या नहीं हो सकती। अन्य तर्कों की भाँति नैतिक तर्क की भी शुरूआत प्लेटो के दर्शन से ही होती है। प्लेटो के अनुसार कोई भी वस्तु अपने अन्दर अन्तर्निहित बुराइयों से ही विनष्ट होती है। चूँकि आत्मा सभी प्रकार के दुर्गुणों से रहित है अत: आत्मा अमर है। इसी प्रकार वह कहता है कि सद्‌गुण और आनन्द में समन्वय स्थापित करने एवं परम शुभ की प्राप्ति के लिए अमरता आवश्यक है।

लेकिन एक व्यवस्थित परम्परा के रूप में इस युक्ति की शुरुआत काण्ट के दर्शन से होती है। काण्ट के अनुसार मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य निरपेक्ष आदेश के अनुसार कार्य करना है अर्थात् केवल कर्तव्य की चेतना से अनुप्रेरित होकर कर्म करना। लेकिन उसके अनुसार ऐसा सम्भव नहीं हो पाता क्योंकि ढेर सारी कुप्रवृत्तियाँ ऐसा करने में बाधक होती हैं। इसी कारण काण्ट कहता है कि धीरे–धीरे इन कुप्रवृत्तियों पर नियंत्रण किया जाता है और अन्तत: एक न एक दिन ऐसा आता है जब व्यक्ति इन कुप्रवृत्तियों पर नियंत्रण करके अन्तत: शुद्ध कर्तव्य की भावना से अनुप्रेरित होकर कार्य करता है। लेकिन यह तभी सम्भव हो सकता है, जब इसी जन्म को अन्तिम जन्म न मान लिया जाय क्योंकि इसके लिए हमें अनेक जन्म लेना पड़ सकता है।

पुनश्च, काण्ट कहता है कि मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति करना है। लेकिन सर्वोच्च शुभ में सद्‌गुण तथा आनन्द इन दोनों का समन्वय होना चाहिए। परन्तु प्राय: ऐसा देखा जाता है कि जो व्यक्ति सदाचारी है उनका जीवन सदैव ही दु:खमय रहता है तथा जो दुराचारी हैं वे अत्यन्त ही आनन्द का उपभोग करते हैं। तब क्या यही न्याय है? काण्ट के अनुसार इसे न्याय नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार एक न एक दिन अवश्य आयेगा जब व्यक्ति के कर्मों का मूल्यांकन होगा तथा सदाचारियों को पुरस्कार एवं दुराचारियों को दण्ड मिलेगा। लेकिन इस सिद्धान्त के लिए हमें पुर्नजन्म की अवधारणा को स्वीकार करना पड़ेगा। पुर्नजन्म सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि इस जन्म के कर्मों का फल व्यक्ति अगले जन्म में भोगता है। यदि पुर्नजन्म सिद्धान्त को न माना जाय तो कर्म सिद्धान्त की सम्पूर्ण अवधारणा खण्डित हो जाती है। लेकिन पुर्नजन्म सिद्धान्त के लिए आत्मा के अमरत्व में विश्वास आवश्यक है। इस दृष्टि से ए० ई० टेलर अपनी पुस्तक "द फेथ आफ ए मॉरलिस्ट" में लिखता है कि नैतिक नियम हमें

शाश्वत जीवन की आशा प्रदान करता है। अत: शाश्वतता हमारा अन्तिम लक्ष्य है। लेकिन इतना तो सत्य है कि यह तर्क केवल उन्हीं व्यक्तियों के लिए है जो नैतिक नियमों की वास्तविकता को स्वीकार करते हैं।

काण्ट का मत भी आलोचना का विषय हो गया। कुछ आलोचकों का कहना है कि काण्ट नैतिक पूर्णता का जो अर्थ मानता है उसके लिए आत्मा के अमरत्व को मानना आवश्यक नहीं है। यदि व्यक्ति एक जन्म में नैतिक पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकता तब इस बात की क्या गारण्टी है कि वह अनेक जन्म में इस पूर्णता को प्राप्त कर ही लेगा। प्रो० वेद प्रकाश वर्मा तो यहाँ तक लिखते हैं कि काण्ट का तर्क आत्म विरोधी प्रतीत होता है क्योंकि एक तरफ काण्ट मानता है कि नैतिक पूर्णता अवश्य प्राप्त की जा सकती है ओर दूसरी तरफ वह मानता है कि इसको प्राप्त करने में अनन्त जीवन लग सकते हैं। इसका सीधे सीधे तात्पर्य यह है कि नैतिक पूर्णता कभी भी प्राप्त नहीं हो सकती।

धार्मिक या ईश्वरवादी युक्ति

ट्रुवर्ल्ड अपनी पुस्तक "फिलासफी आफ रिलीजन" में लिखते हैं कि अमरता के लिए वैज्ञानिक प्रमाण व्यर्थ और दार्शनिक तर्क अपूर्ण है। किन्तु धार्मिक तर्क ही उपयोगी है। वास्तविकता यह है कि अमरता की समस्या धार्मिक व्यक्तियों को इतनी महत्वपूर्ण नहीं लगती जितनी कि धर्म निरपेक्ष व्यक्तियों को प्रतीत होती है। धार्मिक व्यक्ति तो अमरता के प्रति आश्वस्त रहती है। जबकि श्रद्धारहित मनुष्य मृत्यु के बारे में सदैव चिन्तित रहता है क्योंकि उन्हें किसी भी पारलौकिक सत्ता का आश्वासन नहीं रहता। इसीलिए धार्मिक व्यक्ति अमरता पर जोर न देकर ईश्वरीय कृपा पर ही अधिक बल देता है। उसके अनुसार जीव ईश्वर का अंश है क्योंकि ईश्वर शाश्वत और चिरन्तर सत्ता है, अत: जीव उसका अंश होने के कारण वह ही अनश्वर है (ईश्वर अंश जीव अविनाशी – तुलसीदास)। गीता में भगवान कृष्ण ने भी लिखा है कि "न मे भक्त: प्रणश्यति" (गीता – ३/३१), अर्थात् मेरे भक्तों का कभी विनाश नहीं होता। धार्मिक व्यक्ति इसी अवधारणा के आधार पर अमरत्व के बारे में आश्वस्त रहता है।

जॉन बेली तो यहाँ तक लिखता है कि ईश्वरवादियों का अमरता में विश्वास इस जगत् की अनुभूति से ही उत्पन्न होता है। वर्तमान जगत् में ही अनागत का बीज निहित है। इस धारणा को वे व्यक्ति अच्छी तरह समझ पाते हैं

जिन्हें सन्तों का सानिध्य प्राप्त है। सन्तों के जीवन को देख करके ऐसा लगता है कि वे मृत्यु से भयाक्रान्त नहीं हैं बल्कि वे तो मृत्यु का आलिंगन करना चाहते हैं। कबीर दास ने तो यहाँ तक लिखा है कि –

जा मरने से जग डरे, मोहि बड़ा आनन्द।
कब मरिहौं कब पाइहौं, पूरण परमानन्द।।

अर्थात् जिस मरने से सम्पूर्ण संसार भयाक्रान्त है मुझे उसी में अत्यधिक आनन्द है। इसीलिए वे आग्रह करते हैं कि मैं कब मरूँ कि कब पूर्ण परमानन्द की अवस्था में अपने आपको स्थापित कर सकूँ। यह युक्ति इस बात को पुष्ट करती है कि संत अमरत्व के बारे में पूरी तरह निश्चिन्त होते है।

इसके अतिरिक्त यदि हम मूल्यों पर विचार करें तो पाते है कि शिव एवं कल्याणकारी ईश्वर ही मानवीय मूल्यों का अधिष्ठाता एवं संरक्षक हैं। मूल्यों का अस्तित्व व्यक्तियों पर निर्भर है। अत: मूल्यों को सुरक्षित रखने के लिए व्यक्तियों का अमर होना आवश्यक है। यदि व्यक्ति अमर नहीं होगा तो मानवीय मूल्यों की व्याख्या नहीं हो सकती है। इसीलिए मूल्यों की सांगोंपांग व्याख्या के लिए अमरता को स्वीकार करना आवश्यक है। इस दृष्टि से टेलर अपनी पुस्तक ''दि फेथ ऑफ ए मॉडिलिस्ट'' में ठीक ही लिखता है कि ईश्वर विषयक समुचित चिंतन के अभाव में मानवीय अमरता सम्बन्धी अवधारणा के लिए कोई सुरक्षित आधार प्रदान करना असम्भव है।

परन्तु ईश्वरवादी विचार भी अमरता की अवधारणा को तर्कत: सिद्ध करने में असफल रहता है क्योंकि ईश्वरवादी तर्क केवल उन्हीं व्यक्तियों में अमरता का भाव उत्पन्न कर सकता है जो नैतिक गुणों से परिपूर्ण सगुण एवं साकार ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करते हैं। परन्तु जो ईश्वर की सत्ता को प्रामाणित नहीं मानते उनके लिए इस युक्ति में कुछ भी ऐसा नहीं है, जो उनके मन में अमरता के भाव को जागृत कर सके।

परामनोवैज्ञानिक युक्ति

वर्तमान शताब्दी में मनोविज्ञान की एक विकसित शाखा परामनोविज्ञान के रूप में विकसित हुई है, जिसका सम्बन्ध अतीन्द्रिय विषयों तथा आध्यात्मिक जगत् के प्राणियों के साथ माना जाता है। वस्तुत: परामनोविज्ञान विषयक अनुसंधानों को मुख्यत: दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम अनुसंधान का सम्बन्ध

अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से है जिसे टेलीपैथी के नाम से भी जाना जाता है। टेलीपैथी में मन से मन का ज्ञान होता है। एक व्यक्ति बिना किसी इन्द्रिय प्रत्यक्षीकरण के भी यदि दूसरे के मन के विचार को जान लेता है तो ऐसे अपरोक्ष ज्ञान को पर–चित–ज्ञान (टेलीपैथी) की संज्ञा दी जाती है। ऐसे ज्ञान प्राप्ति में दूरी का भी कोई महत्व नहीं होता है। हॉ महत्व इस बात का अवश्य रहता है कि वह व्यक्ति आध्यात्मिक दृष्टि से पूर्ण हो तथा उसमें अपने मन को केन्द्रित करने की अपार क्षमता हो। टेलीपैथी के अन्तर्गत सर्वप्रथम व्यक्ति अपने मन को शान्त करके दूसरे के मन की तरफ उन्मुख कर देता है। ऐसी स्थिति में अब उसके मन में जो भी विचार जागृत होता है वह दूसरे व्यक्ति का होता है। किन्तु इस पद्वति में सावधानी यह रखनी चाहिए कि स्वयं अपना कोई विचार हमारे मन में न हो क्योंकि जब हमारे मन में स्वयं का विचार होगा तब हम दूसरे के मन के विचार को जानने में असमर्थ होंगे।

दूसरे वर्ग में उस अनुसंधान को रखा जाता है जिसके अन्तर्गत मृत व्यक्तियों के साथ सम्पर्क स्थापित होता है। कुछ प्रयोगों के आधार पर यह सिद्ध हुआ है कि मृत व्यक्ति की आत्मा से सम्पर्क किया जा सकता है। इसके लिए एक विशेष व्यक्ति की जरूरत होती है जो माध्यम का कार्य करता है तथा जो मृत आत्माओं से सम्पर्क स्थापित करके उनकी बातों को संसार के समक्ष प्रस्तुत कर सके। परमसंत डा० चर्तुभुज सहाय जी अपनी पुस्तक संत मीराबाई में लिखते हैं कि जब उन्होंने मीराबाई के ऊपर ग्रंथ लिखने का विचार किया तब उस समय मीराबाई के ऊपर कोई प्रमाणिक ग्रंथ उपलब्ध नहीं हो पाया जिसमें मीराबाई के जीवन की घटनाओं का यथार्थ विवरण मिल पाता। वे लिखते हैं कि ऐसी विषम परिस्थिति में उन्होंने स्वयं ही मीराबाई से सम्पर्क स्थापित किया और उन्हीं से उनकी जीवनी के संदर्भ में बातें की और तत्पश्चात् उन्होंने उस बातचीत को अपनी पुस्तक में प्रकाशित किया। लेकिन इन अध्ययनों का प्रयोगशालाओं में सिद्ध कर पाना असम्भव हैं। अतः ऐसे में इसे धार्मिक आस्था का विषय ही माना जा सकता है, न कि तार्किक ज्ञान का। लेकिन आलोचकों का कहना है कि परामनोवैज्ञानिक तर्क का किसी प्रयोगशाला में वैज्ञानिक विधि से परीक्षण नहीं किया जा सकता है।

भाषायी युक्ति

उपर्युक्त तर्कों के असफल होने पर जी०जेड०फिलिप्स अपनी पुस्तक

''डेथ एण्ड इमोंर्टिलिटी'' में आत्मा का अमरता के समाधान के लिए एक नयी युक्ति प्रस्तुत करते हैं। वे यह पूर्णत: स्वीकार करते हैं कि आत्मा की अमरता के विचार को सार्थक सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि ऐसी अमरता की अवधारणा बोधगम्य नहीं हो सकती। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि आत्मा का अमरत्व की अवधारणा निरर्थक है और हमारे जीवन में इसका कोई महत्व नहीं है। फिलिप्स के अनुसार आत्मा कोई भौतिक या अभौतिक द्रव्य नहीं है, अपितु वह तो मनुष्य के नैतिक आचरण से सम्बन्धित है जिसे व्यक्ति के नैतिक विश्वासों से सम्बन्धित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए फिलिप्स लिखते हैं कि किसी व्यक्ति के लिए यह कहना कि उसने धन के लिए अपनी आत्मा बेच दी है या उसका आत्मा मर गया है, एक पूर्णत: स्वाभाविक कथन है। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि व्यक्ति का आत्मा मर गया या उसने अपनी आत्मा को यथार्थत: बेच दिया। इस कथन का प्रयोग तब होता है जब व्यक्ति का आचरण पाशविक वृत्तियों से युक्त हो जाता है। अर्थात् जब वह पशुवत आचरण करता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि आत्मा कोई भौतिक वस्तु नहीं है बल्कि इसका सम्बन्ध नैतिक आचरणों से है जो मनुष्य अपने जीवन के संदर्भ में करता है। इसे स्पष्ट करते हुए फिलिप्स कहते हैं कि – ''किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में यह कहना कि 'वह धन के लिए अपनी आत्मा बेच देगा' एक पूर्णत: स्वाभाविक कथन है। .... यह कथन एक व्यक्ति के विषय में नैतिक कथन है जो उस पतित अवस्था को व्यक्त करता है जिसमें वह व्यक्ति है। इस संदर्भ में मनुष्य का आत्मा उसकी निष्ठा अथवा ईमानदारी और उसके कर्मों तथा विश्वासों की जटिल अवस्था की ओर संकेत करता है।................ यदि हम अपने आप से यह पूछें कि हम यह कब कहेगें कि किसी मनुष्य की आत्मा है या नहीं तो हम देखेगें कि इसका किसी प्रकार के अनुभवात्मक प्रश्न से कोई सम्बन्ध नहीं है।......... मनुष्य की आत्मा की अमरता के विषय में प्रश्न उसके जीवन से सम्बन्धित प्रश्न है, जिसे वह जी रहा है। यदि आत्मा मनुष्य के भीतर कोई पूर्णत: भिन्न वस्तु होती तो इसका अर्थ यह होता कि मनुष्य के कर्मों का उस पर कोई प्रभाव न पड़ता। परन्तु हम इस अर्थ में आत्मा के विषय में बात नहीं करते। आत्मा और मनुष्य के जीवन के बीच का सम्बन्ध आपातिक या अस्थायी नहीं है। जब मनुष्य पशु के स्तर पर पहुँच जाता है तब कोई यह कह सकता है कि उसने अपनी आत्मा खो दी है।...............

..... इस प्रकार आत्मा के विषय में बात करना किसी विचित्र प्रकार की 'वस्तु' के सम्बन्ध में बात करना नहीं है। इसके विपरीत यह एक ऐसी बात है जिसका सम्बन्ध कुछ नैतिक अथवा धार्मिक निर्णयों से है जो मनुष्य, अपने जीवन के विषय में करता है। यदि एक बार यह बात स्वीकार कर ली जाए, यदि आत्मा को कोई वस्तु अथवा किसी प्रकार का अभौतिक द्रव्य मानना छोड़ दिया जाए तो यह समझा जा सकता है कि कुछ प्रसंगों में आत्मा के विषय में बात करना मनुष्यों के सम्बन्ध में चर्चा करने का एक तरीका है।................ मनुष्य के आत्मा की अवस्था के विषय में प्रश्न करना, उसके जीवन की अवस्था के सम्बन्ध में प्रश्न करना है।" (उद्धृत प्रो० वी०पी० वर्मा, "धर्म दर्शन की मूल समस्याएं", पृष्ठ ३३९)

वैज्ञानिक युक्ति

वैज्ञानिक तर्क इस मान्यता पर आधारित है कि उर्जा का ह्रास नहीं होता बल्कि उर्जा का रूपान्तरण होता है। इसी मान्यता के आधार पर कुछ वैज्ञानिक यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि आत्मा उर्जा का संघनित रूप है। अत: जब व्यक्ति मरता है तो वास्तव में इस उर्जा का क्षय नहीं होता है बल्कि उसका रूपान्तरण दूसरे रूप में हो जाता है। इसी कारण भौतिक विज्ञान में यह माना जाता है कि गतिज उर्जा एवं स्थितिज उर्जा का महायोग शून्य होता हैं।

$$1/2\, mv^2 + Mgh = K$$

इसी तथ्य को गीता में इस रूप में प्रस्तुत किया गया है कि जिस प्रकार हमारे वस्त्र के जीर्ण शीर्ण होने पर हम उसका परित्याग कर नये वस्त्र धारण करते हैं उसी प्रकार आत्मा इस शरीर के जीर्ण शीर्ण होने पर इसका परित्याग करके पुन: नये शरीर को धारण करता है।

"वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणिं विहाय जीर्णन्यन्यामि संयाति नवानि देही।"

— गीता २/२२

समीक्षा

लेकिन कुछ दार्शनिक आत्मा को अमरत्व की अवधारणा को पूर्णतया निरर्थक मानते है। यथा, भारतीय परम्परा में चार्वाक आत्मा का अमरत्व की अवधारणा का पूर्णतया खंडन करते हैं। वे मानते है कि चेतना आत्मा का अनिवार्य धर्म नहीं है, बल्कि शरीर का अनिवार्य धर्म है। अत: प्राणान्त होने पर आत्मा जैसी

कोई शाश्वत सत्ता अवशिष्ट नहीं रह जाती। प्रश्न उठता है कि जब आत्मा शाश्वत नहीं है तब आत्मा का प्रादुर्भाव किस प्रकार होता है? इसके लिए चार्वाक कुछ दृष्टांतों का सहारा लेते हैं। उनके अनुसार जिस प्रकार पान का पत्ता, चूना, खैर, सुपाड़ी आदि के मिलने से स्वत: लाल रंग का प्रादुर्भाव होता है उसी प्रकार पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार तत्वों के मिलने से स्वत: आत्मा का प्रादुर्भाव होता है। इसीलिए चार्वाक कहते हैं कि आत्मा कोई शाश्वत सत्ता नहीं है, बल्कि यह भी चार भूतों का संघात मात्र है। इसी कारण वे तर्क देते हैं कि जब तक जीना है सुख से जीना चाहिए और यदि धनाभाव हो तो ऋण लेकर घी पीना चाहिए क्योंकि इस देह के भष्मीभूत हो जाने के उपर्यन्त कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता।

यावज्जीवेत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वां धृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत:?

यही नहीं चार्वाक यह भी कहते हैं कि यदि आत्मा अमर है तो हमें पूर्व जन्म की बातें याद क्यों नहीं आती? ल्युक्रिटस कहता है कि यदि आत्मा शाश्वत है तो हमें पूर्व जीवन की बातें याद आनी चाहिए। इसके साथ–साथ चार्वाक यह भी कहते हैं कि यदि आत्मा जैसी कोई शाश्वत सत्ता है तब हमें उसका प्रत्यक्ष अनुभव क्यों नहीं होता? इन्हीं तर्कों के आधार पर वे आत्मा की शाश्वतता का खण्डन करके एक भौतिकवादी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं जहाँ आत्मा शरीर से पृथक सता नहीं बल्कि सब कुछ जड़ता की ही अभिव्यक्ति है, यहाँ तक की आत्मा भी।

बौद्ध दार्शनिकों ने भी आत्मा की शाश्वतता का खण्डन किया है। हालाँकि वे पुनर्जन्म सिद्धान्त की अवधारणा को मानते हैं। वास्तव में बौद्धों की आत्मा सम्बन्धी अवधारणा उनके केन्द्रीय सिद्धान्त, प्रतीत्यसमुत्पाद पर आधारित है। जिसके अनुसार प्रत्येक वस्तु की सत्ता दूसरे पर निर्भर है। अपनी इसी मान्यता के आधार बौद्ध दार्शनिक कहते हैं कि आत्मा कोई शाश्वत सत्ता नहीं है बल्कि वह पंच स्कन्धों (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान) का संघात मात्र है। वे मानते हैं कि न तो इनमें से कोई एक आत्मा है और न ही इन पाँचों से परे कोई पृथक सत्ता है। जो कुछ भी है आत्मा इन्हीं पंच स्कन्धों का संघात है। यही बौद्धों का संघातवाद सिद्धान्त है।

प्रश्न उठता है कि यदि आत्मा जैसी कोई शाश्वत सत्ता नहीं है तब हमें

इसमें एकरूपता की प्रतीत क्यों होती है? इस पर बौद्धों का कहना है कि यद्यपि प्रतिक्षण आत्मा परिवर्तनशील है फिर भी इसके पीछे दो सिद्धान्त कार्य करते हैं – समानता एवं सातत्व। इन्हीं दोनों के आधार पर हम परिवर्तन की उपेक्षा कर देते हैं और हमें किसी वस्तु में एकरूपता प्रतीत होती है। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि बौद्ध पुनर्जन्म की अवधारणा को नहीं मानते। हॉ यह अवश्य है कि वह परम्परागत अर्थ में पुनर्जन्म को मानते नहीं हैं। उनके यहाँ तो पुनर्जन्म प्रतिक्षण होता है। इसीलिए प्रो० राईज डेविड ने यह ठीक ही लिखा है कि "बौद्धों के अनुसार पुर्नजन्म आत्मा का न होकर चरित्र का होता है।"

पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी आत्मा की शाश्वता का खण्डन किया है। डेमोक्रेटस और एपीक्यूरियस अपने अणुवादी सिद्धान्त के आधार पर शरीर से पृथक आत्मा की सत्ता का निषेध करते हैं। उनके अनुसार जिस प्रकार शरीर परमाणुओं से बना है उसी प्रकार आत्मा भी परमाणुओं की संरचना है। अत: जब व्यक्ति मरता है तो परमाणु विस्तीर्ण हो जाते हैं। तत्पश्चात् आत्मा जैसी कोई भी शाश्वत सत्ता अवशिष्ट नहीं रह जाती। अपनी इसी मान्यता के आधार पर एपीक्यूरियस ने यह कहा था कि मनुष्य को दो ही प्रकार के भय अत्यधिक परेशान किए हुए हैं। पहला, मृत्यु का भय तथा दूसरा, ईश्वर द्वारा दण्डित किया जाने का भय। एपीक्यूरियस के अनुसार व्यक्ति को मृत्यु से नहीं डरना चाहिए क्योंकि जब तक वह जीवित है मर नहीं सकता परन्तु जब वह मर जाता है तब आत्मा के परमाणु बिखर जाते हैं। ऐसी स्थिति में उसे किसी प्रकार का अनुभव नहीं होता है।

आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक डेविड ह्यूम भी आत्मा की शाश्वतता का खण्डन करते हैं। उनके अनुसार कोई ऐसी आत्मा नहीं है जो इस जन्म के पूर्व तथा मृत्यु के उपर्यन्त भी विद्यमान रहे। ह्यूम के अनुसार जो कुछ भी है वह क्षणिक संवेदनाओं का संघात मात्र है। अपनी इसी मान्यता के आधार पर ह्यूम कहता है कि जब–जब मैं आत्मा को खोजने अपने अन्दर चलता हूँ तो मेरी टकराहट कुछ विशिष्ट संवेदनाओं से होती है। यथा सुख–दु:ख, प्रेम–घृणा, हर्ष–विषाद, और उनसे टकराकर मैं वापस चला आता हूं। जब इनके मूल में जाकर किसी इकाई को खोजने का प्रयास करता हूँ तो वह इकाई नहीं मिलती है। इस प्रकार ह्यूम आत्मा को आन्तरिक संवेदनाओं का समूह कहता है।

इसी प्रकार विलियम जेम्स भी आत्मा की शाश्वतता का खण्डन करता

हैं। उसके अनुसार परिवर्तनशील विचार ही विचारक है। जबकि बी० रसेल इसे तार्किक गल्प (Logical Fiction) की संज्ञा दी है। उसके अनुसार 'मैं' का प्रयोग केवल व्याकरणिक दृष्टि से ही उपयुक्त है। ए०जे० एयर भी आत्मा को प्रवाह रूप में मानता है। स्पष्टत: ये सभी दार्शनिक अमरत्व की अवधारणा में विश्वास नहीं करते। इनके अनुसार आत्मा शाश्वत नहीं है बल्कि प्रवाह रूप है।

कुछ भाषा वैज्ञानिकों ने भाषा विश्लेषण के आधार पर आत्मा के अमरत्व सम्बन्धी अवधारणा का खण्डन किया है। इसमें पी०टी० गीच एवं एन्टोनी फ्ल्यू का अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान है। इनके अनुसार आत्मा के अमरत्व की अवधारणा परस्पर व्याधाती है। एक तरफ हम यह कहते हैं कि वह मर गया, दूसरी तरफ यह कहते हैं कि वह बच गया। यह दोनों परस्पर विरोधी बातें हैं। यदि कोई व्यक्ति सार्थक रूप से मर गया तो फिर वह बच कैसे सकता है? तर्कत: यह बातें वैसे ही हैं जैसे किसी कुँवारी लड़की से कहा जाय कि 'तुम कुँवारी पत्नी हो'। वास्तव में जो कुँवारी है वह पत्नी नहीं हो सकती और जो पत्नी है वह कुँवारी नहीं हो सकती। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति वास्तव में मर गया तब हम उसके लिए सार्थक रूप से यह नहीं कह सकते कि वह बच गया।

प्रो० वी०पी० वर्मा भी अपनी पुस्तक "धर्म दर्शन की मूल समस्याएँ" में लिखते हैं कि "क्या आत्मा की अमरता से सम्बन्धित विश्वास के विषय में धर्म परायण व्यक्तियों का उपर्युक्त मत दार्शनिक दृष्टि से उचित और युक्ति संगत है। मेरे विचार में इस प्रश्न का तर्क संगत उत्तर केवल नकारात्मक ही हो सकता है। इसका कारण यह है कि किसी भी विचार अथवा विश्वास को केवल इसलिए सत्य और प्रामाणित नहीं माना जा सकता कि वह हमें संतोष एवं आनन्द प्रदान करता है। दार्शनिक केवल उसी विचार, विश्वास, सिद्धान्त या मान्यता को स्वीकार करता है, जिसके समर्थन में पर्याप्त विश्वसनीय प्रमाण उपलब्ध हों। .... कुछ दार्शनिकों ने आत्मा की सत्ता और अमरता को सिद्ध करने के लिए जो तर्क दिये हैं, वे दोषपूर्ण होने के कारण विश्वसनीय नहीं हैं। यह दार्शनिक हमें यह नहीं बताते कि आत्मा का ठीक–ठीक स्वरूप क्या है। आत्मा को शरीर तथा मन से भिन्न और अभौतिक द्रव्य कह देने मात्र से उसका वास्तविक स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। इस प्रकार आत्मा के स्वरूप के विषय में इन दार्शनिकों का मत बहुत अस्पष्ट एवं अनिश्चित है। ऐसी स्थिति में आत्मा की अमरता से सम्बन्धित

विश्वास को स्वीकार करने के लिए हमारे पास कोई तर्क संगत आधार नहीं रह जाता।'' (पृष्ठ ३४३)

प्रो० वर्मा कहते हैं कि दार्शनिक केवल उसी विचार और सिद्धान्त को स्वीकार करता है जिसके लिए विश्वसनीय प्रमाण उपलब्ध हो। लेकिन हमें इस प्रश्न पर भी विचार करना चाहिए कि किसके पक्ष में तर्क संगत प्रमाण हो सकता है और किसके पक्ष में प्रमाण नहीं हो सकता। जहाँ तक मैं समझता हूँ तर्क या प्रमाण की बात केवल भौतिक वस्तुओं या सीमित सत्ताओं के लिए हो सकता है। आत्मा एक अभौतिक तथा अतीन्द्रिय सत्ता है। अत: आत्मा के लिए प्रमाण की बात करना निरर्थक ही है। वृहदारण्यक उपनिषद में ऋषि याज्ञवल्क्य लिखते हैं कि ''विज्ञातारम् अरे! केन विजानीयात्'' अर्थात् जो सबको जानने वाला है उसे कैसे जाना जा सकता है। यही नहीं वे पुन: लिखते हैं कि ''आत्मा को जानने की चाह रखने वालों को शिरोच्छेद के लिए भी तैयार रहना चाहिए'' (मूर्धान्ते पतिश्यन्ति)। इसी प्रकार शंकरोत्तर अद्वैत वेदान्ती श्री सुरेश्वराचार्य लिखते हैं कि ''यतो राद्धि: प्रमाणम् स कथं तै: प्रसिद्धयति'' अर्थात् जिससे प्रमाणों की सिद्धि होती है उसे किस प्रमाण से सिद्ध किया जा सकता है?

इसी कारण काण्ट भी ह्यूम के ऊपर आक्षेप करता है। ध्यातव्य है कि ह्यूम ने लिखा है कि ''आत्मा की सत्ता नहीं है क्योंकि वह हमारे प्रत्यक्ष अनुभव से परे है।'' इसीलिए वह लिखता है कि ''जब जब मैं अपने अन्दर जाकर आत्मा को पकड़ने का प्रयास करता हूं तो मेरी टकराहट कुछ विशेष संवेदनाओं यथा, सुख—दु:ख, प्रेम—घृणा, हर्ष—विषाद से होता है और इनसे टकराकर मैं वापस चला आता हूं। यदि इनके मूल में जाकर किसी इकाई को खोजने का प्रयास करता हूं तो वह नहीं मिलती है।'' इस पर काण्ट का कहना है कि यदि ह्यूम इन्द्रियानुभव के माध्यम से आत्मा को पकड़ने में असमर्थ रहता है तब इसका तात्पर्य यह नहीं है कि आत्मा का अस्तित्व ही नहीं है बल्कि इससे तो केवल यही सिद्ध होता है कि आत्मा इन्द्रियानुभव का विषय नहीं है। वास्तव में आत्मा तो अतीन्द्रिय है और जो अतीन्द्रिय है वह अनुभव का विषय कैसे हो सकता है। इसी प्रकार प्रो० ए०सी० मुखर्जी अपनी पुस्तक ''सेल्फ थॉट एण्ड रियलिटी'' में लिखते हैं कि आत्मा तो अतीन्द्रिय होने के कारण अनुभव का विषय नहीं हो सकता। अत: उसे अनुभव का विषय बनाने का प्रयास दोषपूर्ण है। इसे ही वे अतीन्द्रिय विस्थापन का

दोष (Falacy of Transcendental Dislocation) कहते हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आत्मा को अनुभव का विषय बनाने का प्रयास दोषपूर्ण है।

पुनश्च, प्रो० वर्मा का कहना है कि कुछ दार्शनिकों ने आत्मा की सत्ता और अमरता को सिद्ध करने के लिए जो तर्क दिये है वे दोषपूर्ण होने के कारण विश्वसनीय नहीं हैं। जब आत्मा के लिए तर्क हो ही नहीं सकता तो उसके लिए जो तर्क देता है निश्चित रूप में वह अविश्वसनीय होगा। इस रूप में प्रो० वर्मा का कथन सत्य प्रतीत होता है।

इसी प्रकार प्रो० वर्मा आत्मा की सत्ता का निषेध करते हुए कहते हैं कि यदि किसी विचार अथवा सिद्धान्त के पक्ष में निश्चित प्रमाण विद्यमान है तो क्या हमें उसको केवल इसलिए अस्वीकार कर देना चाहिए कि वह हमारे लिए अप्रिय तथा दु:खद है? निश्चित रूप से ऐसे विचार को महत्व नहीं देना चाहिए, जिसके पक्ष में कोई प्रमाण न हो। परन्तु प्रश्न यह है कि आत्मा के विपक्ष में क्या प्रमाण है? यहाँ पर प्रो० वर्मा इस प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थ रहते हैं। यदि यह कहा जाय कि आत्मा अनुभव का विषय नहीं तो प्रश्न उठता है कि क्या आत्मा अनुभव का विषय हो सकता है। वास्तव में दो स्तर की सत्तायें होती हैं। एक अनुभवातीत एवं दूसरा अनुभवजन्य। जो अनुभवातीत है उसे अनुभव का विषय कैसे बनाया जा सकता है? इस प्रकार जो सत्ता अतीन्द्रिय है न तो उसके पक्ष में कोई प्रमाण हो सकता है न ही उसके विपक्ष में। अर्थात् आत्मा के विपक्ष में प्रमाण देना उतना ही गलत है, जितना पक्ष में।

लेकिन प्रो० वर्मा लिखते हैं कि कुछ धर्म परायण विचारक यह कह सकते हैं कि आत्मा की अमरता के विरुद्ध भी निश्चित प्रमाण नहीं है अत: आत्मा की अमरता को स्वीकार कर लेना चाहिए। प्रो० वर्मा के शब्दों में ''परन्तु कुछ धर्म परायण विचारक यह कह सकते हैं कि आत्मा की अमरता के विरूद्ध भी कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। मेरे विचार में इसका उत्तर यह है कि किसी विश्वास के विरुद्ध प्रमाणों का अभाव उसे सत्य प्रामाणित नहीं करता। यदि यह मान भी लिया जाय कि आत्मा की अमरता से सम्बन्धित विश्वास के विरुद्ध कोई प्रमाण नहीं है तो भी इससे यह विश्वास सत्य सिद्ध नहीं हो जाता। किसी विश्वास, विचार या सिद्धान्त को सत्य प्रामाणित करने के लिए उसके समर्थन में विश्वसनीय प्रमाण देना आवश्यक है, उसके विरुद्ध प्रमाणों के अभाव को सिद्ध करना नहीं।'' (पृष्ठ

३४४–३४५)

यद्यपि यह बिल्कुल सत्य है कि किसी सिद्धान्त के पक्ष में प्रमाण होना चाहिए न कि उसके विपक्ष में। परन्तु समस्या यह है कि क्या आत्मा प्रमाण का विषय है। सर्वप्रथम हमें इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए तत्पश्चात् पक्ष एवं विपक्ष में प्रमाण की बात करनी चाहिए। आत्मा के विपक्ष में तो एक ही प्रमाण है कि वह अनुभव का विषय नहीं है, लेकिन इसके पक्ष में कई प्रमाण हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, पहला, मनुष्य केवल भौतिक वस्तु नहीं है बल्कि वह एक चेतन सत्ता भी है और इसका अनुभव प्रत्येक व्यक्ति स्वयं करता है इसके लिए प्रमाण की बात करना व्यर्थ है। क्या प्रो० वर्मा स्वयं मानते हैं कि वे केवल भौतिक वस्तु हैं और यदि वे भौतिक वस्तु नहीं हैं तब उनमें और भौतिक वस्तु में अन्तर क्या है? स्पष्टत: जब प्रो० वर्मा इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास करेंगे तब अन्तत: वे अपने को जड़ता से भिन्न करने के लिए चेतना के रूप में स्वीकार कर लेगें क्योंकि चेतना ही वह सत्ता है जो जड़ता को व्यक्ति से पृथक करती है।

दूसरा, आत्मा की सत्ता असंदिग्ध भी है। क्या कोई व्यक्ति अपने लिए यह कह सकता है कि मैं नहीं हूँ? यदि वह कहता है कि मैं नहीं हूँ तो ऐसा कहने से भी उसका होना सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार आत्मा का निषेध भी आत्मा के अस्तित्व को प्रामाणित करता है। ''य एव हि निराकर्त्ता तदेव तस्य स्वरूपम्''। डेकार्ट भी कहता है कि मैं सारे विषयों पर संशय कर सकता हूँ परन्तु आत्मा पर नहीं क्योंकि आत्मा पर संशय करने के लिए भी आत्मा का होना आवश्यक है।

प्रो० वर्मा ट्रूबल्ड के मतों की समीक्षा करते हुए कहते हैं कि ''ट्रूबल्ड के मतानुसार यदि मृत्यु के फलस्वरूप मनुष्य के जीवन का अन्त हो जाता है तो स्वयं अपने नैतिक उत्थान, सामाजिक कल्याण तथा विश्व शान्ति के लिए उनके द्वारा किये गये समस्त प्रयास व्यर्थ हैं। अत: इन प्रयासों की सार्थकता के लिए आत्मा की अमरता में विश्वास करना आवश्यक है।'' इस पर टिप्पणी करते हुए प्रो० वर्मा लिखते हैं कि ''मनुष्य के नैतिक जीवन, सामाजिक कल्याण तथा विश्व शान्ति के साथ आत्मा की अमरता का कोई सम्बन्ध नहीं है।''(पृष्ठ ३४४) जबकि वास्तविकता यह है कि नैतिकता का अमरता से साक्षात् सम्बन्ध है। यदि ऐसा नहीं है तो प्रश्न उठेगा कि हम जीवन भर नैतिक क्यों रहें? यदि आत्मा की अमरता को नहीं मानते तो चार्वाकों की तरह नैतिकता को भी अस्वीकार करना पड़ेगा। एक तरफ यह

कहना कि आत्मा नहीं है और दूसरी तरफ यह कहना कि हमें नैतिक होना चाहिए तो इस नैतिकता की व्याख्या हम कैसे कर सकते हैं? जब हम इस प्रश्न पर विचार करते हैं कि हम सदैव नैतिक क्यों रहें तो कोई भी अनात्मवादी दार्शनिक इस प्रश्न का सार्थक उत्तर देने में असमर्थ रहता है। इसके लिए हमें मानना ही पड़ेगा कि हम नैतिक इसलिए रहें क्योंकि हमें अपने कर्मों का फल भोगना पड़ेगा। अब यदि कोई आत्मा को नहीं मानता तब वह नैतिकता की सांगोंपांग व्याख्या कैसे कर सकता है। इसलिए प्रो० वर्मा का यह कहना पूर्णत: असंगत है कि ''प्रत्येक व्यक्ति यह भलीभाँति जानता है कि उसकी मृत्यु निश्चित है, किन्तु फिर भी वह स्वयं अपनी, अपने परिवार, समुदाय तथा राष्ट्र की उन्नति के लिए यथासम्भव प्रयास करता है।'' (पृष्ठ ३४४)

परन्तु यदि मृत्यु निश्चित है तो वह उन्नति का प्रयास क्यों करता है। वह उन्नति का प्रयास केवल इसलिए करता है क्योंकि अच्छे कर्मों का फल अच्छा होता है। वह जानता है कि लोक उन्नति में ही उसकी उन्नति है। इसलिए प्रो० वर्मा ठीक ही कहते हैं कि................ ''तब मानव समाज – में न तो धर्म होता, न सदाचार न अध्यात्मिकता होती और न नैतिकता, न दर्शन होता और न विज्ञान। तब मनुष्य भी पशुओं की भांति वन–वन भटकता फिरता।'' (पृष्ठ ३४४) लेकिन इसके लिए प्रो० वर्मा जो तर्क देते हैं वह अत्यन्त ही अग्राह्य है।

अन्तत: प्रो० वी०पी० वर्मा अपनी पुस्तक ''धर्म दर्शन की मूल समस्याएँ'' में लिखते हैं कि आत्मा की अमरता में विश्वास एक प्रकार की आत्म प्रवंचना (Bad Faith) है। अत: व्यक्ति को अमरत्व की अपेक्षा मृत्यु की अनिवार्यता को स्वीकार करना चाहिए क्योंकि अमरत्व की अवधारणा न तो हमारे जीवन में वास्तविक सम्बल प्रदान कर सकता है और न ही जीवन का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। अत: सार्थक एवं मंगलमय जीवन का केवल एक ही उपाय है कि जीवन एवं मृत्यु से सम्बन्धित सभी कठोर सत्यों को स्वीकार करते हुए स्वयं अपनी तथा अपने समाज की उन्नति के लिए सतत् प्रयास करते रहना चाहिए। ''. उन्हीं के शब्दों में............किसी मिथ्या विश्वास के आधार पर सम्पूर्ण जीवन व्यतीत करना केवल आत्मा प्रवंचना है, जो नैतिक दृष्टि से निन्दनीय है। आत्मा की अमरता से सम्बन्धित इस मिथ्या विश्वास को स्वीकार करते हुए प्रवंचनापूर्ण जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा मनुष्य के लिए यह क़हीं अत्यधिक श्रेयस्कर होगा

कि वह मृत्यु की अनिवार्यता के कठोर सत्य को स्वीकार करना सीखे और इसी के अनुरूप अपने वर्तमान जीवन को यथासम्भव सार्थक बनाने का प्रयास करें। यदि मानव इस कटु सत्य को जान ले कि उसका जीवन नश्वर है और उसके लिए अमरता की कोई सम्भावना नहीं है तो वह केवल आत्मा–प्रवंचना से ही मुक्त नहीं होगा, अपितु अपने इसी जीवन को स्वयं अपने लिए तथा दूसरों के लिए सार्थक बनाने का प्रयास भी कर सकेगा।'' (पृष्ठ ३४४–३४५)

यदि प्रो० वर्मा की बातों पर सूक्ष्मता पूर्वक विचार किया जाय तो ऐसा प्रतीत होता है कि प्रो० वर्मा जिस आत्म–प्रवंचना की बात करते हैं वे खुद ही उसी आत्म–प्रवंचना से ग्रस्त हैं। जिन दार्शनिकों ने आत्मा का अमरत्व सम्बन्धी विचार व्यक्त किए हैं, उन्होंने उसका मार्ग भी बताया है। बिना उस मार्ग पर चले हुए जब हम किसी बात को आत्म–प्रवंचना कहते हैं तो वह दोषयुक्त हो जाती है। यह सत्य है कि हमें जीवन की वास्तविक समस्याओं को सुलझाने का प्रयास करना चाहिए। लेकिन जीवन की वास्तविक समस्याओं को सुलझाने में अमरत्व की अवधारणा कहीं बाधक नहीं है बल्कि वह तो साधक प्रतीत होती है। व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन किसी न किसी नैतिक सिद्धान्त पर आधारित होता है। अमरत्व की अवधारणा, नैतिकता की एक अनिवार्य प्रागपेक्षा है क्योंकि सम्पूर्ण कर्म सिद्धान्त इसी अमरत्व की अवधारणा पर आधृत है। अतः आत्मा के अमरत्व की अवधारणा के परित्याग का अर्थ है कर्म सिद्धान्त का परित्याग और जब कर्म सिद्धान्त ही समाप्त हो जायेगा तो मनुष्य के जीवन जीने का कोई अभिप्राय नहीं रह जायेगा। मनुष्य कोई यंत्र नहीं है जो केवल भौतिक परिस्थितियों से संचालित होता है बल्कि वह एक आध्यात्मिक पुरुष भी है जिसका सम्पूर्ण जीवन कर्म सिद्धान्त से ओतप्रोत है। जब कर्म सिद्धान्त खण्डित हो जाता है तो जीवन निःसार बन जाता है क्योंकि ऐसी परिस्थिति में व्यक्ति विचार करता है कि हम क्यों अच्छा करें या हमारे होने का क्या तात्पर्य ही है? इस प्रश्न का जब हम सार्थक उत्तर खोजने का प्रयास करते हैं तो कहीं न कहीं से कर्म सिद्धान्त चला आता है और जब हम कर्म सिद्धान्त को मानते हैं तो आत्मा का अमरत्व की अवधारणा में विश्वास स्वाभाविक हो जाता है क्योंकि बिना अमरत्व के सिद्धान्त को माने कर्म सिद्धान्त की सांगोपांग व्याख्या नहीं हो सकती। इस प्रकार अमरत्व की अवधारणा में विश्वास न तो कपोल कल्पित अवधारणा है और न ही आत्म–प्रवंचना, बल्कि यह जीवन का

एक यथार्थ है। अत: अमरत्व की अवधारणा में विश्वास कोई पहेली नहीं है बल्कि एक व्यावहारिक आवश्यकता है जिसके बिना व्यक्ति का सामान्य जीवन जीना भी असम्भव हो जाता है। इसलिए प्रो० वर्मा का यह कथन कि ''मनुष्य के लिए आत्मा की अमरता से सम्बन्धित मिथ्या विश्वास को स्वीकार करने की अपेक्षा मृत्यु की कठोर वास्तविकता का सामना करते हुए अपने व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन की सार्थकता एवं उन्नति के लिए यथासम्भव प्रयास करना कहीं अधिक वांछनीय है और श्रेयस्कर होगा।'' (पृष्ठ ३४५) यह बिल्कुल सत्य है परन्तु इसमें आत्मा का अमरता की अवधारणा कहीं भी बाधक नहीं है। वास्तव में जो आत्मा का अमरता को स्वीकार करता है वही सामाजिक जीवन की सार्थकता एवं उन्नति के लिए अपेक्षित प्रयास कर सकेगा।

**

धार्मिक सहिष्णुता का आधार

'धर्म का इतिहास मानव सभ्यता का इतिहास है', मैक्समूलर के इस कथन का अभिप्राय यह है कि जब से मानव सभ्यता के विकास का इतिहास मिलता है तभी से धर्म का भी इतिहास मिलने लगता है। लेकिन सभ्यता एवं संस्कृति में परिवर्तन के साथ—साथ धर्म के स्वरूप में भी परिवर्तन होता गया। आज वह स्वयं अपने आपको परिष्कृत एवं परिमार्जित करते हुए, अपने स्वरूप को जीवन्त एवं गत्यात्मक बनाए हुए है। इस प्रकार धर्म वह गत्यात्मक अवधारणा है जो सभी प्रकार के परिवर्तनों में अपने आपको विकसित करते हुए अपने मूल एवं सैद्धान्तिक अक्षुणता को बनाये रखा है। स्पष्टत: धर्म का व्यक्ति एवं समाज पर गहरा प्रभाव रहा है। इस दृष्टि से किन्सले डेविस का यह कहना ठीक ही है कि "धर्म मानव समाज का वह सर्वव्यापी, स्थायी एवं शाश्वत तत्व है, जिसे समझे बिना मानव समाज के स्वरूप को ही नहीं जाना जा सकता।"[1]

ऐसी परिस्थिति में स्वभावत: यह प्रश्न उठता है कि धर्म का स्वरूप क्या है? धर्म शब्द 'धृञ' (धारणे) धातु में 'मन्' प्रत्यय लगा कर बना है जिसका धातुगत अर्थ है 'धारयतीति धर्म:' अर्थात् धारण करना। इस प्रकार व्युत्पति की दृष्टि से धर्म की कई परिभाषाएँ दी जाती हैं;

- ध्रियते लोक: अनेन इति धर्म:, जिसके द्वारा लोक को धारण किया जाय, वह धर्म है।
- धरति धारयति वा लोकम्, जो लोक को धारण करता, वह धर्म है।
- ध्रियते य: स धर्म:, जो दूसरों द्वारा धारण किया जाय, वह धर्म है।

स्पष्टत: यहाँ धर्म का प्रयोग एक विधायक—वृति के रूप में किया गया है। जिनके अनुसार किसी भी वस्तु, व्यक्ति या समाज की जो मूल वृत्ति है, वही

उसका धर्म है, यथा, लेखनी का धर्म लिखना, शब्द का धर्म अर्थबोधकता, अग्नि का धर्म दाहकता एवं प्रकाश, व्यक्ति का धर्म विचारशीलता या अभिव्यक्ति तथा समाज का धर्म सामाजिक सुव्यवस्था है। यदि उक्त वस्तु, व्यक्ति एवं समाज अपनी मूल–वृत्ति का परित्याग कर दे, तो वह अपनी संज्ञा खो देता है, वहीं समाज अनियंत्रित हो जाता है, तब मनुष्य पशु बन कर रह जाता है। इसी कारण महाभारत के शांतिपर्व में केवल धर्म के आधार पर ही मनुष्य एवं पशु में विभेद किया गया है।

"आहार, निद्रा, भय, मैथुनं च सामान्यमेतद् पशुभिः नराणाम्।
धर्मोहि तेषामधिको विशेषः धर्मेण हीनाः पशुभिः समाना।।"[2]

महाभारतकार लिखता है कि केवल मानव समाज का ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण जगत की प्रतिष्ठा भी धर्म में ही है।[3] इसी प्रकार तैतरीय आरण्यक में धर्म को सम्पूर्ण जगत का आधार एवं उसे विश्व में सर्वनिष्ठ तत्व कहा गया है (धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा)[4]। महर्षि कणाद धर्म को लौकिक उन्नति तथा पारमार्थिक कल्याण का साधन मानते हैं (यतोऽभ्युदय निःश्रेयस् सिद्धिः स धर्मः)।[5] एक तरफ, चाणक्य इसे सुख व शांति का मूल कहते हैं, तो दूसरी तरफ उपनिषद इसमें सत्य तथा कर्तव्य को जोड़ कर इसमें अनिवार्यतः नैतिकता का पुट ला देती है। वहीं गीता में धर्म को मूलतः कर्तव्य के अर्थ में लिया गया है (कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन)[6]। इसी प्रकार मनुस्मृति में मनु धर्म को अनिवार्यतः नैतिकता से सम्पृक्त कर देते हैं।

"धृतिः क्षमादमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियमिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यम् अक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्।।"[7]

स्पष्टतः यहाँ धर्म को अत्यन्त ही व्यापक अर्थ में ग्रहण किया गया है। यह केवल उपासना, पूजा पद्धति तथा ईश्वर या अलौकिक सत्ता से सम्बन्धित विश्वास न होकर, जीवन के प्रत्येक कार्य–कलाप को धर्ममय कहा गया है। यद्यपि यह अलग बात है कि जीवन का प्रत्येक क्रिया–कलाप धर्ममय होते हुए भी उसे संयम के साथ नियंत्रित करने की बात की गई है। यदि धर्म से संयम को निकाल दिया जाय तो वही धर्म, कुधर्म हो जाता है। इसी कारण डॉ० राधाकृष्णन अपनी पुस्तक "धर्म और समाज" में लिखते हैं कि "धर्म चारो वर्णो तथा चारो आश्रमों के लोगों द्वारा, जीवन के चार पुरुषार्थो को, यथासम्भव प्राप्त करने का सम्पूर्ण नैतिक कर्तव्य है।"[8] इसी

प्रकार प्रो० हावेल अपनी पुस्तक "आर्यन रूल इन इण्डिया" में लिखते हैं कि "भारत में धर्म कोई विधि नहीं है बल्कि जीवन की विविध अवस्थाओं के लिए संघात आचरण की आयोजना है।"[9] इसी प्रकार डॉ० पी०वी० काणे लिखते हैं कि "धर्म किसी सम्प्रदाय या मत का द्योतक नहीं है, प्रत्युत यह जीवन का एक ढंग या आचार–संहिता है, जो समाज के किसी अंग एवं व्यक्ति के रूप में मनुष्य के कर्मो एवं कृत्यों को व्यवस्थापित करता है तथा उसमें क्रमश: विकास लाता हुआ उसे मानवीय अस्तित्व के लक्ष्य तक पहुँचने के योग्य बनाता है।"[10]

दूसरी ओर, Religion शब्द Religere से बना है, जिसका अर्थ होता है बॉधना। इस प्रकार रिलीजन वह है जो कि मनुष्य एवं ईश्वर में सम्बन्ध स्थापित करता है तथा जो विभिन्न मनुष्यों को परस्पर एक–दूसरे से संबन्धित करता है। चैम्बरर्स की ट्वेन्टीथ सेन्चुरी डिक्शनरी (1947) में Religion के दो महत्वपूर्ण पक्ष बताये गये हैं। पहला, दैवी सत्ता के प्रति अनुज्ञा तथा दूसरा, मजहबी संगठन की सदस्यता की प्रबल उत्कण्ठा। यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाये, तो Religion के अन्तर्गत निम्न विशिष्टताएं परिलक्षित होती हैं;

- Religion किसी न किसी रूप में पारमार्थिक सत्ता से सम्बन्धित होता है। इसके अनुसार ईश्वर नितान्त गुह्य या रहस्यमय है।
- तथापि मानव के कल्याणार्थ वह अपने आदेशों को, पैगम्बरों के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। अत: इन पैगम्बरों का आदेश ही Religion होता है।
- जो इन आदेशों पर विश्वास करते हैं वे सभी मिल कर एक पंथ या सम्प्रदाय का गठन करते हैं।
- Religion से सम्बन्धित विशिष्ट प्रकार के कर्मकाण्ड भी होते हैं, जिन्हें Religion का आधार कहा जा सकता है।
- अंतत: Religion का आधार बौद्धिकता या तर्क न हो कर मूलत: आस्था या विश्वास है।

इन्हीं मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में धर्म और रिलीजन में विभेद किया जा

सकता है। रिलीजन में जहाँ 'बाँधने' की बात होती है, वहीं धर्म में 'स्वतंत्रता' का। लेकिन यह स्वतंत्रता न तो नियंत्रण है और न ही अनियंत्रण, बल्कि यह आत्मनियंत्रण की स्थिति है, जहाँ व्यक्ति अपनी आत्मा के द्वारा अनुशासित एवं मर्यादित होता है। इसी प्रकार रिलीजन में कठोरता एवं अनम्यता होती है, जबकि धर्म में मृदुलता एवं नम्यता होती है। इसी कठोर अर्थ में रिलीजन को मार्क्स 'गरीबों का अफीम' और फ्रायड 'मनोव्याधि' कहता है। पुनश्च, धर्म के लिए पैगम्बर का आदेश, कर्मकाण्ड एवं सम्प्रदाय बनाने की भावना का होना आवश्यक नहीं है, जबकि रिलीजन के लिए यह अनिवार्य तत्व हैं। इसीलिए आचार्य बलदेव उपाध्याय अपनी पुस्तक "भारतीय धर्म दर्शन" में लिखते हैं कि "रिलीजन का पर्याय मज़हब (पंथ) है, न कि धर्म।"[11] धर्म वह शाश्वत, स्थायी एवं देशकाल की सीमा का अतिक्रमण करने वाला तत्व है जो विभिन्न परिस्थितियों के अनुरूप अपने आपको परिष्कृत एवं परिमार्जित करते हुए अपनी सैद्धान्तिक अक्षुणता बनाये रखता है। इस अर्थ में धर्म तो केवल हिन्दू धर्म ही है, अन्य सभी धर्म, रिलीजन ही हैं। फिर भी व्यापक रूप में दोनों का प्रयोग समानार्थक रूप में होता रहा है।

लेकिन धर्म के नाम पर एक धर्म के अनुयाइयों के बीच जितना सौहार्द्र एवं प्रेम की भावना दृढ़ होती है, उतना ही अन्य धर्मावलम्बियों के बीच कटुता एवं वैमनस्य फैलता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि धर्म के नाम पर जितना रक्तपात हुआ है, उतना किसी अन्य चीज के नाम पर नहीं। स्वामी विवेकानन्द ने तो यहाँ तक कहा कि जब मैं विदेशों की यात्रा पर था, तब लोगों के आचरण को देखकर ऐसा प्रतीत होता था कि यदि वे मेरी हत्या भी कर देते तब इसमें मुझे कोई आश्चर्य नहीं होता। प्रश्न उठता है कि इस धार्मिक असहिष्णुता का कारण क्या है? इसके मूलत: चार कारण परिलक्षित होते हैं;

- 'तआस्सुबी बुद्धि' अर्थात् मेरा धर्म ही एक मात्र सत्य धर्म है, अन्य सभी धर्म झूठे हैं।
- 'अज्ञानता', असहिष्णुता के लिए काफी हद तक उत्तरदायी है। यदि प्रत्येक व्यक्ति को अपने ही धर्म का सम्पूर्ण ज्ञान हो जाय, तब उसमें कट्टरता नहीं, बल्कि सद्भावना विकसित होता है, क्योंकि कोई भी धर्म हिंसा एवं रक्तपात पर आधारित

न होकर प्रेम और सौहार्द्र पर ही आधारित होता है।

- वर्तमान परिप्रेक्ष्य में धार्मिक असहिष्णुता का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण 'राजनीतिक' है। राजनीतिज्ञ अपने निहित स्वार्थो के लिए धर्म के नाम पर समाज में कटुता एवं वैमनस्य फैलाते रहते हैं, जिसके कारण समाज में असहिष्णुता पनपती है। अत: राजनीति को धर्म से पृथक् करना आवश्यक है। इसे 'धर्म निरपेक्षता' कहा जा सकता है।

- अपने धर्म को मानने वालों की संख्या में अभिवृद्धि की अभिलाषा; पहला, संख्या वृद्धि से सामाजिक एवं राजनीतिक सत्ता पर अधिकार। दूसरा, सबसे बड़ा धार्मिक समुदाय होने का गौरव एवं सुख। तीसरा, धार्मिकोन्माद की प्रवृत्ति। चौथा, अन्य धर्मावलम्बियों को विधर्मी मानते हुए उनकी समाप्ति।

वास्तव में सहिष्णुता कोई स्तुत्य अवधारणा नहीं है क्योंकि सहिष्णुता का प्रयोग वहाँ होता है, जहाँ सिद्धान्त अपने अनुकुल नहीं हो, फिर भी हम उसे सहन कर रहे हैं। इस प्रकार इसमें स्वतंत्रता नहीं बल्कि एक प्रकार की मजबूरी या विवशता झलकती है। इसी कारण कुछ धर्मो में तो असहिष्णुता को तार्किक रूप से न्याय संगत माना गया है। मॉरिस क्रैम्स्टन अपने लेख 'टॉलरेशन'[12], में लिखते हैं कि ईसाई धर्म के समर्थक, दूसरे धर्म को प्रताड़ित करना ही अपना धार्मिक कर्तव्य मानते हैं। वे तर्क भी देते हैं; पहला, जो व्यक्ति धार्मिक (ईसाई) नहीं है, ईश्वर उससे क्रोधित होता है। फलत: वह ऐसे मनुष्यों को दण्डित करता है। इन परिस्थितियों में धर्मद्रोहियों का दमन आवश्यक है। दूसरा, जिस तरह राज्य की एक व्यवस्था होती है, उसी तरह धर्म की भी एक व्यवस्था है। अत: जैसे राजद्रोह दण्डनीय अपराध है, वैसे ही धर्मद्रोह भी दण्डनीय अपराध है। ऐसी परिस्थिति में विधर्मी को दण्ड देना उचित एवं न्यायसंगत है। तीसरा, राज्य के कानून एवं व्यवस्था के समान धर्म का कानून एवं व्यवस्था भी सामाजिक सुव्यवस्था के लिए आवश्यक है। अत: धर्मद्रोह के विरुद्ध कठोर दण्ड का प्रावधान अति आवश्यक है। चौथा, धर्मद्रोही को दण्ड देना स्वयं उसके हित में है, अन्यथा उसके अपराध से क्षुब्ध होकर ईश्वर उसे हमेशा – हमेशा के लिए घोर नरक में डाल देगा, जहाँ

वह अनन्तकाल तक असहनीय पीड़ा सहता रहेगा। अत: उनकी हत्या कर देना उचित है, क्योंकि जब तक वे जीवित रहेंगे, पाप करते रहेंगे। यही कारण है कि इसाई धर्म के अनुयाइयों ने बहुत से ऐसे संघर्ष किये हैं, जो केवल धर्म के नाम पर हुए हैं।

प्रश्न उठता है कि ऐसी विषम परिस्थितियों में विभिन्न धर्मों में सहिष्णुता कैसे स्थापित की जा सकती है? अर्थात् धार्मिक सहिष्णुता क्या है एवं वह किस प्रकार स्थापित की जा सकती है? वास्तव में धार्मिक सहिष्णुता के कई अर्थ किये गये हैं। मोहम्मद जिन्ना सहिष्णुता को 'सहनशीलता' बताते हैं। लेकिन सहनशीलता में 'विवशता का भाव' झलकता है। मनुष्य के अन्दर सहनशीलता का भाव तब आता है, जब वह विवश होकर या अपनी निर्बलता के कारण, किसी शक्ति का सामना करने में असमर्थ हो जाता है। यही नहीं कोरी सहनशीलता में 'घृणा का भाव' भी झलकता है, क्योंकि सहनशीलता के प्रेरक तत्व मूलत: चार हैं;

- असमर्थता या अयोग्यता।
- उदासीनता।
- सांत्वना प्राप्त करने की इच्छा।
- बौद्धिकता, जिसके द्वारा यह देखा जाता है कि शक्ति कोई उपाय नहीं है।

इस प्रकार 'सहनशीलता' को सहिष्णुता का पर्याय नहीं माना जा सकता। दूसरी तरफ, काका साहब कालेलकर सहिष्णुता को 'समादर' के रूप में स्वीकार करते हैं। लेकिन गाँधी जी के अनुसार 'समादर' में 'कृपा का भाव' झलकता है। इसीलिए गाँधी जी सहिष्णुता का अर्थ 'सर्वधर्मसमभाव' करते हैं। उनके अनुसार 'समादर' एवं 'समभाव' एक दूसरे के पर्याय नहीं हैं, क्योंकि समभाव में कृपा की भावना नहीं है, बल्कि बराबरी की भावना झलकती है। उनके अनुसार समभाव का अर्थ है अपने धर्म की अपूर्णता को स्वीकार करना, क्योंकि हम अपूर्ण हैं, अत: हमारी कल्पना पर आधारित धर्म भी अपूर्ण है। उनके अनुसार यथार्थ धर्म तो केवल सत्धर्म ही है, जिसकी ओर सभी धर्म विकासोन्मुख हैं। इसीलिए गाँधी जी कहा करते थे कि सभी धर्म सच्चे हैं, परन्तु अपूर्ण हैं, क्योंकि सभी धर्म मानवीय बुद्धि पर आधारित हैं। अत: प्रत्येक धर्मावलम्बियों को अपने धर्म की अपूर्णता को

स्वीकार करते हुए उसके परिष्कार करने की नहीं, बल्कि उसमें निहित कमियों को दूर करते हुए, उसे आत्मसात् करने की आवश्यकता है। इसी प्रकार स्वामी रामकृष्ण परमहंस जी ने भी कहा है कि गलत बातें भला किस धर्म में नहीं है, जैसे सभी घड़ियाँ सही चलती हैं, परन्तु ऐसी कोई घड़ी नहीं है, जो बिल्कुल ठीक–ठीक समय बताये। अन्ततः सभी घड़ियों को सूर्य के साथ मिलाना पड़ता है। इसी प्रकार सभी धर्म सत्य हैं, परन्तु कोई भी धर्म पूर्ण सत्य नहीं है। अन्ततः सभी धर्मों का गन्तव्य सत्धर्म ही है, जिसकी ओर सभी धर्म उन्मुख हैं।

हालाँकि प्रो० वेद प्रकाश वर्मा अपनी पुस्तक 'धर्म दर्शन की मूल समस्याएँ' में गांधी जी के विचारों के प्रति असहमति व्यक्त करते हुए कहते हैं कि "यह धार्मिक सहिष्णुता गांधी जी के सर्वधर्म–समभाव से भिन्न है। जब गाँधी जी विभिन्न धर्मों के अनुयाईयों को सर्वधर्म–समभाव के अनुसार आचरण करने की शिक्षा देते हैं, तो इससे उनका तात्पर्य यह है कि उन्हें एक दूसरे के धर्म का आदर करना चाहिए और परस्पर स्नेह तथा सौहार्द्र की भावना रखनी चाहिए।........... शाब्दिक दृष्टि से भी सर्वधर्म–समभाव का अर्थ है, सभी धर्मों का सम्मान करते हुए उन्हें समान समझना– अर्थात् किसी भी धर्म को अन्य धर्मों की अपेक्षा उत्कृष्ट या निकृष्ट न मानना।"[13]

यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाए तो यह कहा जा सकता है कि प्रो० वर्मा ने सर्वधर्म–समभाव का जो अर्थ ग्रहण किया है, उसे न तो गाँधी जी मानते हैं और न ही यह शाब्दिक दृष्टिकोण से ही उपयुक्त है। गाँधी जी के अनुसार सर्वधर्म–समभाव का अर्थ 'समादर' नहीं होता, क्योंकि आदर में बड़ा एवं छोटा का भाव झलकता है। ध्यातव्य है कि सहिष्णुता को 'समादर' के रूप में काका साहब कालेलकर मानते थे, जिसका स्वयं गाँधी जी ने खण्डन किया। गाँधी जी के अनुसार 'समादर' एवं 'समभाव' एक–दूसरे से पूर्णतया भिन्न हैं। 'समभाव' 'बराबरी की भावना' पर आधारित है, जहाँ प्रत्येक धर्मावलम्बी अपने धर्म की अपूर्णता को स्वीकार करते हुए, उसमें निहित कमियों को सतत् दूर करने का प्रयास करते हुए अन्ततः सत्धर्म की ओर बढ़ने का प्रयास करता है। इसी कारण इसका दूसरा अर्थ भी उपयुक्त नहीं है, क्योंकि प्रो० वर्मा सर्वधर्म–समभाव को 'समादर' के रूप में मानते हैं, जबकि यह 'समान भावना', जिसमें 'बराबरी' झलकती है, के समतुल्य है।

पुनश्च, प्रो० वर्मा लिखते हैं कि सर्वधर्म–समभाव सहिष्णुता इसलिए भी नहीं है, क्योंकि "धार्मिक सहिष्णुता रखने वाला व्यक्ति अपने धर्म से भिन्न अन्य सभी धर्मों के अस्तित्व का केवल सहन करता है; वह उनका समान रूप से अनुमोदन तथा आदर नहीं करता। इतना ही नहीं वह अपने धर्म के अतिरिक्त अन्य किसी धर्म को सत्य या श्रेष्ठ भी नहीं मानता, किन्तु फिर भी वह दूसरे धर्म के अनुयाइयों के साथ मिलकर शान्तिपूर्ण रहता है और उन्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं पहुँचाता।"[14]

स्पष्टत: यहाँ पर प्रो० वर्मा जो कुछ भी कह रहे हैं, यह उनका अपना मत हो सकता है, गाँधी जी का नहीं। गाँधी जी सहिष्णुता को 'समभाव' के समतुल्य मानते हुए कहते हैं कि 'समभाव' वह है जिसे मजबूरी में नहीं, बल्कि अन्त:करण के आधार पर स्वीकार किया जाता है तथा इसके अन्तर्गत सभी धर्मो को समान महत्व दिया जाता है। यही नहीं वह अपने धर्म के साथ–साथ दूसरे धर्मो को भी पूर्ण सत्य न मान कर आंशिक सत्य ही मानता है। वह जानता है कि पूर्ण सत्य केवल सत्धर्म है, जिसकी ओर सभी धर्म उन्मुख हैं। यदि हम प्रो० वर्मा की बातों को स्वीकार करें जिसके अनुसार "जब हम किसी व्यक्ति, विचार, सिद्धान्त, विश्वास या आदर्श के विषय में सहिष्णुता की बात करते हैं, तो इससे हमारा तात्पर्य यही होता है कि हम उसे सहन कर रहे हैं। किसी भी वस्तु को सहन करने की इस क्रिया में यह तथ्य अनिवार्यत: निहित रहता है कि हम वास्तव में उसे पसन्द नहीं करते, अथवा उसके प्रति अननुमोदन की भावना रखते हैं।"[15] स्पष्टत: प्रो० वर्मा का यह मत सहिष्णुता का बोधक नहीं, बल्कि सहिष्णुता में बाधक प्रतीत होता है, क्योंकि जो निर्णय मजबूरी में लिये गये है, जिसे हम केवल सहन कर रहे हैं, वह कदापि स्थायी नहीं हो सकता। अन्तत: उसमें विद्रोही प्रवृत्तियाँ हावी हो जाती हैं और वह सहिष्णुता का परित्याग कर असहिष्णु बन जाता है। ऐसी परिस्थिति में प्रो० वर्मा का यह विचार अनुपयुक्त प्रतीत होता है कि "जो मनुष्य सर्वधर्म–समभाव को स्वीकार करता है, उसके लिए धार्मिक सहिष्णुता अनिवार्य है, किन्तु जो मनुष्य केवल धार्मिक सहिष्णुता रखता है, वह सर्वधर्म–समभाव को स्वीकार करने की स्थिति तक नहीं पहुँच सका है।"[16] सम्भवत: यह मत प्रो० वर्मा इसलिए स्वीकार करते हैं कि क्योंकि वे 'सहिष्णुता' एवं 'समभाव' को पृथक्–पृथक् अर्थ में ग्रहण करते हैं, जबकि गाँधी जी दोनों को एक–दूसरे का पर्यायवाची मानते हैं।

स्वामी विवेकानन्द सहिष्णुता का अर्थ 'सहभागिता' स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार सहभागिता के अन्तर्गत मूलतः चार बातें अन्तर्निहित हैं;

- सभी धर्मों का सम्मान करना।
- उनके धर्मग्रन्थों का अध्ययन करना।
- उनकी पूजा पद्धति में सम्मिलित होना।
- एवं उनके धर्म की अच्छी बातों को ग्रहण करना।

इस प्रकार सहिष्णुता के अन्तर्गत सम्यक् दृष्टि को रखना आवश्यक है। यद्यपि गाँधी जी, स्वामी विवेकानन्द के प्रति सहमति व्यक्त करते हैं, परन्तु इनके अनुसार सच्ची सहभागिता तभी हो सकती है जब एक धर्मावलम्बी अन्य धर्मावलम्बियों का केवल सम्मान ही न करें, बल्कि एक–दूसरे की सहायता भी करें, क्योंकि 'सहभागिता' तब तक अपूर्ण है, जब तक उसके साथ 'सहायता' अन्तर्निहित नहीं है। जब एक धर्मावलम्बी दूसरे धर्मावलम्बियों की 'सहायता' करता है, तभी अन्य धर्मावलम्बियों के मन में उसके प्रति सच्ची सहिष्णुता का भाव पैदा होता है। प्रश्न उठता है कि धार्मिक सहिष्णुता की स्थापना किस प्रकार सम्भव है?

स्पष्टतः इसके लिए मूलतः दो प्रकार के उपाय अपेक्षित हैं; पहला, सैद्धान्तिक या वैचारिक उपाय एवं दूसरा, व्यावहारिक उपाय। सैद्धान्तिक पक्ष के अन्तर्गत उन मान्यताओं एवं विचारों को प्रश्रय दिया जाता है, जो सहिष्णुता के लिए आवश्यक हैं, इसके लिए कुछ शर्ते आवश्यक हैं।

पहली, ऐसा अक्सर देखा जाता है कि असहिष्णुता का भाव 'अज्ञानता' के कारण पनपता है, क्योंकि अज्ञानता संकीर्णता एवं धर्मान्धिता को जन्म देती है। अज्ञानी व्यक्ति कट्टरपंथियों के बहकावे में जल्दी आ जाते हैं। अतः सहिष्णुता के लिए यह आवश्यक है किं कम से कम हमें अपने धर्म का ही समुचित एवं पूर्ण ज्ञान हो।

दूसरा, अपने धर्मो की मूल बातों को जानने के साथ–साथ हमें अन्य धर्मों की भी मूल बातों को जानना आवश्यक है, क्योंकि सही में सहिष्णुता तभी पनपती है। जब हमें सभी धर्मो का सम्यक् ज्ञान हो। इसके लिए तुलनात्मक धर्म को विभिन्न पाठ्यक्रमों, में स्थान देना आवश्यक है, जहाँ सभी विद्यार्थियों को अपने धर्म के साथ–साथ अन्य धर्मों का भी तुलनात्मक अध्ययन कराया ज़ा सके, इसी

कारण गाँधी जी धार्मिक पाठ्यक्रम की वकालत करते थे।

तीसरा, इसके साथ–साथ विभिन्न धर्मो के बीच परस्पर विचार–विमर्श अर्थात् विभिन्न विचारों का आदान–प्रदान भी आवश्यक है। एच.जी. गाडेमर जैसे समकालिक विचारकों ने धार्मिक संवाद पर अत्यधिक बल दिया है। आधुनिक युग में रोमन चर्च ने धार्मिक एकता के उद्देश्य से विभिन्न धर्मो में परस्पर सम्भाषण की उपयोगिता को स्वीकार करते हुए धार्मिक संवादों का आयोजन किया है, क्योंकि विभिन्न धर्मो को जानना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि यह भी आवश्यक है कि उनके बीच परस्पर वैचारिक सामंजस्य स्थापित हो। इसके लिए हमें धार्मिक संवादों का महत्व स्वीकार करना ही होगा।

चौथा, धार्मिक संवाद के साथ–साथ विभिन्न धर्मो की वैज्ञानिक एवं तर्कसंगत व्याख्या आवश्यक है, जिसके अन्तर्गत अंधविश्वासों एवं रूढ़ियों को प्रशमित कर उन प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिल सके, जो वैज्ञानिक एवं बौद्धिक रूप से तर्कसंगत हैं, यथा, ईसाई धर्म स्वीकार करता है कि ईश्वर कबूतर के रूप में आता है, जबकि हिन्दू धर्म में ईश्वर को बराह अवतार के रूप में भी माना गया है। इन पक्षों पर हमें अत्यधिक बल नहीं देना चाहिए, क्योंकि जब तक हम इन पक्षों पर बल देते रहेंगे, धर्म को रूढ़ियों से बचा पाना असम्भव हो जायेगा। जिसका परिणाम अन्ततः असहिष्णुता ही होगा।

जहाँ तक व्यावहारिक पक्ष की बात है, इसके अन्तर्गत उन पक्षों पर बल दिया जाता है, जो सहिष्णुता में बाधक हों। पहला, इसके लिए परस्पर विद्वेष फैलाने वाले साम्प्रदायिक क्रिया–कलापों पर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक है, क्योंकि किसी भी धर्म के दो पक्ष होते हैं, एक बाह्य पक्ष एवं दूसरा आन्तरिक पक्ष। धर्म का बाह्य पक्ष मूलतः कर्मकाण्ड पर आधारित होता है। इस अर्थ में सभी धर्म एक दूसरे से पृथक्–पृथक् हैं, क्योंकि प्रत्येक धर्म का कर्मकाण्ड अन्य धर्म के कर्मकाण्ड से पृथक् है। वास्तव में यही धार्मिक असहिष्णुता के लिए सर्वाधिक जिम्मेदार है। जबकि धर्म का आन्तरिक पक्ष वह है, जहाँ कर्मकाण्ड की अपेक्षा उसके मूल तत्व यथा, सत्य, प्रेम, करुणा, उदारता, सहिष्णुता, समभाव, सदाशयता प्रभृति पर बल दिया जाता है। किसी भी धर्म का मूल तत्व कटुता एवं वैमनस्य नहीं है। "मज़हब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना"। यदि हम धर्म के मूल तत्व पर बल दें तो निश्चित रूप से सहिष्णुता स्थापित हो सकती है।

दूसरा, इसके लिए धार्मिक परिवर्तन के प्रचार पर तुरन्त प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक है। प्राय: ऐसा देखा जाता है कि आधुनिक युग में संचार का माध्यम बढ़ा है, जिसके कारण विभिन्न संचार माध्यमों से किसी विशिष्ट धर्म का प्रचार एवं अन्य धर्म की निन्दा की जा रही है। यह अत्यन्त ही दु:खद एवं अनुचित है, क्योंकि प्रत्येक धर्म के साथ उस व्यक्ति की भावना जुड़ी होती है, जिसका परिवर्तन सरल है। परन्तु जब हम एक धर्म का प्रचार एवं अन्य धर्म की निन्दा करते हैं, तो यह प्रवृत्ति स्वभावत: समाज में कटुता एवं वैमनस्य पैदा करती है। इसीलिए गाँधी जी संकीर्ण धार्मिक प्रचार के पक्ष में नहीं थे। उनके अनुसार यदि प्रचार करना ही है तो सार्वभौमिक धर्म का प्रचार होना चाहिए, जो प्रेम और करुणा पर आधारित है, न कि घृणा और विद्वेष पर।

तीसरा, धार्मिक प्रचार के साथ–साथ धर्म परिवर्तन पर भी प्रतिबन्ध लगाना होगा, क्योंकि धर्म परिवर्तन के अन्तर्गत किसी विशेष धर्म के अनुयायी अपने धर्म की अनेकानेक अच्छाइयों को प्रदर्शित करते हुए सम्पूर्ण समाज को झूठे प्रलोभनों के नशे में सुला देते हैं, जिससे अन्य धर्मावलम्बियों के मन में अपने धर्म के प्रति असंतोष की भावना जागृत होती है। यह प्रवृत्ति धार्मिक विद्रोह का कारण बन जाती है।

चौथा, असहिष्णुता का कारण यह भी है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्तव्य की अपेक्षा अधिकारों की माँग अधिक कर रहा है। लेकिन पूर्ण धार्मिक व्यक्ति वह नहीं, जो अधिकार की माँग करता है, बल्कि वह है, जो अपने कर्तव्य को अत्यधिक महत्व देता है। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने दायित्व का सम्यक् एवं निष्ठापूर्वक निर्वहन करे, तो अधिकार के माँग की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। अधिकार तो दायित्व के निर्वाह से स्वत: ही प्राप्त हो जाता है।

ऐसी परिस्थितियों में धार्मिक सहिष्णुता का वास्तविक आधार क्या हो सकता है? इस प्रश्न पर विचार करते हुए प्रो० हरिशंकर उपाध्याय अपने लेख 'धार्मिक सहिष्णुता के तात्त्विक आधार' में लिखते हैं कि करुणा ही सहिष्णुता का वास्तविक आधार है, जो अहिंसा से भी उच्चस्तरीय है। "अहिंसा से भी उच्चस्तरीय मूल्य करुणा का है। करुणा पर आधारित अहिंसा ही धार्मिक सहिष्णुता का तात्त्विक आधार हो सकती है। वस्तुत: करुणा ही किसी सम्प्रदाय के धर्म होने की कसौटी (निकष) है। यदि कोई धर्म करुणापरायण नहीं है, करुणा को नहीं उत्पन्न करता है

तो उसे सच्चा धर्म नहीं कहा जा सकता है। प्रायः विश्व के सभी प्रमुख धर्म प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से करुणापरायण रहे हैं। धार्मिक असहिष्णुता, प्रतिहिंसा एवं अशान्ति का प्रमुख कारण व्यावहारिक जीवन में धर्म के मूल तत्व 'करुणा' की उपेक्षा करना है। करुणा के होने पर न्याय, प्रेम, दान, उदारता आदि सद्‌गुण सहज भाव से विकसित हो जाते हैं।"[17]

यद्यपि यह सत्य है कि बिना करुणा के सहिष्णुता की स्थापना नहीं हो सकती है। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि करुणा का भाव कब उदित होगा? प्रायः ऐसा देखा जाता है कि करुणा का भाव ऐसे व्यक्तियों में पनपता है, जो किसी न किसी रूप में परमसत्ता का साक्षात्कार कर चुके हैं, अर्थात् जब व्यक्ति एक में सभी एवं सभी में एक की अनुभूति कर लेता है, तभी उसके अन्तर्मन में सबके प्रति समत्व भाव का उदय होता है, तभी वह करुणा से आप्लावित हो करके लोगों के कल्याणार्थ अपने जीवन को उत्सर्ग कर देता है। इसका तात्पर्य यह है कि करुणा से भी आगे की एक चीज है और वह है आत्मसाक्षात्कार या आत्मानुभूति, जहाँ व्यक्ति उस परमतत्व का साक्षात्कार कर के सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में उसी एक तत्व की अनुभूति करता है। अतः यदि सहिष्णुता का वास्तविक आधार आत्मसाक्षात्कार को माना जाय, तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

यदि रहस्यावादी आत्मलाभ करके संसार से विरत हो जाए तब ऐसे आत्मसाक्षात्कार से क्या लाभ? इसके लिए आवश्यक है कि आत्मलाभ प्राप्त कर के वह लोक कल्याणार्थ (लोक संग्रह) की भावना से अनुप्रेरित होकर सम्पूर्ण प्राणियों की दुःख–मुक्ति हेतु, अपने जीवन को समर्पित करे, जैसा कि महात्मा बुद्ध, रामकृष्ण परमहंस, डॉ० चतुर्भुज सहाय, महर्षि रमण, स्वामी विवेकानन्द आदि संतो ने किया। इस रूप में प्रो० उपाध्याय का यह कहना ठीक ही है कि "जो धर्म के नाम पर सामाजिक जीवन के झंझावात एवं विद्रूपताओं से पलायन कर के आध्यात्मिक रहस्यवाद की शरण में चले जाते हैं वे ज्ञान और कर्म के मूर्त क्षेत्र से अलग होकर सामाजिक सम्बन्धों की उपेक्षा करके एक काल्पनिक स्वर्ग की तलाश में मग्न रहते हैं। जीवन की समस्याओं से ऊब कर पलायन करने वाले ये सन्यासी श्रेय और प्रेय के बीच अन्तर्विरोध और अनतिक्रम्य भेद की कल्पना कर लेते हैं। वे जीवन के निषेधात्मक पक्षों, सामाजिक अशुभ एवं अशान्ति के प्रति उदासीन हो जाते हैं। इस प्रकार वे लोक कल्याण रूपी श्रेय से हट कर एक यूटोपीय दैवी लोक

में रमण का ही निःश्रेयस मानते हैं। कुछ रूढ़िवादी धर्मावलम्बी ऐसे भी होते हैं, जो धर्म को पलायन का मार्ग तो नहीं मानते है, परन्तु वे उसे (धर्म को) स्थापित परम्पराओं एवं यथास्थितिवाद की रक्षा करने का साधन मान लेते हैं।"[18] स्पष्टतः यह स्थिति सहिष्णुता के अनुरूप नहीं है।

उल्लेखनीय है कि लॉक अपनी पुस्तक 'एपिस्टोला डी० टॉलरंशिया' (1688) में धार्मिक सहिष्णुता को आवश्यक मानता है। उसके अनुसार पहला, अपने विद्रोहियों का दमन उपयुक्त नहीं है, क्योंकि इससे उनके भावनाओं को भले ही कुंठित एवं दमित किया जा सकता है, परन्तु उनके विचारों में परिवर्तन असम्भव है। दूसरा, राजद्रोह की तरह अधार्मिक होना अपराध नहीं है, क्योंकि राजद्रोह से समाज में अराजकता एवं अव्यवस्था उत्पन्न होती है। जबकि धार्मिक या अधार्मिक होना व्यक्ति का निजी मामला है। इसे सामाजिक सुव्यवस्था से जोड़ना उपयुक्त नहीं है। तीसरा, सत्य क्या है? इसे कोई नहीं जानता। अतः केवल एक धर्म को सत्य एवं अन्य धर्म को झूठा कहने का कोई नैतिक औचित्य नहीं है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को अपने अन्तःकरण के अनुसार धर्म को स्वीकार करने का अधिकार होना चाहिए। लेकिन ऐसा वह अन्य धर्मों को हानि पहुँचा कर नहीं कर सकता, क्योंकि सभी धर्मों को समान रूप से पल्लवित एवं पुष्पित होने का अवसर मिलना ही चाहिए।

उपर्युक्त सभी मतों पर विचार करने पर यह कहा जा सकता है कि सहिष्णुता के वास्तविक आधार दो हैं;

- सापेक्षित सत्य की अवधारणा, जहाँ पर यह माना जाता है कि प्रत्येक वस्तु का स्वरूप 'अनन्त धर्मात्मकम्' है, अर्थात् एक ही वस्तु के अनेक पक्ष हैं। कोई भी व्यक्ति उस वस्तु के सम्पूर्ण पक्षों को नहीं जान सकता। जो जितना अनुभव कर पाता है, वह उतना ही अभिव्यक्त करता है। किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि उसकी यह अभिव्यक्ति पूर्ण न होकर आंशिक एवं सापेक्ष ही होती हैं। यदि प्रत्येक व्यक्ति इस कटु सत्य को स्वीकार कर ले, तो सहज रूप में उसके अन्तर्मन में सहिष्णुता का भाव उत्पन्न होगा एवं वह राग–द्वेष से ऊपर उठकर सभी धर्मों के प्रति समभाव रख सकेगा। इसे ऋग्वेद की भाषा में 'एकम् सद् विप्रा बहुधा

बदन्ति'[19] एवं जैनियों की भाषा में 'अनेकान्तवाद' कहा जा सकता है।

- दूसरा, सहिष्णुता का वास्तविक आधार आत्म साक्षात्कार है। जब व्यक्ति इस अवस्था का अनुभव करता है, तब वह अहंकार एवं आसक्ति से ऊपर उठ जाता है, जिससे वह स्वार्थ जनित तुच्छ अवधारणाओं को प्रशमित करते हुए प्रत्येक सत्ता में एकरूपता की अनुभूति करता है। ऐसी अवस्था में स्वभावत: उसके अन्तर्मन में अन्य धर्मो के प्रति करुणा का भाव जागरुक होता है। इस प्रकार सहिष्णुता, आत्मसाक्षात्कार के अभाव में असम्भव है। इसके साक्षात् उदाहरण भगवान बुद्ध, कबीर, नानक, दादू, रहीम, सूर, तुलसी, रैदास, नामदेव प्रभृति संत हैं, जिन्होंने आत्मानुभूति के पश्चात् लोक कल्याणार्थ अपने समग्र जीवन को उत्सर्ग कर दिया।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सहिष्णुता की अवधारणा एकमात्र कोई सैद्धान्तिक अवधारणा नहीं है, बल्कि यह एक व्यावहारिक आवश्यकता है, जो बिना अनुभूति के मात्र कपोलकल्पित है। जिस प्रकार फोटो की तैयारी करना, फोटो खींचना नहीं है। उसी प्रकार सहिष्णुता की चर्चा करना, सहिष्णुता स्थापित करना नहीं है। इसके लिए तत्व साक्षात्कार आवश्यक है। धार्मिक उन्माद फैलाने वाले कट्टरपंथी जानते ही नहीं कि धर्म का मूल स्वरूप क्या है? वे तो धर्म के ठेकेदारों की भाँति क्षुद्र भावनाओं से अनुप्रेरित होकर लोगों के समक्ष अपने को धार्मिक होने का स्वांग रचते हैं, जिससे उनकी सामाजिक मर्यादा बनी रहे। ऐसे व्यक्ति अपना परमार्थ तो बिगाड़ते ही हैं, साथ ही साथ सम्पूर्ण समाज को भी भ्रष्ट एवं पतित करते हैं। सच्चा धार्मिक व्यक्ति वह है, जो हमेशा ईश्वर से भय खाता रहता है। वह जानता है कि यदि उसने कुछ ऐसा किया, जो ईश्वरीय इच्छानुरूप नहीं है, तो उसे अवश्य ही ईश्वर का कोप भाजन बनना पड़ेगा। इसीलिए वह सभी से प्रेम करता है तथा आततताइयों एवं दुराचारियों के लिए भी ईश्वर से प्रार्थना करता रहता है कि 'हे प्रभो! ये नहीं जानते कि सही क्या है। अत: इन्हें क्षमा करना।' उल्लेखनीय है कि जब यीशू को सूली पर चढ़ाया जा रहा था तब उनके शरीर में कीले ठोंकी जा रही थी, उस समय वे ईश्वर से यही प्रार्थना कर रहे थे। वास्तव में धर्म का वास्तविक स्वरूप यही है, जो उन्माद पर आधारित न होकर 'शुद्ध एवं सात्विक प्रेम' पर आधारित है। लेकिन यह अवस्था सहज नहीं है। यह

तो वही कह सकता है, जिसने सत्यता की अनुभूति कर ली है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सहिष्णुता का वास्तविक आधार आत्मानुभूति ही है।

संदर्भ

1. किन्सले डेविस, "ह्यूमैन सोसायटी" पृष्ठ–509।
2. महाभारत, शान्तिपर्व, 294/29।
3. उपरोक्त, 108/11।
4. तैत्तरीय आरण्यक, 10/63/1।
5. महर्षि कणाद, वैशेषिक सूत्र, 1/1/2।
6. गीता, 2/47।
7. मनुस्मृति, 6/92।
8. डॉ० राधाकृष्णनन, "धर्म और समाज", पृष्ठ–123।
9. प्रो० हॉवेल, "आर्यन रूल इन इण्डिया', पृष्ठ–170।
10. डॉ० पाण्डुरंग वामन काणे, "धर्मशास्त्र का इतिहास", भाग–1 पृष्ठ–101।
11. आचार्य बलदेव उपाध्याय, "भारतीय धर्म दर्शन", पृष्ठ–13।
12. मॉरिस क्रैम्स्टन, "टॉलरेशन", इन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन, खण्ड–8, पृष्ठ–144।
13. प्रो० वेद प्रकाश वर्मा, "धर्म दर्शन की मूल समस्याएँ", पृष्ठ–518।
14. उपरोक्त, पृष्ठ–518।
15. उपरोक्त, पृष्ठ–511।
16. उपरोक्त, पृष्ठ–518।
17. प्रो० हरिशंकर उपाध्याय, "धार्मिक सहिष्णुता के तात्त्विक आधार", संदर्शन, अंक 27-28, पृष्ठ–22।
18. उपरोक्त, पृष्ठ–19।
19. ऋग्वेद, 1,164।

**

पंथ निरपेक्षता

"वे सभी लोग जो इस देश में पैदा हुए हैं और जो इसको अपनी मातृभूमि मानते हैं, चाहे वे हिन्दू हों, मुसलमान, पारसी, ईसाई, जैन या सिक्ख हों, वे सभी समान रूप से इसके बच्चे हैं, इसलिए सभी भाई हैं और खून के रिश्ते से भी अधिक मजबूती से वे एक दूसरे से जुड़े हैं।" — गाँधी जी

'सेक्युलर' शब्द मध्य युगीन यूरोपीय गिरिजाधरों और राज्य के मध्य संघर्ष का प्रतिफल है। 1529 में जब रोमन कैथोलिक चर्च के रीति रिवाज से त्रस्त होकर मार्टिन लूथर ने प्रोटेस्टेंट शाखा को विकसित किया। इसी धर्म सुधार आन्दोलन के फलस्वरूप गिरिजाधर और राज्य दोनों के अधिकार क्षेत्र पृथक–पृथक हो गये। राज्य का कार्य लौकिक क्षेत्र की सुव्यवस्था तथा चर्च का कार्य पारलौकिक या आध्यात्मिक क्षेत्रों तक सीमित हो गया।

इस प्रकार 'सेक्युलर' शब्द का अर्थ लौकिक, ऐहिक, सांसारिक या दुनियावी रूढ़ हो गया। सी० विलियम के अनुसार इसका अर्थ है इस युग का या इस विश्व से सम्बद्ध। अँग्रेजी का यह शब्द लैटिन भाषा के सेक्यूलम से उद्‌भूत हुआ और उन ईसाई — धर्मानुयायियों के लिए प्रयोग किया गया है जो भौतिक सुख–सुविधा सम्पन्न नागरीय जीवन का आनन्द उठाते थे।

'इनसाक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' में धर्म निरपेक्षता की परिभाषा 'उपयोगितावादी नैतिकता' के रूप में की गयी है, जिसकी अभिकल्पना मानव जाति के भौतिक, आध्यात्मिक व नैतिक सुधार के लिए की गयी हो, जो धर्म की न तो आस्तिकता की पुष्टि करता है और न ही उसका निषेध करता है। इसी प्रकार 'इनसाइक्लोपीडिया अमेरीकाना' में इसका तात्पर्य नैतिकता है जो आध्यात्मिक और पारलौकिक मान्यताओं से पूर्णत: असम्पृक्त है। इसके अन्तर्गत तीन विशिष्टताएँ अंतर्निहित है,

- एक आदमी को बिना किसी दबाव के, स्वयं विवेचन करने की स्वतंत्रता।

- अन्य व्यक्तियों से पृथक हटकर सोचने या करने का अधिकार।
- ईश्वर या अन्य अलौकिक सत्ताओं के संदर्भ में अपनी जिज्ञासा, शंका या मतभेद प्रकट करने की स्वतंत्रता।

1780 में जार्ज होलिओक ने सर्वप्रथम अपनी पुस्तक "Principles of Secularism" और "The Origin and Nature of Secularism" में 'सेक्युलरिज्म' शब्द का प्रयोग किया। लेकिन वे इसका प्रयोग 'निरीश्वरवाद' से पृथक करने के लिए किये क्योंकि सामान्यत: निरीश्वरवाद को ईश्वर के साथ–साथ नैतिकता का निषेघ करने वाला सिद्धान्त समझा जाता है। जबकि नैतिकता मानव समाज के लिए अनिवार्य है। इसलिए होलिओक ने 'सेक्यूलरिजम' शब्द का प्रयोग किया जो एक तरफ जहाँ अलौकिक सत्ताओं का निषेध करता है वहीं दूसरी ओर नैतिकता को अंगीकार करता है। उनके अनुसार इसके अन्तर्गत पांच विशिष्टताएँ अंतर्निहित है,

- तर्क संगत नियम,
- पंथ से आचार–विचार को पृथक रखना,
- ज्ञान को आस्था की अपेक्षा तर्क पर आधारित करना,
- विचार स्वतंत्रता एवं
- संसार को सतत् श्रेष्ठ बनाने के प्रयास में योगदान देना।

होलिओक के अतिरिक्त चार्ल्स ब्रेडलाफ भी पंथ निरपेक्षता को निरीश्वरवादी रूप देते हैं क्योंकि दोनों ही विश्व की अन्तिम सत्ता ईश्वर को न मानकर परमाणु को मानते हैं, जो शाश्वत है। लेकिन दोनों में महत्वपूर्ण विभेद यह है कि जहाँ होलिओक के अनुसार हमें इसी जगत् और मनुष्य के वर्तमान जीवन की सभी समस्याओं का समाधान करते समय धर्म की उपेक्षा करनी चाहिए या इसके प्रति उदासीन रहना चाहिए, वहीं ब्रेडलाफ मानते हैं कि इस सम्बन्ध में केवल धर्म की उपेक्षा करना ही पर्याप्त नहीं है बल्कि इसका विरोध और खण्डन करना भी आवश्यक है। इस प्रकार धर्म निरपेक्षता में मूलत: तीन विशिष्टताएं परिलक्षित होती है:

- यह समस्त अलौकिक मान्यताओं का निषेध करते हुए इहलौकिकता में विश्वास करता है।

- इसी कारण इसमें विज्ञान की उपादेयता को स्वीकार किया गया है क्योंकि विज्ञान ही मानव जीवन को समृद्ध, सुखमय और उन्नत बना सकता है।
- नैतिकता को धर्म से पूर्णत: असम्पृक्त मानता है। इनके अनुसार नैतिकता धर्म पर आधारित नहीं बल्कि धर्म ही नैतिकता पर आधारित है। अर्थात् पंथ निरपेक्षता, नैतिकता का नहीं बल्कि धर्म के प्रति उदासीनता है।

इस प्रकार पंथ निरपेक्षता के मूलत: दो पक्ष है निषेधात्मक तथा विधेयात्मक। निषेधात्मक पक्ष के अन्तर्गत यह अलौकिक सत्ताओं का निषेध करता है तथा राजनीति, कानून, अर्थव्यवस्था, शिक्षा, प्रशासन, नैतिकता, प्रभृति के क्षेत्रों में धर्म का अहस्तक्षेप। जबकि विधेयात्मक पक्ष बौद्धिक या वैज्ञानिक पद्धति की वकालत करता है जिससे मानवीय कल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है। इस दृष्टि से चित्त बसु 'योजना' में ठीक ही लिखते हैं कि "पंथ निरपेक्षता एक तर्क संगत विचार है जो निरन्तर बदलते हुए वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिक क्षितिज के साथ आधुनिक युग की बुद्धि सम्मत और मानववादी घटनाओं की उपज है।" (अगस्त विशेषांक 1988, पृ० 52-69)। इसी प्रकार डोनाल्ड पूजीन स्मिथ अपनी पुस्तक "इण्डिया एज ए सेक्युलर स्टेट" में लिखते हैं कि "धर्म निरपेक्ष राज्य ऐसा है, जो व्यक्ति और संस्थाओं को धर्म की स्वतंत्रता प्रदान करता है और जो व्यक्ति के साथ एक नागरिक के रूप में व्यवहार करता है। चाहे वह किसी भी धर्म का हो तथा संवैधानिक रूप से किसी विशेष धर्म के साथ न जुड़ा है और जो न तो किसी धर्म को बढावा देता है, न ही किसी धर्म में हस्तक्षेप करता है।"

जहाँ तक भारतीय पंथ निरपेक्षता की बात है जब 26 जनवरी 1950 को जब भारतीय संविधान लागू किया गया तब तक "पंथ निरपेक्षता" शब्द का प्रयोग नहीं किया गया था। तथापि इसका स्पष्ट संकेत अनुच्छेद 25 में मिलता है, जहाँ अपने अन्त:करण के अनुरूप धर्म को अपनाने तथा प्रचार–प्रसार करने की स्वतंत्रता दी गई है। लेकिन 1976 में 42वां संविधान संशोधन करके इस शब्द को संविधान में स्थान प्रदान किया गया। "हम भारत के लोग, भारत को सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न, समाजवादी, पंथ निरपेक्ष, लोकतांत्रिक गणराज्य..........।"

ध्यातब्य है कि "पंथ निरपेक्षता" जो एक आयातित अवधारणा है। भारतीय परिवेश में इसके मूल अर्थ के साथ इतना छेड़छाड़ की गई कि इसका मूल

अर्थ ही विलुप्त हो गया। अब इसका अर्थ न तो धर्म का नकारात्मक पक्ष है और न ही इसका सकारात्मक बल्कि इसका अर्थ धर्म के प्रति तटस्थता के रूप में परिवर्तित हो गया। जैसा कि दुर्गा दत्त बसु लिखते हैं कि ''पंथ निरपेक्ष राज्य का तात्पर्य ऐसा राज्य, जिसका अपना कोई धर्म नहीं और जो सभी धर्मों के प्रति समान व्यवहार करता है।''

भारतीय पंथ निरपेक्षता को यूरोपीय धर्महीन सेक्युलरवाद से अलग करते हुए डा० अम्बेदकर ने स्पष्टत: कहा था कि ''इसका (पंथ निरपेक्ष राज्य का) अर्थ यह नहीं है कि लोगों की मजहबी भावनाओं का ध्यान नहीं रखा जायेगा। धर्म निरपेक्ष राज्य का सीधा अर्थ बस यही है कि इस संसद को किसी विशेष पंथ या मजहब को शेष देशवासियों के ऊपर लादने का कोई अधिकार नहीं होगा। केवल इसी मर्यादा या सीमारेखा को संविधान ने मान्यता दी है। धर्म निरपेक्षता का अर्थ मजहब या उपासना को समाप्त करना नहीं है। भारतीय धर्म निरपेक्षवाद धर्म, अध्यात्म या ईश्वर विरोधी नहीं है।'' इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए स्वतंत्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने 2 जनवरी, 1960 को सिक्ख शिक्षा का उद्‌घाटन करते हुए कहा था कि ''सरकार मजहब का विरोधी नहीं है सच पूछिये तो मजहब के बिना मनुष्य का चरित्र बन भी नहीं सकता। धर्म चाहे जो कुछ हो, सभी धर्मों में मनुष्य के चरित्र पर बल दिया गया है।''

स्पष्टत: पाश्चात्य सेक्युलरवाद की तरह भारतीय सेक्युलरवाद में धर्म, अध्यात्म तथा ईश्वर का कहीं कोई निषेध नहीं है। इसमें पंथ या सम्प्रदाय का भी निषेध नहीं है, केवल साम्प्रदायिकता का विरोध है। सभी मजहब समान हैं, सभी पंथों के प्रति राज्य समान दृष्टि रखेगा। संविधान परिषद की सभा में विभिन्न पार्षदों के अभिमत के उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय सेक्युलरवाद के सम्बन्ध में पार्षदों में आम सहमति थी कि भारत का सेक्युलर राज्य ईश्वर विरोधी या धर्म विरोधी नहीं होगा। श्री के०एम० मुन्शी ने यहाँ तक कहा था कि यदि संविधान की प्रस्तावना में ईश्वर को स्थान दे दिया जाय तब भी राज्य ''सेक्युलर'' ही रहेगा क्योंकि धार्मिक सहिष्णुता हमारी संस्कृति है, यह हमारी संरचना में है। श्री अनन्त शयनम् अभ्यंगार ने कहा कि ''परिषद के सभी सदस्य किसी न किसी धर्म में विश्वास करते हैं।'' उन्होंने कहा कि हम सभी एक ईश्वर के अस्तित्व में, प्रार्थना में, ध्यान में विश्वास करते हैं।

भारतीय पंथ निरपेक्षता के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए डा० राधा कृष्णनन् लिखते है कि ''जब भारत को धर्म निरपेक्ष राज्य कहा जाता है तो इसका यह मतलब नहीं होता कि हम अदृश्य आत्मा की सच्चाई या जीवन में धर्म की प्रासंगिकता को अस्वीकार करते हैं या अधार्मिकता को ऊँचा दर्जा देते हैं। .... भारत का पंथ निरपेक्षवाद हमारी प्राचीन परम्परा के अनुरूप है। धर्म एवं भारतीय पंथ निरपेक्षता के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए राधा कृष्णनन् ने कहा है कि भारत में धर्म का मतलब सिद्धान्त का अनुगमन या धार्मिक क्रियाओं का सम्पादन ही नहीं है। धर्म वस्तुत: वैश्विक रहस्यात्मक सत्ता में व्यक्ति की भागीदारी है। इस दृष्टि में साम्प्रदायिक भेदभाव अर्थहीन हैं। रहस्यात्मक सत्ता की अनुभूति के भिन्न–भिन्न तौर तरीके हैं। इनमें से प्रत्येक द्वारा मनुष्य अपने मंजिल पर पहुँच सकता है। अत: धार्मिक सहिष्णुता और सह–अस्तित्व भारतीय संस्कृति और दर्शन की प्रमुख विशेषता रही है जो भारतीय संविधान में पंथ निरपेक्षता के सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित है। विश्व के सभी धर्मों के साथ निष्पक्ष भाव एवं सक्रिय सह–अस्तित्व और परस्पर सद्भाव ही भारतीय पंथ निरपेक्षता की विशेषता है।

लेकिन प्रो० वी०पी० वर्मा अपनी पुस्तक ''धर्म दर्शन की मूल समस्याएँ'' में लिखते हैं कि ''धर्म निरपेक्षतावाद को धार्मिक अथवा आध्यात्मिक कहना निश्चय ही स्वतोव्याधातपूर्ण है .... इस सिद्धान्त का धार्मिकता या आध्यात्मिकता के साथ कोई सकारात्मक सम्बन्ध नहीं है। इसके विपरीत यह सिद्धान्त अलौकिक या अतिप्राकृतिक शक्ति पर आधारित धर्म तथा अध्यात्मवाद का निषेध करता है। सामान्यत: जिस अर्थ में 'धार्मिकता' और 'आध्यात्मिकता' को ग्रहण किया जाता है उस अर्थ में यह सिद्धान्त किसी भी रूप में इनका समर्थन नहीं करता। वस्तुत: किसी अलौकिक सत्ता या शक्ति पर अनिवार्यत: आधारित धर्म तथा अध्यात्मवाद के विपरीत इस सिद्धान्त का मूल आधार यह भौतिक जगत् और इसमें मनुष्य का वर्तमान जीवन ही है। यही कारण है कि इसे 'इहलौकिक सिद्धान्त' माना जाता है और 'इहलोकवाद' की संज्ञा दी जाती है। ऐसी स्थिति में धर्मनिरपेक्षवाद को धर्म और अध्यात्मवाद का समर्थन करने वाला सिद्धान्त मानना भ्रामक तथा अयुक्तिसंगत है। डॉ० राधा कृष्णनन आदि कुछ अध्यात्मवादी विचारकों ने अपने धार्मिक दृष्टिकोण के अनुसार धर्मनिरपेक्षवाद की जो उपर्युक्त मनमानी व्याख्या की है उसका कोई तथ्यात्मक और तर्कसंगत आधार नहीं है।'' पृष्ठ ४८९–४९०

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रो० वर्मा पंथ निरपेक्षता के पश्चिमी अर्थ को ही उसका सर्वांगीण अर्थ मान लेते हैं। निश्चित रूप से पन्थ निरपेक्षता का पश्चिमी अर्थ यही है कि राज्य एवं धर्म का पृथक्करण तथा धर्म का निषेध। इसी अर्थ में जार्ज होलिओक एवं चार्ल्स ब्रेडलाफ ने इस शब्द का प्रयोग भी किया। लेकिन जब भारतीय परम्परा में इस शब्द का अवगाहन किया गया तो निश्चित रूप से इसके मूल अर्थ में ग्रहण न करके इसमें कुछ परिवर्तन किया गया है तथा इसे भारतीय परम्परा (जहाँ धर्मों की विविधता है) के अनुरूप अंगीकार करने का प्रयास किया गया है। पंथ निरपेक्षता को भारतीय संविधान की उद्देशिका में शामिल करने वाली प्रधानमंत्री स्व० श्रीमती इन्दिरा गांधी लिखती हैं कि ''पंथ निरपेक्षता न तो धर्म है न ही अन्य धर्म के प्रति अन्यमनस्कता, बल्कि यह सभी धर्मों के प्रति समान आदर की भावना है, यह केवल सहनशीलता नहीं बल्कि रचनात्मक सम्मान है। इसके बिना देश का कोई भविष्य नहीं।''

प्रो० वर्मा इस अर्थ की उपेक्षा कर देते हैं तथा इसमें नास्तिकता का रंग चढ़ा देते हैं, जो कदापि उचित नहीं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि एक ही शब्द का प्रयोग अनेक संदर्भों में होता है और उसके अनेक अर्थ होते हैं। अब यदि हम उसके एक ही अर्थ को उसका सम्पूर्ण अर्थ मान लें तो निश्चित रूप से हम शब्दों के अर्थ के साथ न्याय नहीं कर सकेगें। इसीलिए यह कहना कि डा० राधाकृष्णनन् आदि कुछ दार्शनिकों ने धर्म निरपेक्षता की मनमानी व्याख्या की स्वतः मनमानेपन का द्योतक है।

प्रो० वर्मा लिखते हैं कि गाँधी जी ने धर्म निरपेक्षता के मूल अर्थ को ग्रहण किया और इसी कारण इसे धार्मिक सहिष्णुता से असंपृक्त किया। ''सम्भवतः गाँधी जी इस महत्वपूर्ण तथ्य से भलीभाँति परिचित थे, इसी कारण उन्होंने सभी धर्मों का समान रूप से आदर करने वाले अपने सिद्धान्त को धर्मनिरपेक्षवाद न कहकर सर्वधर्मसमभाव की संज्ञा दी है जो पूर्णतः उचित है। वे यह जानते थे कि उनके इस सिद्धान्त और धर्मनिरपेक्षवाद में आधारभूत अंतर है, अतः अपने सिद्धान्त को धर्मनिरपेक्षवाद से पृथक करने के लिए उन्होंने इसे सर्वधर्मसमभाव की संज्ञा से अभिहित किया था। परन्तु यह खेद की बात है कि कुछ अध्यात्मवादी विचारकों ने गाँधी जी के इस तर्कसंगत मत की उपेक्षा करते हुए धर्मनिरपेक्षतावाद को ही सर्वधर्मसमभाव का सिद्धान्त मान लिया, जिससे इन दोनों सिद्धान्तों के ठीक–ठीक

अर्थ और इनमें विद्यमान मूलभूत अंतर को समझने में बहुत बड़ा भ्रम उत्पन्न हुआ। यह सत्य है कि सर्वधर्मसमभाव का सिद्धान्त हमें सभी धर्मों का समान रूप से आदर करने की शिक्षा देता है जिसके मूल में धार्मिक सहिष्णुता का विचार निहित है, किन्तु धर्मनिरपेक्षवाद के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता।'' पृष्ठ ४९०

यदि प्रो० वर्मा मानते हैं कि गाँधी जी धर्मनिरपेक्षता को सर्वधर्म समभाव या धार्मिक सहिष्णुता नहीं मानते तो क्या मानते हैं? इसे अवश्य ही स्पष्ट करना चाहिए। गांधी जी के अनुसार धर्म निरपेक्षता एवं धार्मिक सहिष्णुता में क्या विभेद है, इसे भी प्रो० वर्मा को बताना चाहिए। केवल यह कहना पर्याप्त नहीं है कि गांधी जी धार्मिक सहिष्णुता एवं धर्म निरपेक्षता में विभेद करते थे। जहाँ तक मैं समझता हूँ गाँधी जी धर्म निरपेक्षता एवं धार्मिक सहिष्णुता में कोई गुणात्मक अन्तर नहीं करते थे। वे धार्मिक सहिष्णुता को सर्वधर्मसमभाव के रूप में मानते थे। उनके अनुसार सभी धर्म सच्चे हैं परन्तु अपूर्ण हैं, वास्तविक धर्म तो केवल सत् धर्म है, जिसकी ओर सभी धर्म अग्रसर हैं। इसीलिए उन्होंने लिखा है कि प्रत्येक धर्मावलम्बियों को अपने धर्म को परित्याग करने की आवश्यकता नहीं है, वे अपने धर्म को स्वीकार करें परन्तु उन्हें उनमें अर्न्तनिहित बुराइयों को दूर करने का सतत् प्रयास करते रहना चाहिए।

दूसरी तरफ धर्म निरपेक्षता के संदर्भ में गाँधी जी लिखते है कि ''बेशक राज्य को धर्म निरपेक्ष होना चाहिए, उसमें रहने वाले प्रत्येक नागरिक को बिना किसी रोक–टोक (रुकावट) के अपने धर्म को मानने का अधिकार होना चाहिए। जब तक वह देश के आम कानून को मानता है या उसका उल्लंघन नहीं करता है।'' (हरिजन, १४.०८.१९४७)। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रो० वर्मा, गाँधी जी की मूल भावनाओं की उपेक्षा कर, तथ्यों को जबरदस्ती तोड़ मरोड़ कर अपनी भावना के अनुरूप परिभाषित करना चाहते हैं, जो किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है। भारतीय पंथ निरपेक्षता को किसी ने भी धर्मों के निषेध के रूप में परिभापित नहीं किया है। हॉ तटस्थता के रूप में अवश्य ही परिभाषित किया गया है, लेकिन तटस्थता का अर्थ धर्म का निषेध नहीं होता है। धर्मों का निषेध केवल पाश्चात्य परम्परा में ही माना गया है। इसका कारण यह है कि मध्य युग में धर्म का प्रभुत्व सभी क्षेत्रों में था जिसके कारण स्वतंत्र चिन्तन एवं व्यक्तिगत विचार की अभिव्यक्ति में बाधा पहुँचती थी। इसी कारण धर्म सुधार आन्दोलन शुरू हुआ, जिसका मूल

उदश्य यह था कि धर्म एवं राज्य का पृथक्करण। इसी के फलस्वरूप कालान्तर में पंथ निरपेक्षता शब्द का प्रादुर्भाव हुआ। परन्तु भारतीय परम्परा में तो अनेक धर्म प्राचीन काल से ही चले आ रहे हैं। अत: यहाँ पर पंथ निरपेक्षता का अर्थ धर्मों के निषेध से नहीं है, बल्कि तटस्थता या समभाव से ही है। लेकिन प्रो० वर्मा इस भाव की उपेक्षा कर इसे धर्मों का निषेध के रुप में स्वीकार क़र रहे हैं जो भारतीय पंथ निरपेक्षता के मूल भाव के अनुरूप नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रो० वर्मा को भारतीय पंथ निरपेक्षता एवं पाश्चात्य पंथ निरपेक्षता में कोई अंतर ही दृष्टिगोचर नहीं होता।

यदि पंथ निरपेक्षता पर सुक्ष्मतापूर्वक विचार किया जाय तो पाते है कि इसमें राज्य, धर्म और व्यक्ति के तीन भिन्न किन्तु एक दूसरे से सम्बन्धित समीकरण बनते हैं,

- राज्य और व्यक्ति (नागरिकता)।
- धर्म और व्यक्ति (धार्मिक स्वतंत्रता)।
- राज्य और धर्म (धर्म और राज्य का पृथक्करण)।

राज्य और व्यक्ति के सम्बन्धों को स्पष्ट करते हुए अनुच्छेद 14 में विधि के समक्ष समानता की बात की गई है अर्थात् विधि के संदर्भ में राज्य किसी भी व्यक्ति को विशेष अधिकार नहीं देगा। वहीं अनुच्छेद 44 "समान सिविल संहिता" की बात करता है। यही नहीं अनुच्छेद 25 व 26 में प्रत्येक व्यक्ति को किसी धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्म स्थान आदि के आधार पर यथासम्भव पक्षपात से सुरक्षित किया गया है।

पुनश्च, धर्म और व्यक्ति के सम्बन्धों का स्पष्ट उल्लेख अनुच्छेद 25 में मिलता है जो अन्त:करण के अनुरूप किसी भी धर्म का अनुपालन तथा प्रचार–प्रसार का अधिकार देता है।

इसी प्रकार राज्य और धर्म को स्वीकार करते हुए अनुच्छेद 27 में कहा गया कि ऐसे धन पर कर देय नहीं होगा जो किसी विशेष धर्म की अभिवृद्धि के लिए निश्चित की गई हो। अनुच्छेद 28, राज्यनिधि से पोषित किसी धार्मिक संस्था में कोई धार्मिक शिक्षा नहीं दी जायेगी। अनुच्छेद 29, प्रत्येक निवासी या समुदाय को अपनी विशिष्ट भाषा लिपि या संस्कृति बनाये रखने की स्वतंत्रता प्रदान करती है। अनुच्छेद 30, अल्पसंख्यक वर्गों को धर्म या भाषा पर आधारित अपनी रुचि

की शिक्षण संस्थाओं की स्थापना तथा उस पर प्रशासन और प्रबंधन का अधिकार प्रदान करता है, जबकि अनुच्छेद 225, 350 तथा 352 धर्म के आधार पर निर्वाचन क्षेत्रों को बांटने का प्रतिबंधित करता है। इसी प्रकार 372 तथा 372 (क) का आशय यह है कि राष्ट्रपति संविधान के उपबंधों के विपरीत व्यवस्था वाले कानूनों एवं नियमों को उस रूप में संशोधित कर सकते हैं, जिस रूप में संवैधानिक एकरूपता बनी रहे।

इन सभी उपबंधों के अतिरिक्त यह भी प्रावधान है कि किसी भी व्यक्ति को केवल उसी हद तक अपने विश्वास के अनुरूप आचरण करने की स्वतंत्रता दी गयी है जिस सीमा तक वह सामाजिक सुव्यवस्था, लोक सदाचार, लोक कल्याण में बाधा न उत्पन्न करे। यदि स्वतंत्रता अपनी सीमा का अतिक्रमण करती है तो संविधान तुरन्त राज्य को उस स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाने का अधिकार देता है। तात्पर्य यह है कि राज्य किसी भी मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारा आदि में तब तक हस्तक्षेप नहीं करेगा, जब तक की उपर्युक्त दशा न उत्पन्न हो जाए, लेकिन यदि जन समुदाय इसका विरोध करता है और राज्य सरकार इसके प्रति उदासीनता या तटस्थता बरतती है तो यह केन्द्र सरकार का दायित्व है कि वह संविधान के अनुरूप व्यवस्था बनाये रखे। अनुच्छेद 352 तथा 356 राष्ट्रपति को यह विशेष अधिकार देता है कि वह या तो राज्यपाल के परामर्श से या स्वयं अपने विवेक से राज्य में राष्ट्रपति शासन लगा सकता है।

परन्तु इसके व्यावहारिक पक्ष पर बल दिया जाए तो कई विसंगतियां परिलक्षित होती है। अनुच्छेद 19, 25 तथा 44, समानता की बात करता है तो दूसरी तरफ अनुच्छेद 30, मजहब या पंथ के आधार पर अल्पसंख्यक तथा शेष भारतीयों के मध्य भेदभाव करता है। इसके अनुसार अल्पसंख्यक अपने लिए अलग से विद्यालय तथा शिक्षण संस्थाएँ चला सकते हैं। ऐसी संस्थाओं को सरकारी अनुदान तो दिया जायेगा परन्तु उसके प्रबंधन में राज्य का कोई हाथ नहीं होगा। यही नहीं उसमें विशिष्ट पंथ की शिक्षा देने की भी छूट होगी। स्पष्टत: जब तक अनुच्छेद 30 है, अनुच्छेद 44 पर अमल करना असम्भव है।

इसी प्रकार एक तरफ धर्म निरपेक्षता की बात की गयी तो दूसरी तरफ अनुच्छेद 48 में गो हत्या पर प्रतिबंध लगाया गया। सिक्खों को कृपण रखने की इजाजत दी गई तो मुसलमानों को बहु विवाह मान्यता प्रदान की गयी और स्त्रियों

के प्रति भेदभाव को आज तक अदालत के द्वारा अवैध घोषित नहीं किया गया। क्योंकि इसकी जड़ें धर्म में सन्निहित हैं। हमारी शिक्षण संस्थाएँ भी पंथ निरपेक्षता का उल्लंघन करती है। अधिकांश पाठ्य पुस्तकें किसी एक समुदाय की अच्छी बातों का गुणगान करती, सभी समुदायों की अच्छी बातों का नहीं।

इसी प्रकार आज शासन तंत्र में पद ग्रहण करते हुए भी शासक वर्ग धार्मिक समारोहों में सार्वजनिक रूप से शामिल होते रहते हैं, जो धर्म निरपेक्षता का स्पष्ट उल्लंघन है क्योंकि निजी तौर पर चाहें आप किसी भी धर्म को क्यों न स्वीकार करें, लेकिन सार्वजनिक तौर पर उसे धर्म से दूर रहना चाहिए।

यही नहीं आज के राजनीतिज्ञ अपने वोटों के खातिर अंग्रेजों की ही पद्धति अपनाते हुए भारतीय नागरिक को हिन्दु, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई और अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा पिछड़ा वर्ग के रूप में देखना शुरू कर दिया है। इन अल्पसंख्यकों और शोषितों में भी ऐसा नेतृत्व स्वाभाविक रूप से उभरा जो अपने वोट की कीमत वसूलने के लिए सत्ताधीशों को ब्लैक मेल कर सके। केरल के गिरिजाधर, दिल्ली की जामा मस्जिद, अमृतसर के स्वर्ण मन्दिर के बाद अब अयोध्या मन्दिर से विभिन्न राजनीतिक दलों ने अपने–अपने फतवे जारी कराकर भारतीय पंथ निरपेक्षता की छवि तो धूमिल की ही है फिर भी प्रत्येक दल अपने को पंथ निरपेक्ष घोषित कर रहा है। आजकल धर्म परिवर्तन हो रहा है उसका एक मात्र उदेश्य लोगों को गुमराह कर अन्य धर्मों के प्रति कट्टरता व वैमनस्यता का बीज बोना है। आज का चुनाव साम्प्रदायिक और धार्मिक समर्पण का इतना मोहताज है कि जाति आज भी सबसे बड़ा समीकरण बन गया है। यही नहीं आज तो राष्ट्रीयगान को भी मुल्लाओं द्वारा मुस्लिम विरोधी बताया जा रहा है।

अंतत: यह कहा जा सकता है कि आज धर्म की कार्य शैली में आमूल चूल परिवर्तन (पैरेस्ट्रोइका) की जरूरत है, धर्म की एक सामान्य संहिता के लिए एक राष्ट्रीय संवाद शुरू हो। भारत के धार्मिक नेताओं में अनेक सजग तथा संवेदनशील मानववादी हैं, जो इनके अनुरूप बहस कर धर्म के सम्बन्ध में एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित कर सकते हैं, जिससे आदर्श पूर्ण, पंथ निरपेक्षता को यकीनन सरल एवं व्यवहारपरक बनाया जा सके।

**

वर्ण–व्यवस्था एवं सामाजिक न्याय

यदि समाज का अध्ययन उसकी सम्पूर्णता में किया जाय तो इसके मूलत: चार आयाम प्रतिबिम्बित होते हैं; सेवा, उत्पादन, सुरक्षा एवं ज्ञान। यद्यपि प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' में इसके तीन ही आयाम का उल्लेख किया है; उत्पादन, सुरक्षा एवं ज्ञान। प्लेटो का यह विश्लेषण आत्म तत्व विवेचन पर आधृत है, जहाँ वे मानते हैं कि आत्मा में तीन तत्व होते हैं; क्षुधा (Appetite), उत्साह (Spirit) एवं विवेक (Reason)। उनके अनुसार मनुष्य में क्षुधा का तत्व अबौद्धिक होता है, जिससे व्यक्ति अपने आप को स्वस्थ एवं संतुष्ट होने के लिए अनेकानेक उद्योग करता है। दूसरा तत्व विवेक का है, जो पूर्णतया बौद्धिक होता है, जिसके द्वारा वह ज्ञान प्राप्त करता है और तीसरा तत्व उत्साह का है, जो क्षुधा एवं विवेक के मध्य स्थित है। इसके द्वारा महत्वाकांक्षा एवं प्रतिस्पर्धा की भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। लेकिन भारतीय परम्परा में इन तीनों के अतिरिक्त 'सेवा' को पृथक् वर्ग में रखते हुए चार्तुवर्ण्य को स्वीकार किया गया है। प्रो० सत्यव्रत सिद्धांतालकार अपनी पुस्तक "आर्य संस्कृति के मूल तत्व" में लिखते हैं कि वर्ण व्यवस्था कुछ स्वार्थी ब्राह्मणों के दिमाग की उपज नहीं थी। यह मानव समाज के उन महान आध्यात्मिक सिद्धांतों का वर्गीकरण तथा नियमन था जिसके बिना कोई समाज एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता है।[1]

इन चार प्रवृत्तियों को समझाते हुए प्रो० सत्यव्रत सिद्धांतालंकार लिखते हैं कि प्रवृत्तियाँ चार क्यों है और कैसे? प्रवृत्तियों का चार विभाग संसार के मौलिक तत्वों पर किया गया है। सांख्य शास्त्र के अनुसार सत्ता मात्र के आधार में सत्व, रजस्, तमस्—ये तीन मौलिक तत्व हैं। इसी को सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृति:— सत्व, रजस्, तमस् की साम्यावस्था का नाम प्रकृति, इनकी विषमावस्था का नाम विकृति अर्थात् संसार, ऐसा कहा है। सृष्टि की रचना के ये सूक्ष्म तत्व मन

की रचना करते हैं जिससे मन सात्विक, राजसिक एवं तामसिक कहा जाता है। मनोविज्ञान के ये तीन तत्व समाजशास्त्र में जाकर चार बन जाते हैं। आर्य संस्कृति के समाज शास्त्रियों ने सांख्य के मनोविज्ञान के तीन तत्वों के सिद्धांत को लेकर समाज का विभाग सात्विक, सात्विक–राजसिक, राजसिक–तामसिक तथा तामसिक, इस प्रकार चार प्रवृत्तियों को आधार बनाते हुए–ब्राम्हण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन चार वर्णों के रूप में कर दिया है।[2] जबकि डॉ० राधाकृष्णन वर्णो के सिद्धांत की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि धर्म का लक्ष्य मानव जीवन को स्वाभाविकता की ओर ले जाना है और उसकी व्यापकता, स्वतंत्रता और विविधता को कायम रखते हुए नियंत्रित रखना है।[3]

यद्यपि तात्विक दृष्टि से वर्ण का कोई विशेष महत्व नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण जगत ही ब्रह्ममय है (न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्व ब्रह्ममिदं जगत्)[4], तथापि व्युत्पति की दृष्टि से वर्ण शब्द 'वृञ् वरणे' धातु से बना है जिसका अर्थ होता है वरण करना या चुनना। अपने स्वभाव के अनुसार व्यक्ति जिस व्यवसाय का वरण करता है, वही उसका वर्ण है। इस दृष्टि से जो पठन–पाठन करते हैं, वे ब्राह्मण, जो सुरक्षा प्रदान करते हैं वे क्षत्रिय, जो व्यवसाय में रुचि रखते हैं, वे वैश्य एवं जो सेवा कार्य करते हैं, वे शूद्र हैं। यही वर्ण का वास्तविक अर्थ है।

शांति पर्व के अनुसार ब्रह्मा जी ने सर्वप्रथम ब्राह्मणों को उत्पन्न किया। इस प्रकार सृष्टि के आरम्भ में सभी ब्राह्मण ही थे। कालान्तर में विभिन्न कर्मों के कारण उनमें वर्ण- भेद हो गया। (ब्राह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्)[5]। जो अपने ब्राह्मणोचित धर्म का परित्याग करके विषयभोग के प्रेमी, तीखे स्वभाव वाले, क्रोधी और साहस का काम पसंद करने वाले हो गये और इन्हीं कारणों से जिनके शरीर का रंग लाल हो गया, वे ब्राह्मण क्षत्रिय भाव को प्राप्त हुए एवं क्षत्रिय कहलाने लगे।

"कामभोगप्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रियसाहसाः।
त्यक्तस्वधर्मा रक्ताङ्गास्ते द्विजाः क्षत्रतां गताः।।"[6]

जिन्होंने गौओं से कृषि कर्म के द्वारा जीविका चलाने की वृत्ति अपना ली और उसी के कारण जिनके रंग पीले पड़ गये तथा जो ब्राह्मणोचित् धर्म को छोड़ बैठे, वे ही ब्राह्मण वैश्य भाव को प्राप्त हुए।

"गोभ्यो वृत्तिं समास्थाय पीताः कृष्युपजीविनः।
स्वधर्मान् नानुतिष्ठिन्ति ते द्विजा वैश्यतां गताः।।"[7]

इसी प्रकार, जो शौच और सदाचार से भ्रष्ट होकर हिंसा और असत्य के प्रेमी हो गये, लोभवश व्याधों के समान सभी तरह के निन्द्य कर्म करके जीविका चलाने लगे परिणामस्वरूप जिनके शरीर का रंग काला पड़ गया, वे ब्राह्मण, शूद्र भाव को प्राप्त हो गये।

"हिंसानृतप्रिया लुब्धाः सर्वकर्मोपजीविनः।
कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः।।"[8]

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि प्रारम्भ में वर्ण भेद नहीं था। कलान्तर में इसका विभाजन गुण एवं कर्म के आधार पर हुआ। जिसका स्पष्ट उल्लेख गीता में मिलता है, जब भगवान कृष्ण कहते हैं कि चारों वर्णों की उत्पत्ति मेरे ही द्वारा की गई है।

"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः"[9]

अर्थात् इन चारो वर्णों की सृष्टि मेरे द्वारा गुण एवं कर्म के आधार पर की गई है। यहाँ गुण का तात्पर्य सत्व, रजस् एवं तमस् से है। ब्राह्मण में सत्व गुण की प्रधानता होती है, क्षत्रिय में रजस् की। वैश्य में रजस् के साथ–साथ तमस् की भी प्रवृत्ति होती है, परन्तु रजस् प्रधान होता है एवं तमस् गौण रहता है। अन्ततः शूद्र में भी तमस् एवं रजस् की प्रवृत्ति होती है, परन्तु यहाँ तमस् की प्रधानता होती है, जबकि रजस् गौण रहता है। इस प्रकार गुणों के आधार पर ही कर्म का निर्धारण होता है। स्पष्टतः यहाँ कर्म के लिए आन्तरिक प्रवृत्ति पर अत्यधिक बल दिया गया है। जिस व्यक्ति में जैसी प्रवृत्ति हो, उसे उसी प्रकार के कर्म का वरण करना चाहिए क्योंकि यदि वह अपनी आन्तरिक वृत्ति के आधार पर कर्म का चयन करता है तो स्वभावतः उसमें उसकी निष्ठा अत्यधिक होगी, जिससे वह अपने कर्म का पूरी तन्मयता के साथ निर्वहन कर सकेगा और उस परिस्थिति में वह अपने द्वारा किये गये कर्मों के लिए उत्तरदायी भी माना जायेगा।

प्रो० राजेन्द्र प्रसाद अपनी पुस्तक "वर्ण धर्म, निष्काम कर्म एवं प्रैक्टिकल मॉरेलिटी" में लिखते हैं कि 'ब्राह्मणों में रजस् एवं तमस् की प्रधानता होती है जबकि क्षत्रिय में रजस् की। वहीं वैश्य एवं शूद्र में सत्व की प्रधानता होती है।"[10] प्रो० प्रसाद के तर्कों से सहमत होना असम्भव है क्योंकि उन्होंने अपने कथन की

पुष्टि में कोई विश्वसनीय तर्क नहीं प्रस्तुत किया है। ब्राह्मण में ज्ञान वृत्ति प्रधान होती है। इस प्रकार वे सभी व्यक्ति जो किसी न किसी रूप में ज्ञानार्जन से संबंधित हैं, ब्राह्मण ही हैं। स्पष्टतः इनमें सात्विक वृत्ति प्रधान होती है। दूसरा, क्षत्रिय का तात्पर्य सुरक्षा से है। इसके अन्तर्गत वे सभी व्यक्ति आयेंगे, जो किसी न किसी रुप में प्रशासनिक कार्य से संबंधित हैं। इसके लिए क्रियाशीलता का होना आवश्यक है। अतः इनमें रजोगुण प्रधान होता है। वैश्य का तात्पर्य उन सभी व्यक्तियों से है जो किसी न किसी रूप में व्यापार से संबंधित है। इनमें रजस् प्रधान होते हुए भी तमस् गुण पाये जाते हैं। इसी प्रकार शूद्र वे हैं, जिनमें तमस् की प्रधानता होती है, जबकि रजस् गौण होता है। स्पष्टतः यहाँ पर किसी विशेष जाति की बात नहीं हो रही है बल्कि यह विभाजन विभिन्न व्यक्तियों के कार्यों से संबंधित है। जो व्यक्ति जिस कार्य को करता है, वह उसी वर्ण से संबंधित होता है। यथा, ब्राह्मण, यदि सेवा कार्य में लिप्त है तो वह ब्राह्मण नहीं, बल्कि शूद्र ही है। दूसरी तरफ, यदि शूद्र ज्ञानार्जन का कार्य कर रहा है तब वह शूद्र नहीं, बल्कि ब्राह्मण ही हैं। इस प्रकार वर्ण का यह विभाजन गुण एवं कर्म से संबंधित है, जबकि प्रो० प्रसाद इसे जाति से संबंधित कर देखते हैं, जो उचित नहीं।

वर्ण के सम्बन्ध में कई सिद्धान्त प्रचलित हैं। इसमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्धान्त ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में मिलता है, जिसके अनुसार सर्वशक्तिमान पुरुष के मुख से ब्राह्मण की, बाहु से क्षत्रिय की, ऊरु से वैश्य की एवं पैरों से शूद्र की उत्पत्ति हुई है।

"बाह्मणोऽस्य मुखमासीद्, बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरु तदस्य यद्वैश्य्, पद्भ्यां शूद्रो अजायत।"[11]

इस सिद्धान्त में समाज को एक विराट् पुरुष के रूप में माना गया है, वर्ण जिसके विभिन्न अंग हैं। यह समाज का जैविक सिद्धान्त (Organic Theory) है। जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंगों के कार्य पृथक्–पृथक् होते हुए भी उसमें परस्पर पूरकता पायी जाती है और सभी अपने गुणों के अनुसार ही शरीर की सेवा करते हैं, उसी प्रकार विभिन्न वर्णो के कार्य परस्पर पृथक्–पृथक् होते हुए भी उनमें आंगिक सम्बन्ध पाया जाता है और सभी मिल कर समाज रूपी शरीर की सेवा करते हैं। इस प्रकार विभिन्न वर्णो में परस्पर संघर्ष की नहीं बल्कि सहयोग की आवश्यकता है।

उल्लेखनीय है कि महाभारत के शान्ति पर्व में भी चार वर्णों की उत्पत्ति ब्रह्मा द्वारा बताई गई है। ऋग्वेद में विराट् पुरुष की बात की गई है, वहीं महाभारत में बह्मा की। भृगुजी कहते हैं – मुने! बह्मा जी ने सृष्टि के आरम्भ में अपने तेज से सूर्य और अग्नि के समान प्रकाशित होने वाले ब्राह्मणों, मरीचि आदि प्रजापतियों को ही उत्पन्न किया।

"आत्मतेजोभिनिर्वृत्तान् भास्कराग्निसमप्रभान्।"[12]

मनुस्मृति भी इसका समर्थन करती है। सृष्टि की सुव्यवस्था तथा उसका सम्यक् प्रकार से संचालन करने के लिए परम तेजस्वी बह्मा जी ने शरीर के चारों अंगों – मुख, बाहु, उरु तथा पैर की तरह सभी लोगों को चार वर्णों में –ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र में विभक्त किया तथा उनके अलग–अलग कर्मों को निर्धारित किया।

"सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुह्यर्थं स महाद्युतिः।
मुखबाहूरुपज्जानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत्।।"[13]

भृगु संहिता में मिलता है कि ब्रह्मा ने सर्वप्रथम ब्राह्मणों की सृष्टि की। तदन्तर रंग (वर्ण) के आधार पर चार वर्ण विकसित हो गये। ब्राह्मणों का रंग सफेद, क्षत्रियों का रंग लाल, वैश्यों का रंग पीला तथा शूद्रों का रंग काला था। महाभारत भी इस बात का समर्थन करता है। शांतिपर्व के अनुसार ब्राह्मणों का रंग श्वेत, क्षत्रिय का लाल, वैश्यों का पीला तथा शूद्रों का काला बनाया।

"ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च द्विजसत्तम।
ये चान्ये भूतसङ्घानां सङ्घास्तांश्चापि निर्ममे।।"[14]

इसी प्रकार ऋग्वेद[12] में वर्ण शब्द का प्राचीनतम प्रयोग 'रंग' के अर्थ में किया गया है।

कालान्तर में स्वयं भृगु–संहिता इसका खण्डन कर कर्म के आधार पर वर्ण के विभाजन को उपयुक्त मानने लगी। जो सत्व गुण प्रधान थे वे ब्राह्मण, जो रजोगुण प्रधान थे वे क्षत्रिय, जो तमोमिश्रित रजस् गुण प्रधान थे वे वैश्य जबकि जो तमोगुण प्रधान थे वे शूद्र कहलाने लगे। भगवान श्रीकृष्ण भी गीता में इसी मत का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि वर्ण शरीर के रंग की वस्तु न होकर आंतरिक वृत्ति पर आधृत है जो किसी भी अवस्था में परिवर्तित नहीं होती। इस प्रकार अपने पूर्व कर्मो के अनुसार जिसको जैसी प्रकृति मिली है, वही उसका वर्ण है।

इस प्रकार वर्ण—व्यवस्था जन्म पर नहीं बल्कि कर्म पर अवलम्बित थी। अत: एक वर्ण में जन्म लेने के उपरान्त भी यदि किसी व्यक्ति के गुण व कर्म उस वर्ण से असम्पृक्त हैं, तो उसका वर्ण उसके गुण व कर्म द्वारा ही निर्धारित होना चाहिए। महाभारत के शांतिपर्व में भृगुजी ने इसका बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। उनके अनुसार कोई व्यक्ति ब्राह्मण, जन्म से न होकर कर्म से ही होता है। यथा, ब्राह्मण में सत्य, दान, द्रोह न करने का भाव, क्रूरता का अभाव, लज्जा, दया और तप ये सद्गुण देखे जाते हैं। यदि ये गुण ब्राह्मण में न हो तो वह ब्राह्मण नहीं है।

"सत्यं दानमथाद्रोह आनृशंस्यं त्रपा घृणा।
तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृत:।।"[15]

यहीं नहीं, यदि उपर्युक्त सातों गुण शूद्र में दिखाई दें तो वह शूद्र नहीं और यदि ये गुण ब्राह्मण में न हो तो वह ब्राह्मण नहीं है। जैसा कि शांतिपर्व में भृगुजी लिखते .हैं,

"शूद्रे चैतद्भवेल्लक्ष्यं द्विजे तच्चा न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मण:।।"[16]

इसी प्रकार, मनुस्मृति में यह कहा गया है कि जन्म से नहीं बल्कि संस्कार के द्वारा ही कोई ब्राह्मण होता है अर्थात् न तो कुल द्वारा न ही जन्म द्वारा, बल्कि कर्म द्वारा ही लोग ब्राह्मण होते हैं। जो ब्राह्मण अपने आचार से भ्रष्ट हो जाता है वह वेद पाठ के फल को प्राप्त नहीं कर पाता तथा आचारवान होकर ब्राह्मण सम्पूर्ण वेदोक्त फलों का अधिकारी होता है। इस प्रकार मनु ने आचार को सर्वोपरि महत्व दिया है। उनके अनुसार सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात उच्च स्तर का आचरण है, जो उच्च आचरण का पालन नहीं करता, उसे ब्राह्मण होने और वेद पाठ करने का भी फल नहीं मिलता।

"जन्मना जायते शूद्र:, संस्कारेण द्विज उच्यते।
आचारद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते।
आचारेण तु संयुक्त: सम्पूर्णफलभाक्स्मृत:।।"[17]

मनुस्मृति के अनुसार महात्माओं ने अपने अनुभव से यह जाना है कि आचार से ही धर्म की गति है। आचार से रहित होने पर धर्म स्थिर नहीं रह सकता और न चल सकता है। अत: महर्षियों ने आचार को समस्त प्रकार की तपस्याओं का मूल आधार माना है।

"जन्मना जायते शूद्रः, संस्कारेण द्विज उच्यते।
विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय कथ्यते।।
एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम्।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम्।।"[18]

यहीं नहीं, शांति पर्व के अनुसार एक चाण्डाल भी अपने शुभ कर्मों के द्वारा ब्राह्मण हो सकता है।

न कुलेन जात्या वा क्रियाभिः ब्राह्मणो भवेत्।
चाण्डालोऽपि हि वृत्तस्थो ब्रह्माणः स युधिष्ठिर!।।[19]

इसके अतिरिक्त, यह भी कहा गया कि पुण्य कर्मो के द्वारा वर्ण में उत्कर्ष सम्भव है (वणोत्कर्ष अवाप्नोति नरः पुण्येनकर्मर्ण्य–शांति पर्व)। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि वर्ण का आधार जन्मना न हो कर गुण–कर्मणा ही है।

गांधी जी के अनुसार हिन्दू सामाजिक संगठन का आधार वर्ण व्यवस्था है, जिसका अर्थ है मनुष्य के पेशे का चुनाव पूर्व निर्धारित है। वर्ण का नियम यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने पूर्वजों के पेशे को अपनाये क्योंकि प्रत्येक बालक में उसके पिता के गुण स्वभावतः विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार यदि प्रत्येक बालक अपने पिता के पेशे का चयन करता है तो स्वभावतः उसमें उस कार्य के प्रति दक्षता अत्यधिक होगी। इस प्रकार वर्ण वंशानुसंक्रमण का नियम है। उनके अनुसार जिस प्रकार बाह्य जगत् में न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण नियम कार्य करता है उसी प्रकार अंतःजगत् में वर्ण नियम का सिद्धांत लागू होता है। उन्हीं के शब्दों में, "मुझे हिन्दू धर्म का जो भी ज्ञान है, उसके आधार पर मैं कह सकता हूँ कि वर्ण का अर्थ अत्यंत सरल है। इसका सीधा–साधा अर्थ यह है कि हम सब अपने–अपने पूर्वजों का परम्परागत धंधा सिर्फ जीविका के लिए ही करें, अगर वह पैतृक धंधा मूल नैतिक धर्म से असंगत न हो। आप महसूस करेंगे कि अगर हम सब इस वर्णधर्म का पालन करें, तों हमारी भौतिक महत्वाकांक्षाएँ मर्यादित हो जायेगी और हमारी शक्ति उन विशाल क्षेत्रों की खोज के लिए मुक्त हो जायेगी, जिनसे और जिनके द्वारा हमें ईश्वर का ज्ञान प्राप्त हो सकता है।"[20]

गांधी जी के अनुसार वर्ण व्यवस्था का उद्देश्य धन कमाना नहीं बल्कि सम्पूर्ण समाज का कल्याण करना है। वर्ण व्यवस्था के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों का पालन कर सम्पूर्ण समाज का कल्याण कर सकता है। वे लिखते

हैं कि ''वर्णाश्रम धर्म इस पृथ्वी पर मनुष्य–जीवन के उद्देश्य की व्याख्या करता है। वह रोज–ब–रोज धन बटोरने और आजीविका के भिन्न–भिन्न साधन खोजने के लिए पैदा नहीं हुआ है। इसके विपरीत, मनुष्य इसलिए पैदा हुआ है कि वह अपने प्रभु को जानने के लिए अपनी शक्ति का एक–एक अणु काम में ले। इसलिए वर्णाश्रम धर्म उस पर यह पाबंदी लगाता है कि वह जीवित रहने के लिए सिर्फ अपने बाप दादों का पेशा ही करे। यही वर्णाश्रम धर्म है – न कम, न ज्यादा।''[21]

गांधी जी मानते हैं कि सभी व्यक्तियों की शारीरिक एवं मानसिक क्षमता एक समान नहीं होती। अत: प्रत्येक व्यक्ति को उसकी मानसिक एवं शारीरिक क्षमता के अनुसार जो कार्य सौंपा जाय, वहीं उसका धर्म है। यही वर्ण व्यवस्था का वास्तविक अर्थ है। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वर्ण के साथ–साथ हम कर्मों का भी विभाजन ऊँच–नीच या छोटा बड़ा के रूप में करें। प्रत्येक वर्ण एवं प्रत्येक कर्म का समान महत्व है। अत: न तो कोई वर्ण ऊँच–नीच है और नहीं कोई कर्म छोटा–बड़ा। इस प्रकार एक आचार्य एवं एक भंगी दोनों का समाज में समान महत्व है। एक आचार्य का काम भंगी नहीं कर सकता और नहीं एक भंगी का कार्य एक आचार्य कर सकता है। फिर इनमें ऊँच–नीच का भेद कैसा? एक ही कर्म एक स्थान पर उत्तम है और दूसरे स्थान पर अधम है। इस प्रकार सभी व्यक्तियों का कर्म स्थान विशेष के अनुसार उत्तम एवं अधम है। अत: विभिन्न वर्णों में परस्पर–सहयोग, परस्पर–पूरकता, एवं परस्पर अवलम्बन की आवश्कता है, न कि संघर्ष की। गाँधी जी के अनुसार 'मैं मानता हूँ कि हर एक मनुष्य स्वाभाविक वृत्तियाँ लेकर इस संसार में जन्म लेता है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ निश्चित मर्यादाओं के साथ पैदा होता है, जिन पर वह काबू नहीं पा सकता। उन मर्यादाओं का ध्यानपूर्वक अवलोकन करके ही वर्ण की व्यवस्था बनायी गयी है। वह वृत्ति विशेष के लोगों के लिए क्षेत्र विशेष में निश्चित कार्य करता है। इससे सारी अनुचित स्पर्धा टल जाती है। मर्यादाओं को स्वीकार करते हुए भी वर्णधर्म में ऊँच–नीच के भेदभाव की कोई गुंजाइश नहीं; एक तरफ वह प्रत्येक को अपने परिश्रम के फल की गारंटी देता है और दूसरी तरफ मनुष्य को अपने पड़ोसी को दबाने से रोकता है। इस महान धर्म को नीचे गिरा दिया गया है और वह बदनाम हो गया है। परंतु मेरा पक्का विश्वास है कि आदर्श समाज–व्यवस्था का विकास

तभी होगा, जब इस धर्म के गूढ़ अर्थों को पूरी तरह समझकर उन पर अमल किया जायेगा।''[22]

लेकिन गांधी जी के अनुसार वर्ण व्यवस्था का तात्पर्य जाति व्यवस्था नहीं है। जिस प्रकार अस्पृश्यता हिन्दू धर्म के लिए एक बहुत बड़ा अभिशाप है, उसी प्रकार जाति व्यवस्था भी। जाति व्यवस्था में कर्त्तव्य की अपेक्षा अधिकार पर अत्यधिक बल दिया जाता है, जबकि वर्ण व्यवस्था में अधिकार की अपेक्षा कर्त्तव्य पर अत्यधिक बल दिया जाता है। **किसी भी समाज का विकास, अधिकार की मॉग पर निर्भर नहीं करता, बल्कि अपने कर्त्तव्यों का सम्यक् एवं निष्ठापूर्वक निर्वहन करने पर निर्भर करता है।** गाँधीजी के अनुसार यद्यपि वर्ण व्यवस्था का जन्म से घनिष्ठ संबंध होता है, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि एक ब्राह्मण कुल में पैदा हुआ बालक ब्राह्मण ही होगा। यदि उसका कर्म ब्राह्मणोचित धर्म के अनुरुप नहीं है तो वह ब्राह्मण कदापि नहीं होगा। उनके अनुसार वर्ण जन्म के द्वारा निर्धारित होता है, परन्तु उसे धारण करने के लिए उससे संबंधित कर्त्तव्यों का पालन आवश्यक है। ब्राह्मण मॉ–बाप से उत्पन्न व्यक्ति ब्राह्मण कहलायेगा, परन्तु यदि एक उचित आयु तक वह अपने चरित्र में ब्राह्मण के गुणों का विकास नहीं कर पाता, तो उसे ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता। वह ब्राह्मणत्व से नीचे गिर जायेगा। इसके विपरीत, एक व्यक्ति जो ब्राह्मण मॉ बाप से उत्पन्न नहीं हुआ है, फिर भी यदि वह अपने चरित्र में ब्राह्मण के गुणों को विकसित कर लेता है, तब वह ब्राह्मण ही है।

आचार्य विनोबा भावे के अनुसार हिंन्दू धर्म में वर्ण व्यवस्था का विशिष्ट महत्व है परन्तु इसमें ऊंच–नीच का विभेद हो जाने के कारण इसका विशुद्ध रूप खण्डित हो गया है। जिसके कारण आर्थिक प्रतियोगिता का अभ्युदय हुआ, जिससे वर्ण व्यवस्था को विकृत कर दिया। उन्हीं के शब्दों में, ''इस दृष्टि में वर्ण–व्यवस्था की कल्पना कर हिन्दू धर्म ने बड़ा महत्वपूर्ण प्रयोग किया है। लेकिन उसमें ऊँच–नीच के भाव घुस जाने के कारण उसका असली रूप दूषित हो गया और आगे चलकर तो आर्थिक प्रतियोगिता के लालच के बदौलत बिल्कुल बर्बाद ही हो गया। व्यक्ति समाज का दिया हुआ काम करे, समाज व्यक्ति की योग्यता को देखकर उसे काम दे, योग्यता के विकास में आनुवांशिक संस्कारों से सहायता ली जाय, तदनुरूप तैयार होकर उस कार्य को उठाना व्यक्ति अपना कर्त्तव्य समझे,

दूसरा कोई व्यक्ति उसमें उससे प्रतिद्वंद्विता न करें, सबको समान संरक्षण और तुल्य वेतन मिले, जिम्मेदारी से अपने—अपने काम करने वाले सभी व्यक्ति कर्त्तव्यनिष्ठ के नाते समकक्ष माने जायें और उनकी स्वकर्मरूप पूजा से भगवान प्रसन्न हों— इस प्रकार थोड़े में वर्ण व्यवस्था का स्वरूप हैं।''[23]

पुनश्च, विनोबाजी लिखते हैं कि जैसे आदर्श राज्य की एक व्यवस्था होती है उसी प्रकार आदर्श समाज की भी एक व्यवस्था होती है। लेकिन इसमें प्रतिस्पर्धा की अभिवृद्धि के कारण इसमें दोष आ गये। इसीलिए वे लिखते हैं कि ''आदर्श राज्य—पद्धति को इसी तरह की किसी न किसी व्यवस्था की जरूरत होगी।

- वेतन की तुल्यता।
- होड़ का अभाव।
- आनुवांशिक संस्कार से लाभ उठाने वाली शिक्षण—योजना।

यह वर्ण व्यवस्था का सार है। पहले दो सिद्धांत अर्थशास्त्र के महान् प्रमेय हैं और तीसरा समाजशास्त्र का। कुछ लोगों के ख्याल से यह विवादास्पद है। यदि वैसा सिद्ध हो, तो भी पहले दो अबाधित ही रहेंगे और तब उतने ही पर व्यवस्था स्थिर करनी पड़ेगी। किन्तु विचार और अनुभव की कसौटियों पर कसने के बाद अगर तीसरी बात भी निर्विवाद रूप से खरी उतरे और ऐसा होना बहुत संभव है, तो ऊँच—नीच भाव की कल्पना किये बिना और उसे बिल्कुल एक फौलादी चौखटे का रूप न देते हुए वर्ण व्यवस्था को ही पुनरुज्जीवित करना पड़ेगा।''[24]

महादेवप्रसाद अपनी पुस्तक ''सोशल फिलासफी ऑफ महात्मा गाँधी'' में लिखते हैं कि आधुनिक युग में सामाजिक विकास को ध्यान में रखते हुए वर्ण व्यवस्था उस रूप में नहीं चल सकती जैसे चलती आयी है। वर्ण का संबंध जन्म से नहीं बल्कि स्वाभाव के अनुसार व्यवसाय चुनने से मानना होगा। इसके अतिरिक्त सामान्यतया जीवन के धारण करने के लिए आवश्यक शारीरिक श्रम सभी वर्णों के लिए अनिवार्य होगा। अपने वर्णों से संबंधित विशेष कर्म को करने का अर्थ यह नहीं हो सकता कि व्यक्ति जीवन के लिए आवश्यक कर्मों को न करें। सामाजिक संरचना का आधार उच्च—नीच की श्रेणियों में विभाजन के रूप में

नहीं टिक सकता। सहयोग और समानता ही उचित एवं स्थायी आधार हो सकता है।[25]

स्पष्टत: सामाजिक समानता का अर्थ सबको समान अधिकार से नहीं बल्कि सबको समान अवसर देने से हैं। अपनी क्षमता के अनुसार व्यक्ति भिन्न–भिन्न रूप में कार्य करेंगे ही, उनके अधिकार इसी से संबंधित होंगे। प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता और क्षमता के अनुरूप कार्य करने का अबाध अवसर प्राप्त कर सके यही सामाजिक समानता का मूल तत्व है।

ध्यातव्य है कि वर्ण, जाति से असम्पृक्त है। प्रारम्भ में केवल वर्ण ही थे, परन्तु कालान्तर में वर्ण संकरता के फलस्वरूप जातियों का प्रादुर्भाव हुआ। जिसके फलस्वरूप वर्ण–व्यवस्था अव्यवस्थित होने लगी एवं उसके स्थान पर जाति व्यवस्था पनपने लगी। जाति शब्द 'जानि' धातु में 'त्तिन' प्रत्यय का योग करने से बना है। व्याकरण के अनुसार जाति वह है जो आकृति द्वारा पहचान ली जाय तथा एक बार बतलाने से जान ली जाय। वर्ण–व्यवस्था में जहाँ गुण एवं कर्म को महत्व दिया जाता था, वहीं जाति व्यवस्था में आनुवांशिकता का समावेश हो गया। अब किसी विशेष जाति एवं कुल में पैदा हुआ व्यक्ति उसी जाति एवं कुल के नाम से जाना जाने लगा। दूसरे, वर्ण–व्यवस्था कर्म एवं गुण पर आधारित थी, अत: उसमें गत्यात्मकता एवं जीवंतता थी। ऐसी परिस्थिति में वर्ण परिवर्तन स्वाभाविक था, लेकिन ज्योंही यह व्यवस्था जातिवाद पर आधारित हो गई, इसमें रूढ़िवादिता का समावेश हुआ। अत: इसमें गत्यात्मकता एवं जीवंतता समाप्त हो गई। तीसरे, वर्ण–व्यवस्था गुण एवं कर्म पर आधारित थी, अत: इसमें वर्णो को उच्च एवं नीच वर्ण के रूप में मान्यता नहीं थी। वर्ण–व्यवस्था पर आधारित प्रत्येक कर्म समान थे, परन्तु ज्योंही जातिवाद का प्रादुर्भाव हुआ, इसके अन्तर्गत वर्ण के साथ–साथ कर्मो का भी विभाजन उच्च एवं नीच कर्म के रूप में होने लगा। अब ब्राह्मणों के द्वारा विहित कर्म सर्वोच्च एवं म्लेच्छ के द्वारा किया गया कर्म नीच माना जाने लगा। यही नहीं वर्ण संकरता के फलस्वरूप समाज में विभिन्न जातियाँ एवं उपजातियाँ पनपीं, इनका कर्मकाण्ड भी पृथक्–पृथक् हो गया। समाज में छुआ–छूत की प्रवृत्ति बढ़ी, इस प्रकार जहाँ वर्ण केवल चार थे, वहीं जातियाँ एवं उपजातियाँ अनेक हो गईं। फलत: समाज में सामंजस्य का स्थान कटुता एवं वैमनस्य ने ले लिया क्योंकि अयोग्य व्यक्ति को भी जन्म के आधार पर सर्वोच्च स्थान दिया जाने

लगा, जिसका समाज पर अत्यन्त ही प्रतिकूल प्रभाव षड़ा;

- पहला, कर्म का चयन जन्म के आधार पर होने लगा, फलतः उसके प्रति लोगों के मन में अरुचि पैदा होने लगी, जिससे विशिष्टता एवं योग्यता धूमिल होती गई।
- दूसरा, इससे योग्यता की उपेक्षा होनी लगी। जिसके परिणामस्वरुप समाज में सामाजिक सामंजस्य धूमिल पड़ने लगा।

प्रश्न उठता है कि वर्ण—व्यवस्था पर आधारित कर्म का अनुपालन कहाँ तक सामाजिक न्याय के अनुरूप है? यहाँ पर सामाजिक न्याय का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति को उसकी योग्यता एवं क्षमता के अनुसार कार्यों की जिम्मेदारी दी जाय। जब तक वर्ण—व्यवस्था का अनुपालन गुण एवं कर्म के आधार पर होता रहा, तब तक वह न्याय संगत बना रहा। लेकिन ज्योंही वह कर्मणा न हो कर जन्मना हो गयी, इसमें आनुवांशिकता प्रधान हो गयी। फलतः समाज में न्याय की अपेक्षा अन्याय का तत्व प्रधान हो गया। इसके लिए विशेषतः दो तत्व जिम्मेदार हैं:—

- कु—शिक्षा (De-education), जिसके अन्तर्गत इस बात की शिक्षा प्रदान की जाती है कि प्रत्येक व्यक्ति का नैतिक कार्य अपने जाति के अनुसार निष्ठापूर्वक कार्य करना है। यदि वह अपने जाति धर्म के अनुपालन से च्युत हो जाता है तो न केवल उसका नैतिक जीवन बल्कि आध्यात्मिक जीवन भी पतित हो जायेगा। साथ ही साथ यह भी कि मलेच्छ घर में पैदा हुआ बालक मलेच्छ का कार्य करे, और वही उसकी नियति भी है, क्योंकि पूर्व जन्म में उसने ऐसा कुछ कार्य किया है इसीलिए उसे मलेच्छ घर में जन्म लेना पड़ा। यह बात विभिन्न वर्ण वाले लोगों के मन में इस प्रकार बैठा दी गई कि इससे उबरना असम्भव हो गया। यह एक प्रकार का 'मनोवैज्ञानिक आतंकवाद'(Psychological Terrorism) है।
- शक्ति (Force) के द्वारा, विभिन्न वर्ण वाले लोगों को उनके जाति के अनुसार कार्य करने के लिए विवश किया जाने लगा। कालान्तर में यह उसका स्वभाव बन गया। जैसे एक ब्राह्मण

ने किसी व्यक्ति से कहा कि तुम्हारा जीवन पांच वर्ष तक अत्यन्त ही कष्टकर है। परन्तु यह पूछे जाने पर कि इसके बाद तो ठीक हो जायेगा। उस ब्राह्मण ने यह उत्तर दिया कि इसके बाद वह तुम्हारा स्वभाव बन जायेगा।

इसमें दूसरे की अपेक्षा पहले का प्रभाव अत्यधिक गहरा पड़ा क्योंकि जो भय व्यक्ति के अंतर्मन में बैठ जाता है, उस मनोवैज्ञानिक आतंक से मुक्त होना, अत्यन्त ही दुष्कर हो जाता है। यहीं से प्रारम्भ होता है नैतिकता—अनैतिकता का कुचक्र। जो जाति धर्म का अनुपालन करने लगा वह नैतिक और जो इसका उल्लंघन करने लगा उसे अनैतिक या पतित/भ्रष्ट कहा जाने लगा। यह प्रवृति एक अदृश्य शक्ति के रूप में लोगों के अर्न्तमन में बैठ गई। जो अंतत: सामाजिक अन्याय का कारण बनी क्योंकि;

- विकृत वर्ण—व्यवस्था में 'व्यक्तिगत सिद्धान्त' (Individualistic theory) की उपेक्षा की गई। जिससे व्यक्ति भीड़ का एक सदस्य हो गया। यहाँ पर वर्ण प्राथमिक, जबकि व्यक्ति गौण हो गया। यह प्रवृति सामाजिक विकास में अत्यन्त ही बाधक है।
- जन्म पर आधारित वर्ण—व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति के 'संकल्प स्वातंत्र्य' का अपहरण हो जाता है क्योंकि इसके अन्तर्गत व्यक्ति स्वेच्छा से नहीं बल्कि मजबूरी में अपने कर्म का चयन करता है। यह परम्परा हमें नियतिवाद की ओर ले जाती है जिसमें व्यक्ति, व्यक्ति न रह कर वस्तु बन जाता है।
- इसमें योग्यता की उपेक्षा की गई है। इसमें व्यक्ति योग्यता के अनुरूप नहीं बल्कि जाति के अनुरूप कार्य करने के लिए बाध्य होता है। परिणामत: उसकी कार्य—कुशलता पर प्रतिकूल असर पड़ता है। प्रो० राजेन्द्र प्रसाद अपनी पुस्तक "वर्ण धर्म, निष्काम कर्म एवं प्रैक्टिकल मॉरेलिटी" में लिखते हैं कि ''ऐसी परिस्थिति में हम उस व्यक्ति को उसके किसी भी कार्य के किसी भी परिणाम के लिए जिम्मेदार नहीं मान सकते क्योंकि यह स्चेच्छा से नहीं बल्कि दूसरे द्वारा आरोपित किया गया

कर्म है, भले ही उसका परिणाम कुछ भी क्यों न हो।''[26]

- समाज में स्थायित्व का तत्व नहीं बल्कि गत्यात्मकता (Mobility) का तत्व प्रधान होता है। यह गत्यात्मकता श्रम से ही विकसित होती है। लेकिन श्रम अधिकतम तभी हो सकता है जब योग्यतानुरूप श्रम का चयन किया जाय। जब व्यक्ति जाति के अनुरूप बलात् कर्म का चयन करता है, तब समाज में गतिहीनता (Stagnation) आती है, जो सामाजिक विकास में अत्यन्त ही बाधक है क्योंकि गतिहीनता विकास का नहीं बल्कि विनाश का सूचक है।
- जब वर्ण–व्यवस्था जन्मना हो गयी तब कर्तव्य की अपेक्षा अधिकार की मॉग बढ़ने लगी। यह एक प्रकार की आत्म प्रवंचना (Bad Faith) ही है। ऐसी परिस्थिति में व्यक्ति कहता है कि मैं क्या करूँ? मेरी परिस्थिति ही ऐसी है, कि इसमें कुछ भी कर पाना असम्भव है। यदि मुझे ऐसी परिस्थिति उपलब्ध करा दी जाय तो मैं ऐसा कर लूँगा।
- लेकिन वर्ण–व्यवस्था का सर्वाधिक प्रतिकूल प्रभाव व्यक्ति की मन: स्थिति पर पड़ा क्योंकि इसमें व्यक्ति के साथ–साथ कर्मो का भी विभाजन उच्च व निम्न कोटि में किया जाने लगा एक प्रोफेसर का कार्य, मोची के कार्य की अपेक्षा उच्च कोटि का माना जाने लगा। यह सामाजिक अन्याय का अत्यन्त ही छद्‌म रूप है। कर्म, केवल कर्म होता है। चाहे वह किसी भी वर्ण का क्यों न हो। इसका उच्च एवं निम्न कोटि में विभाजन कदापि उपयुक्त नहीं है।

प्रश्न उठता है कि ऐसी विकट एवं विषम परिस्थिति में सागाजिक न्याय किस प्रकार सम्भव है? स्पष्टत: इसके लिए हमें कुछ सामाजिक एवं नैतिक मूल्यों को स्थापित करना होगा। जिससे शोषणवादी प्रवृत्तियों पर अंकुश लगा कर समाज में सामंजस्य स्थापित किया जा सके, जिससे समाज का चहुंमुखी विकास हो सके।

- इसके लिए सर्वप्रथम वर्ण विभाजन का आधार गुण एवं कर्म

को बनाना पड़ेगा, अन्यथा समाज को गतिहीनता (Stagnation) की स्थिति से बचा पाना असम्भव होगा।

- शिक्षा को मूल्यपरक बनाना होगा, जिससे लोगों में अंतर्मन में बैठी उस प्रवृति से निजात मिल सके जहाँ जन्म के अनुरूप कर्म करने को ही धर्म कहा गया है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति, अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कर्म के चयन में स्वतंत्र होगा।
- इसके लिए न्यायपूर्ण शक्ति (Judicious Mix of Power) की आवश्यकता है। जब तक न्यायपूर्ण शक्ति का प्रयोग नहीं किया जायेगा तब तक अन्याय से मुक्त होना असम्भव होगा। लेकिन न्यायपूर्ण शक्ति का तात्पर्य यह नहीं कि दास को पूँजीपति तथा पूँजीपति को दास बना दिया जाय जैसा कि एम. आई. फिनले मानता है। उसके अनुसार दास को मालिक का मालिक बनाना होगा। इसका तात्पर्य केवल इतना है कि शक्ति (Power) तथा पूँजी (Capital) दोनों का समान वितरण (Equal Distribution) करना होगा।
- अब व्यक्तिवादी सिद्धान्त (Individualistic Theory) को महत्व देना पड़ेगा क्योंकि जब तब व्यक्ति की उपेक्षा होती रहेगी तब तक सामाजिक अन्याय से मुक्ति पाना असम्भव होगा। यही कारण है कि एम.एन. राय अपने वैज्ञानिक मानववाद का केन्द्र समाज की अपेक्षा व्यक्ति को मानते हैं।
- अधिकार की अपेक्षा कर्तव्य पक्ष पर अत्यधिक बल देना होगा। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्तव्य का पूरी निष्ठा के साथ सम्यक् निर्वहन करे तो अधिकार की माँग की आवश्यकता नहीं रह जायेगी, वह तो स्वत: ही मिल जायेगा।
- एतदर्थ, यह आवश्यक है कि **"योग्यता के विकास का समान अवसर"** प्रदान किया जाय। जब तक सभी व्यक्तियों के विकास के लिए समान अवसर प्रदान नहीं किया जायेगा तब

तक समाज में शोषण की प्रवृति बढ़ेगी और अन्याय से मुक्ति पाना असम्भव होगा।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आज भी समाज में वर्ण—व्यवस्था की भूमिका है और जब तक समाज रहेगा, इसकी भूमिका बनी रहेगी। **परन्तु समाज में जीवन्तता एवं गत्यात्मकता लाने के लिए वर्ण—व्यवस्था में निहित आनुवांशिकता का अन्त कर, हमें प्रत्येक व्यक्ति को उसके योग्यता के अनुरूप महत्व देना पड़ेगा, अन्यथा समाज को विसंगतियों से बचा पाना असम्भव होगा। यही वास्तविक सामाजिक न्याय है।** लेकिन दु:खद यह है कि आज समाज में योग्यता एवं क्षमता का नहीं बल्कि जाति की प्रधानता दी जा रही है। इससे समाज विकास की ओर बढ़ने की अपेक्षा, विनाश का रास्ता अख्तियार कर रहा है। जब तक हम तुच्छ राजनीतिक स्वार्थों से ऊपर उठकर समाज को उसकी सम्पूर्णता में समझने का प्रयास नहीं करेंगे, तब तक सामाजिक न्याय की बात करना कदापि उपयुक्त नहीं होगा।

यहाँ पर कुछ लोग यह कह सकते हैं कि बहुत सी जातियाँ हमारे समाज में पिछड़ी हुई है, जिनको आगे बढ़ाने का एक ही रास्ता है कि यहाँ पर योग्यता की उपेक्षा कर उनकों विशेष सुविधा प्रदान की जाय। लेकिन ऐसा करना कदापि उपयुक्त नहीं है। **यदि हमें विशेष सुविधा ही देनी है तो यह उनके योग्यता एवं क्षमता को बढ़ाने के लिए दी जानी चाहिये। हम उन्हें ऐसा अवसर उपलब्ध कराएँ जिससे वे अपनी योग्यता एवं क्षमता का पूर्ण विकास कर सकें। जिससे वे समाज द्वारा प्रदत दायित्वों का सम्यक् संवहन करने के योग्य हो जायें।** यदि हम योग्यता की उपेक्षा करते हुए सामाजिक न्याय की बात करते हैं, तब यह ठीक नहीं। यह स्थिति सामाजिक न्याय की न होकर सामाजिक अन्याय की होगी। ऐसे व्यक्ति समाज को समग्रता में देखने की अपेक्षा उसे संकीर्ण दृष्टि से देखना चाहते हैं।

आज के परिदृश्य में जहाँ सम्पूर्ण विश्व एक ''**लोकल गाँव**'' बनकर रह गया है। एक देश की घटनाएँ, तत्काल दूसरे देश को प्रभावित कर रही है। ऐसे स्थिति में हम राष्ट्रीय हित की उपेक्षा नहीं कर सकते। अब यह आवश्यक हो गया है कि विश्व परिदृश्य में हमारे राष्ट्र का महत्व बढ़े। लेकिन **किसी भी राष्ट्र का विकास विशेष अवसर उपलब्ध कराने पर निर्भर नहीं होता, बल्कि योग्यतम व्यक्ति का योग्यतानुरूप स्थान प्रदान करने से होता है।** जिसे ब्रेडले की भाषा में ''मेरा

स्थान एवं तदनुरुप कर्तव्य'' कहा जा सकता है। लेकिन तुच्छ एवं स्वार्थजनित हितों के लिए, हमारे देश की नीति निर्मात्री संस्थाएँ, इस बात की सतत् उपेक्षा करती जा रही हैं, जिससे ''**प्रतिभा–पलायन**'' की समस्याएँ भयावह हो गई हैं। आज आवश्यकता है कि भारत बिना किसी भेद–भाव के विशिष्ट प्रतिभाओं की खोज करके, उनकी योग्यतानुरूप उनका सर्वोत्तम उपयोग करें। जिससे हमारे राष्ट्र का समग्र विकास हो सके। आज विश्व पटल पर भारत की भूमिका एक हाशिये पर सिमट कर रह गयी है। जबकि भारतीय प्रतिभायें सम्पूर्ण विश्व को चुनौती दे रही हैं। विकसित राष्ट्र इन्हीं प्रतिभाओं का अपने देश में अधिकतम उपयोग कर रहा है। यदि इन भारतीय प्रतिभाओं का अपने राष्ट्र में ही, उनकी योग्यता के अनुरुप स्थान प्रदान किया जाय, तो एक तरफ, जहाँ राष्ट्र का समग्र विकास हो सकेगा, वही दूसरी तरफ, प्रतिभा पलायन की समस्याओं से भी मुक्ति मिल जाएगी। यही सच्चा एवं सामाजिक न्याय होगा। लेकिन इसके लिए वर्ण को समाप्त करने की अपेक्षा, जातियों को समाप्त करने की आवश्यकता है, क्योंकि भारत के सम्पूर्ण सामाजिक संघर्षो की जड़ वर्ण–व्यवस्था नहीं, बल्कि जाति–व्यवस्था ही हैं।

संदर्भ

1. प्रो० सत्यव्रत सिद्धांतालकार ''आर्य संस्कृति के मूल तत्व'', उद्धृत महादेव प्रसाद (1968): समाज दर्शन पृ० 158-159 ।
2. उपरोक्त, 161-62 ।
3. डॉ० राधाकृष्णन : ''इस्टर्न रिलिजन्स एण्ड वेस्टर्न थॉट'', उद्धृत महादेव प्रसाद (1968): समाज दर्शन पृ० 159 ।
4. महाभारत, शांतिपर्व– 188/10 ।
5. उपरोक्त, 188/10 ।
6. उपरोक्त, 188/11 ।
7. उपरोक्त, 188/12 ।
8. उपरोक्त, 188/13 ।
9. गीता – 4/13 ।
10. प्रो० राजेन्द्र प्रसाद (1999): ''वर्ण धर्म, निष्काम कर्म एवं प्रैक्टिकल

मारालटी'',पृ० 12 ।
11. ऋग्वेद, पुरुष सुक्त, 10.90.12 ।
12. महाभारत, शांतिपर्व– 188/1 ।
13. मनुस्मृति, 1/89 ।
14. महाभारत, शांतिपर्व– 188/4 ।
15. ऋग्वेद, 1/73/7, 9/105/4, 19/124/7 ।
16. महाभारत, शांतिपर्व– 189/4 ।
17. उपरोक्त, 189/8 ।
18. मनुस्मृति, 1/110 ।
19. उपरोक्त, 1/111 ।
20. महात्मा गॉधी (1927): यंग इंडिया, उद्धृत, गांधीजी (1963): ''सर्वोदय'' पृ० 62 ।
21. उपरोक्त, पृ० 62 ।
22. महात्मा गॉधी (1935): माडर्न रिव्यू, पृ० 413 ।
23. आचार्य विनोबा भावे (1956): ''सर्वोदय विचार और स्वराज्य शास्त्र'' पृ० 202-203 ।
24. उपरोक्त, पृ० 203 ।
25. महादेव प्रसाद ''सोशलफिलासफी ऑफ महात्मा गॉधी'', उद्धृत महादेव प्रसाद (1968): समाज दर्शन पृ० 170 ।
26. प्रो० राजेन्द्र प्रसाद (1999): ''वर्ण धर्म, निष्काम कर्म एवं प्रैक्टिकल मॉरेलिटी'', पृ० 14 ।

**

ज्ञान एक विश्वास है जो प्रामाणित एवं अनंतित सत्य है।

सामान्यत: ज्ञान शब्द का प्रयोग कई अर्थों में होता है। कीथ लेहरर अपनी पुस्तक नॉलेज (१९७१, पृष्ठ १) में लिखता है कि **जानने** शब्द का प्रयोग मूलत: तीन अर्थों में हुआ है। पहला, **योग्यता** (Competency) के अर्थ में यथा, मैं कार चलाना जानता हूँ, मैं घुड़सवारी जानता हूँ। यहाँ पर जानने का प्रयोग क्रिया के अर्थ में हुआ है, जो **कैसे** (How) का ज्ञान देता है। दूसरा, इसका प्रयोग **परिचय** (Acquittance) के अर्थ में होता है, यथा, मैं राम को जानता हूँ। इसका सम्बन्ध **किससे** (Whom) है। तीसरा, इसका प्रयोग **सूचना** (Information) के अर्थ में भी होता है, जिसका सम्बन्ध मूलत: प्रतिज्ञप्ति (Proposition) के अर्थ से है, जो क्या है (What is) से सम्बन्धित है। ज्ञान का यहीं तीसरा अर्थ अत्यधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि सामान्यत: ज्ञान का प्रयोग इसी अर्थ में होता है।

प्लेटो अपनी पुस्तक "**थिटीटस**" २०१ तथा "**मीनो संवाद**" ९८ में ज्ञान को परिभाषित करते हुए कहता है कि "**ज्ञान एक प्रामाणित सत्य विश्वास है।**" इस प्रकार ज्ञान के लिए तीन शर्तें आवश्यक है;

- सत्य
- विश्वास एवं
- प्रमाण

ध्यातव्य है कि जब प्लेटो ज्ञान को परिभाषित करता है तब वह **ज्ञान** (Knowledge) एवं **मत** (Opinion) में विभेद करता है। उसके अनुसार ज्ञान वह है जो अनिवार्य एवं सार्वभौम सत्य होता है। इसके लिए निश्चितता तथा अखण्डनीयता का होना आवश्यक है। जबकि मत वह है जो प्रत्यक्षगम्य है। अत:

इसमें स्थायित्व का अभाव रहता है। साथ ही साथ ज्ञान सदैव ही सत्य होता है, जबकि मत में सत्य एवं असत्य दोनों की सम्भावना बनी रहती है।

प्लेटो की त्रि–आयामी परिभाषा की तरह ही कुछ अन्य दार्शनिकों ने भी ज्ञान को परिभाषित करने का प्रयास किया। ए०जे०एयर अपनी पुस्तक "**दि प्राब्लम्स आफ नॉलेज**" (१९५६, पृष्ठ ३५) में ज्ञान के लिए तीन शर्तें मानता है। यथा, S जानता है कि P (S Knows that P), तब इसके लिए,

1. P सत्य हो। (P is True)
2. S निश्चित है कि P सत्य है। (S is sure that P is true)
3. तथा S को P की सत्यता के बारे में सुनिश्चित होने का अधिकार है। (S has right to be sure that P is true)

इसी प्रकार, आर० एम० चिजहोम अपनी पुस्तक "**थियरी आफ नालेज**" (१९७७ पृष्ठ १०९ एवं ११०) में इसे निम्न रूप में प्रस्तुत करता है,

S, P को स्वीकार करता है। (S accepts P)

P सत्य है। (P is true)

तथा P, S के लिए निर्दोष रूप में प्रामाणित है। (P is non-defectively evidence to S)

इस प्रकार एयर और चिजहोम किसी न किसी रूप में प्लेटो के त्रि–आयामी परिभाषा का ही समर्थन करते हैं।

लेकिन ज्ञान की त्रि–आयामी परिभाषा के ऊपर समय–समय पर प्रतिवाद होता रहा है। सर्वप्रथम, माइनांग **Uber die Erfahrungsgrundlagen unseres Wissens** (1906) में इसमें कमियों का उल्लेख करता है। माइनांग के अनुसार माना कि एक बगीचा है जिसमें एक घण्टी लगी हुयी है जो हवा चलने से बजती है जिसके कारण पक्षी भाग जाते हैं। अब माना कि इसी बगीचे के पास एक व्यक्ति रहता है जो इस घण्टी को सुनने का अभ्यस्त हो गया है। शनैः–शनैः वह व्यक्ति बहरा हो जाता है, लेकिन कभी–कभी उसे ऐसा लगता है कि घण्टी बज रही है और उस समय वास्तव में घण्टी बज रही होती है इस प्रकार 'घण्टी बज रही है' यह कथन सत्य है। इस पर वह विश्वास भी करता है और उसके पक्ष में प्रमाण भी है। परन्तु क्या वह व्यक्ति वास्तव में जानता है कि घण्टी बज रही है।

तत्पश्चात् रसेल अपनी पुस्तक **Human knowledge its Scope and Limits** (1948) में लिखते हैं कि माना कि कोई व्यक्ति किसी घड़ी की ओर देखता है, जब वह घड़ी बन्द है परन्तु उसमें ठीक वही समय हो रहा है जो वास्तव में है इस आधार पर वह व्यक्ति यह विश्वास कर लेता है कि घड़ी सही समय बता रही है। यह कथन सत्य है, उस पर वह व्यक्ति विश्वास भी करता है और इसके पक्ष में प्रमाण भी है परन्तु क्या उसे घड़ी का ज्ञान है कि घड़ी बन्द है।

इसी प्रकार आर० एम० चिजहोम **Theory of Knowledge** (1977) में इसमें कमियों का संकेत करते हैं। चिजहोम के अनुसार माना कि कोई व्यक्ति यह कहता है कि मैदान में एक भेड़ है और माना कि वह भेड़ नहीं कुत्ता है, लेकिन मैदान में दूसरी छोर पर एक भेड़ भी है, इस प्रकार उस व्यक्ति का यह कथन कि मैदान में एक भेड़ है सत्य है, इस पर वह विश्वास भी करता है तथा उसके पक्ष में प्रमाण भी है। लेकिन क्या वह व्यक्ति वास्तव में जानता है कि मैदान में एक भेड़ है।

इसी प्रकार जी० ई० मूर अपनी पुस्तक **Some main problems of philosophy** (1953) में ज्ञान के लिए उपर्युक्त तीन शर्तों को अपर्याप्त मानते हैं। उनके अनुसार ज्ञान की शर्तें इस प्रकार होनी चाहिए –

1. किसी प्रतिज्ञप्ति का साक्षात् बोध।
2. साक्षात् बोध के साथ उस प्रतिज्ञप्ति में विश्वास।
3. साक्षात् रूप से बोधगम्य प्रतिज्ञप्ति का सत्य होना।
4. इन तीनों शर्तों के अतिरिक्त एक चौथी शर्त भी होनी चाहिए, लेकिन वह चौथी शर्त क्या होगी इसे बताना अत्यन्त ही कठिन है।

सर्वप्रथम एडमण्ड गेटियर अपने लेख **Is Knowledge Justified True Belief** (Analysis, 1963) में त्रि–आयामी परिभाषा के विरोध में दो प्रति–उदाहरण प्रस्तुत करता है; १. माना जोन्स एवं स्मिथ दोनों किसी कम्पनी में नौकरी के लिए आवेदन करते हैं। स्मिथ यह विश्वास करता है कि (अ) जोन्स वह व्यक्ति है जिसे नौकरी मिलेगी तथा उसके जेब में १० सिक्के हैं। इस विश्वास का आधार यह है कि कम्पनी का अध्यक्ष जोन्स को नौकरी देने की प्रतिबद्धता व्यक्त करता है और कुछ समय पहले ही स्मिथ ने जोन्स के जेब में १० सिक्कों को गिना था, इन आधारों पर स्मिथ यह निष्कर्ष निगमित करता है कि (स) जिस व्यक्ति को

नौकरी मिलेगी, उसके जेब में १० सिक्के होंगे। लेकिन घटनाचक्र अचानक परिवर्तित हो जाता है। स्मिथ को स्वयं नौकरी मिल जाती है और उसके जेब में भी १० सिक्के मिलते हैं। यहाँ पर कथन (स) सत्य है कि जिस व्यक्ति को नौकरी मिलेगी, उसके जेब में १० सिक्के होंगे। स्मिथ इस पर विश्वास भी करता है और इसके लिए उसके पास प्रमाण भी है, लेकिन जिस कथन (अ) के आधार पर स्मिथ यह निष्कर्ष (स) निगमित करता है, वह असत्य है। इस प्रकार प्रामःणित सत्य विश्वास को ज्ञान नहीं कहा जा सकता है।

दूसरा, प्रति–उदाहरण यह है कि स्मिथ किसी कथन में विश्वास करता है कि (अ) '**जोन्स फोर्ड कार का मालिक है।**' इस विश्वास का आधार यह है कि स्मिथ ने अतीत में हमेशा जोन्स को फोर्ड कार के साथ देखा है तथा उसका रजिस्ट्रेशन नम्बर भी जोन्स ने स्मिथ को दिखाया था। माना स्मिथ का कोई मित्र ब्राउन है, जिसके निवास स्थान के बारे में स्मिथ अनभिज्ञ है, फिर भी स्मिथ तीन सम्भावित स्थानों का चयन करके इसे निम्न रूप में प्रस्तुत करता है।

(ब) या तो जोन्स फोर्ड कार का मालिक है या ब्राउन बोस्टन में रहता है।

(स) या तो जोन्स फोर्ड कार का मालिक है या ब्राउन बार्सिलोना में रहता है।

(द) या तो जोन्स फोर्ड कार का मालिक है या ब्राउन ब्रेस्टलिटोस्क में रहता है।

अब माना जोन्स के पास फोर्ड कार नहीं है, वह किराये की कार चलाता है, परन्तु स्मिथ को जाने बिना प्रतिज्ञप्ति (अ) अर्थात् या तो जोन्स फोर्ड कार का मालिक है या ब्राउन वार्सिलोना में रहता है, सत्य है। कथन (स) की सत्यता का आधार (अ) है, परन्तु (अ) असत्य है। यहाँ पर ज्ञान की तीनों शर्तें पूरी हो रही हैं। अर्थात् कथन (स) सत्य है, स्मिथ उस पर विश्वास भी करता है और उसके पक्ष में प्रबल प्रमाण भी है, फिर भी क्या स्मिथ को इसका ज्ञान था। इस प्रकार गेटियर यह निष्कर्ष निगमित करता है कि ज्ञान की उपर्युक्त तीनों शर्तें पर्याप्त नहीं हैं। इनके अलावा एक चौथी शर्त भी होनी चाहिए।

कीथ लेहरर अपनी पुस्तक **"Knowledge Truth and Evidence** (Analysis, 1965) में जो कालान्तर में कीथ लेहरर और थॉमस डी

प्राक्सन के लेख (Knowledge: Undefited Justified True Belief) में प्रकाशित हुआ। इस लेख में लेहरर ज्ञान की चौथी शर्त प्रस्तुत करता है, जिसे वह साक्ष्य की अपराजेयता (Indefeasible) कहता है। अर्थात् जिस कथन के आधार पर कोई व्यक्ति किसी सत्य में विश्वास करता है, वह असत्य कथनों पर आधारित नहीं होनी चाहिए। (Knowledge, पृष्ठ २१ और २१५) लेकिन लेहरर की यह शर्त अमान्य हो गई क्योंकि साक्ष्य का अर्थ ही होता है कि वह अपने कथन को अकाट्य रूप से सत्य सिद्ध कर सके।

तत्पश्चात्, अल्विन आई गोल्डमैन अपने लेख **A Casal Theory of Knowledge** (The Journal of Philosophy, 1967) में **कारणात्मक सिद्धान्त** का प्रतिपादन करता है। उसके अनुसार साक्ष्य एवं विश्वास में कारणात्मक सम्बन्ध होना चाहिए। वह मानता है कि गेटियर का तर्क असफल हो जाता है क्योंकि **ब्राउन वार्सिलोना में रहता है तथा स्मिथ उस पर विश्वास करता है,** इसमें कोई कारणात्मक सम्बन्ध नहीं है।

हालाँकि गिलबर्ट हारमैन अपने लेख **Inference to the best of Explanation** (*Thought*, 1973) में कारणात्मक सिद्धान्त की कटु आलोचना करता है। उसके अनुसार माना कि किसी व्यक्ति उमर का किसी गली में हृदय घात होने से मृत्यु हो जाती है। माना एक घण्टे बाद कोई दुष्ट आत्मा आती है और उसे मृत पाकर उसका सिर काटकर नाली में डाल देती है। पुनश्च, एक घण्टे बाद एक आदमी आता है और वह देखता है कि इस व्यक्ति का सिर कटा हुआ है। अत: वह यह स्वीकार कर लेता है कि इस व्यक्ति की मृत्यु सिर कटने से हुई है, लेकिन क्या उसके सिर कटने और मृत्यु होने में कोई कारणात्मक सम्बन्ध है। स्पष्टत: यहाँ पर यह प्रतीत होता है कि उमर की मृत्यु सिर कटने से हुई है, जबकि सत्यता यह है कि उसका सिर इसलिए कटा क्योंकि उसकी मृत्यु हो गयी थी। इसी कारण हरमैन अनुमान को सर्वोत्तम व्याख्या का आधार मानता है, जिसमें कारणता भी एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है।

राबर्ट नोजिक (Philosophical Explanation, 1981) में **ज्ञान का सोपाधिक सिद्धान्त** (Conditional Theory of knowledge) प्रतिपादित करता है, जिसके अनुसार किसी भी साक्ष्य में हमें विश्वास तभी करना चाहिए, जब वह बदलती हुयी परिस्थितियों में भी सत्य हो। यदि वह कालान्तर में असत्य

हो जाय तब उसमें विश्वास नहीं करना चाहिए परन्तु इस युक्ति में दोष यह है कि किसी भी प्रतिज्ञप्ति में तब विश्वास करे जब वह बदलती हुई परिस्थितियों में भी सत्य हो। लेकिन बदलती हुई परिस्थितियाँ केवल आगत को इंगित नहीं करती, बल्कि अतीत एवं अनागत को भी अपने आप में समाहित करती हैं। इस प्रकार बदलती हुई परिस्थितियाँ एक शाश्वत घटनाक्रम को निर्दिष्ट करती हैं जिनका कभी अन्त नहीं होता। तब क्या इसके आधार पर हम किसी ऐसे साक्ष्य को सुनिश्चित कर पायेंगे, जो बदलती हुयी परिस्थितियों में भी सत्य हो। स्पष्टत: यह सिद्धान्त एक ऐसे बचकाना रोग के समान है, जो हमारे स्वाभाविक विश्वास को भी अनिश्चतता के घेरे में खड़ा कर देता है।

फ्रेड ड्रेस्के अपने लेख **Conclusive Reason** (Australitian Journal of Philosophy 1971) में **विनिश्चायक कारण** की वकालत करता है। इसके अनुसार हम तभी कहेंगे कि S, P को जानता है, जब P के लिए निश्चयात्मक कारण R हो तथा यदि P कोई तथ्य नहीं है तो S को P में विश्वास नहीं करना चाहिए। इस प्रकार ड्रेस्के के अनुसार गेटियर की समस्या उपयुक्त नहीं है क्योंकि स्मिथ का यह विश्वास कि जिसके जेब में १० सिक्के होंगे वह नौकरी पायेगा। यह निश्चायक कारण पर आधारित नहीं है।

यद्यपि जार्ज पापाज तथा मार्शल श्वेन अपनी पुस्तक **Essays on Knowledge and Justification,** 1978 में इस निश्चयात्मक कारण का भी खण्डन करते हैं। उनके अनुसार माना कि S किसी मेज की ओर देख रहा है, जिस पर एक कप रखा हुआ है। अत: S सत्यता एवं प्रमाणपूर्वक यह विश्वास करता है कि उसके समक्ष मेज पर एक कप है, लेकिन माना कि उस पर कोई कप नहीं है, बल्कि कप का एक होलोग्राम है, जो पास ही रखे हुए कप से प्रतिबिम्बित हो रहा है। इस प्रकार निश्चायक कारण मूलक तर्क भी असफल हो जाता है क्योंकि S, P में विश्वास करने के लिए कोई निश्चयात्मक कारण R नहीं है। यदि P कोई तथ्य नहीं है।

इसके अतिरिक्त भी कई अन्य दार्शनिक हैं, जो मानते हैं कि गेटियर का प्रति–उदाहरण भ्रान्त अवधारणा पर आधारित है। यथा, राबर्ट जी० मेयर्स और केनिथ एस्टर्न अपने लेख Knowledge without Paradox (The Journal of Philosophy, 1973) में गेटियर के प्रति–उदाहरणों के विरोध में प्रति–उदाहरण

प्रस्तुत करते हैं। वे मानते हैं कि गेटियर का प्रति–उदाहरण एक ऐसे सिद्धान्त की स्थापना करता है, जिसमें कोई व्यक्ति जिस प्रमाण P के आधार पर किसी कथन H में विश्वास करता है, वह प्रमाण P ही असत्य है। इस प्रकार गेटियर का प्रति उदाहरण असफल हो जाता है। उनके अनुसार कोई भी प्रमाण P किसी कथन H को तभी प्रामाणित कर सकता है, जब वह प्रमाण सत्य हो।

इसी प्रकार डी० एम० आर्मस्ट्रांग अपनी पुस्तक **Belief, Truth and Knowledge** में लिखते हैं कि गेटियर का प्रयास निरर्थक है क्योंकि वह 'ज्ञान एक प्रामाणिक सत्य विश्वास है' के लिए जो प्रति–उदाहरण प्रस्तुत करता है, उसमें वह दिखाता है कि किसी व्यक्ति का सत्य विश्वास, प्रामाणित विश्वासों पर आधारित होता है, जबकि वास्तविकता यह है कि उसका प्रामाणित विश्वास ही असत्य है। इस प्रकार इसका अप्रामाणित विश्वास सत्य विश्वास को प्रतिपादित करने में अत्यन्त ही निर्बल सिद्ध होता है। अतः आर्मस्ट्रांग स्वीकार करता है कि कोई कथन P किसी दूसरे कथन H को प्रामाणित तभी कर सकता है, यदि उसको प्रमाण के रूप में सत्य स्वीकार कर लिया जाय। स्पष्टतः यह मत मेयर्स और स्ट्रांग से पृथक है, जो स्वीकार करते हैं कि P को प्रमाण के रूप में तभी माना जाय जब वह तथ्यतः सत्य है।

इसी प्रकार रिचर्ड फेल्डमैन अपने लेख **An Alleged Defect in Gettier Counter Examples** (Australasian Journal of Philosophy, 1974) में गेटियर के प्रति उदाहरण को खण्डित करता है। फोल्डमैन के अनुसार गेटियर का प्रति उदाहरण असफल हो जाता है क्योंकि जिस प्रमाण को वह स्वीकारता है वह एक असत्य प्रतिज्ञप्ति पर आधारित है। फेल्डमैन के अनुसार माना मिस्टर नोगोट, स्मिथ से कहता है कि उसने फोर्ड कार खरीदा है और उससे सम्बन्धित वह प्रमाण भी प्रस्तुत करता है। माना कि मिस्टर नोगोट, स्मिथ के साथ हमेशा विश्वसनीय एवं ईमानदार रहे हैं। इन सभी प्रमाणों को सामूहिक रूप में M मान लिया जाय तो इन प्रमाणों के आधार पर स्मिथ विश्वास करता है मिस्टर नोगोट जो उसके दफ्तर में सहकर्मी है, उसने फोर्ड कार खरीदा है (R)। इन दोनों आधारों पर स्मिथ इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उनके दफ्तर के किसी व्यक्ति ने कार खरीदा है (H)। फोल्डमैन के अनुसार इस कथन में H को प्रामाणित मानने का आधार R है अर्थात् मिस्टर नोगोट ने फोर्ड कार खरीदा है। जबकि R असत्य

है। स्पष्टत: यह उदाहरण विवादों के घेरे में फँस जाता है। फोल्डमैन के अनुसार यदि R असत्य है तो यह कुछ भी प्रतिपादित नहीं कर सकता। इसीलिए फोल्डमैन स्वीकार करता है कि कोई भी कथन किसी व्यक्ति के लिए प्रामाणित तभी हो सकता है, जब वह प्रमाण सत्य हो या उसे सत्य रूप में जाना जाय।

स्पष्टत: गेटियर के प्रति–उदाहरण में कई अन्य विसगतियाँ भी हैं। यथा, १. उपर्युक्त दोनों उदाहरण केवल आकस्मिकता पर आधारित हैं क्योंकि इनका सत्य होना केवल आकस्मिक है। २. इनमें आधारवाक्य एवं निष्कर्ष में कोई तार्किक सुसंगतता नहीं है। जैसे जोन्स के पास फोर्ड कार है, या ब्राउन बार्सिलोना में रहता है। इस आधार पर तो किसी भी प्रतिज्ञप्ति को सत्य सिद्ध किया जा सकता है, क्योंकि वैकल्पिक न्याय वाक्य में यदि केवल एक घटक भी सत्य है और उसके असंख्य घटकों के असत्य होने पर भी सम्पूर्ण घटकों की सत्यता मूल्य सत्य ही होगी।

लेकिन इतना तो सत्य है कि प्रामाणित सत्य विश्वास, ज्ञान के लिए अनिवार्य सत्य तो है परन्तु पर्याप्त नहीं है क्योंकि अभी हम जिसे प्रामाणित सत्य, विश्वास के रूप में स्वीकार करते हैं वह कल अप्रामाणिक हो जाता है। इन परिस्थितियों में यह गहन चिन्तन का विषय हो जाता है कि वह चौथी शर्त क्या होगी?

यदि इस समस्या पर सूक्ष्मतापूर्वक विचार किया जाय तो पाते हैं कि इस समस्या की जड़ में **सत्य** एवं **प्रमाण** की अवधारणा है। यहाँ हम सत्य को शाश्वत सत्य के रूप में स्वीकार कर रहे हैं, परन्तु क्या कोई सत्य शाश्वत होता है। यदि हम सत्य को शाश्वत मान लें तब यह गतिहीनता की अवस्था होगी और गतिहीनता अपने आप में अन्त को सूचित करती है। वास्तविकता यह है कि सत्यता एक गत्यात्मक अवधारणा है जो सामाजिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों अर्थात् संदर्भों के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। आज जो सत्य है, वह कल असत्य हो जाता है। एक दृष्टिकोण से जो सत्य है, वह दूसरे दृष्टिकोण से असत्य। एक व्यक्ति के लिए जो सत्य है, वह दूसरे व्यक्ति के लिए असत्य। इसी प्रकार एक सामाजिक सांस्कृतिक परिवेश में जो मान्य है, वह दूसरे सामाजिक सांस्कृतिक परिवेश में अमान्य हो जाता है। इस प्रकार सत्यता कोई शाश्वत अवधारणा न होकर एक गत्यात्मक अवधारणा है, जो परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होती

रहती है।

इसी प्रकार ज्ञान के उपर्युक्त तीनों शर्तों में एक महत्वपूर्ण अवधारणा **प्रमाण** भी है, परन्तु यह अपने आप में एक संदिग्ध अवधारणा है, क्योंकि १. प्रमाण का कितना अंश प्रमाणिक माना जाय। २. कभी–कभी प्रमाण सत्यता की अपेक्षा असत्यता को ही प्रामाणित करता है, तब सत्य प्रमाण को असत्य प्रमाण से कैसे पृथक किया जाय। ३. परिस्थितियों के अनुसार प्रमाण भी परिवर्तित होता रहता है, तब किस प्रमाण को अन्तिम प्रमाण के रूप में स्वीकार किया जाय।

इन पक्षों पर विचार करने के उपर्यन्त यह कहा जा सकता है कि

1. ज्ञान एक सामाजिक तथ्यों की सापेक्ष अवधारणा है, जो सामाजिक तथ्यों के परिवर्तन के साथ–साथ परिवर्तित होती रहती है।
2. ज्ञान कोई अन्तिम साध्य नहीं, बल्कि एक शाश्वत प्रक्रिया है, जिसकी कोई अन्तिम सीमा नहीं है।
3. ज्ञान सदैव ही सहमति जन्य (Consensual) होता है, जो समाज की विश्वास परम्परा से उत्पन्न होता है। इस प्रकार **सामाजिक ज्ञान एक प्रकार का सामाजिक विश्वास ही है।**
4. किसी भी ज्ञान की सत्यता एवं प्रामाणिकता उस समाज की सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों के संदर्भ में होती है। अर्थात् सत्यता सामाजिक मूल्यों के अनुरूप परिवर्तित होती रहती है। तब सत्यता सार्वभौमिक कैसे हो सकती है? हमारे ज्ञान की उत्पत्ति का आधार भी समाज ही है। स्पष्टत: यदि ज्ञान की उत्पत्ति का आधार समाज है, तब हम वही जानेंगे, जो हमें समाज सिखायेगा। इस प्रकार सत्यता क्या है, हम नहीं जान सकते। माना कि A किसी प्रमाण J के आधार पर P को स्वीकारता है और B, A के आधार पर P को स्वीकार करता है, तब क्या वास्तव में B, P को जानता है।
5. आज के बदलते विश्व के परिदृश्य में संचार माध्यम का महत्व बढ़ा है, ऐसी परिस्थिति में हम वही जानते हैं, जो संचार माध्यम हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। इसका तात्पर्य यह है कि सत्यता क्या है, हम नहीं जान सकते।
6. Forman (1971); Shapin (1975); तथा Manckenzie (1981)

दिखाते हैं कि किसी भी ज्ञान में कोई वस्तुनिष्ठ निश्चितता नहीं होती है। यहाँ तक कि वैज्ञानिक ज्ञान भी सामाजिक कारकों से यथा, वर्गहित, सामाजिक एवं राजनैतिक अवधारणाओं से प्रभावित होता रहता है।

7. Thomas Kuhn, The Structure of scientific Revolutions (1962) में दिखाते हैं कि कोई भी वस्तुनिष्ठ मापदण्ड किसी भी समाज की समस्याओं का समाधान नहीं कर सकता। उसका समाधान उस समाज की सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों के अनुसार ही सम्भव है। तब सत्यता को वस्तुनिष्ठ अवधारणा के रूप में कैसे स्वीकार किया जा सकता है।

8. इसी प्रकार ज्ञान का प्रारम्भिक आधार समुदाय होता है और व्यक्तिगत ज्ञान उसी सामुदायिक ज्ञान पर निर्भर होता है। इसीलिए वास्तव में यथार्थ (Really real) क्या है, हम नहीं जान सकते। इसका समर्थन Lynn Hankinson Nelson, "Who Knows: From Quine to Feminist Empericism (1990); Helen Longino, "Science as a social Knowledge: Value and Objectivity in Scientific Inquiry (1990) ने भी किया हैं।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि ज्ञान एक विश्वास है, जो प्रामाणिक एवं अनन्तिम सत्य है।

**

कथ्यात्मक और सम्पादनात्मक वचन

आस्टिन, दर्शन के इतिहास में पहला दार्शनिक था जिसने सर्वप्रथम कथ्यात्मक तथा सम्पादनात्मक वचनों के बीच भेद किया। तदुपरान्त, उसे इस भेद में कुछ विसंगतियाँ दिखायी दी। अतः इस भेद का परित्याग कर उसने एक अत्यन्त ही नवीन सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जिसे वाक्–क्रिया का सिद्धान्त (Speech act theory) के नाम से जानते हैं। इसके अनुसार प्रत्येक वचन कुछ न कुछ कार्य सम्पादित करता है।

प्रायः अरस्तू के दर्शन से ही वाक्य (Sentence) तथा तर्कवाक्य (Proposition) के बीच भेद किया जाता रहा है। हम जो कुछ भी कहते हैं वह वाक्य तो होता है, लेकिन प्रत्येक वाक्य, तर्कवाक्य नहीं होता। केवल वही वाक्य तर्कवाक्य होता है जो सत्य या असत्य के रूप में हो। इसीलिए, प्रश्नवाचक, आज्ञाबोधक, विस्मयादिबोधक आदि वाक्य, तर्कवाक्य नहीं होते। समकालीन दार्शनिक तार्किक प्रत्यक्षवादियों ने स्वीकार किया है कि प्रत्येक तर्कवाक्य अनिवार्यतः किसी न किसी तथ्य का वर्णन करता है। जो कथन किसी तथ्य का वर्णन नहीं करता वह छद्म कथन है और इस प्रकार अंततः वह निरर्थक है।

कालांतर में साधारण भाषा दार्शनिकों ने तार्किक प्रत्यक्षवादी दार्शनिकों के मतों के प्रति असहमति व्यक्त की। इनके अनुसार भाषा का कार्य केवल तथ्यों का वर्णन करना नहीं है बल्कि इसके अनेक अन्य कार्य भी हैं। उदाहरण के लिए, उत्तरवर्ती विटगेन्स्टाइन अपनी पुस्तक 'फिलासिफकल इन्वेस्टीगेशन' में कहता है कि भाषा के अनेक कार्य है जैसे, प्रश्न करना, उत्तर देना, संशय व्यक्त करना, धन्यवाद देना, प्रार्थना करना, अनुमान करना, मजाक करना, आदि–आदि।

इस प्रकार, आस्टिन स्वीकार करता है कि यह कहना कि भाषा का कार्य केवल तथ्यों का वर्णन करना है, दोषप्रद है। आस्टिन इसे वर्णनात्मक (Descrip-

tive Fallacy) दोष कहता है। इसलिए वह कथनों को दो भागों में विभक्त करता है – कथ्यात्मक वचन तथा सम्पादनात्मक वचन। कुछ वचन ऐसे होते हैं जो किसी न किसी तथ्य का वर्णन करते हैं, आस्टिन इन्हें कथ्यात्मक वचन कहता है। दूसरे, कथ्यात्मक वचन तथ्यों का वर्णन करते हैं। इसलिए सत्य या असत्य होते हैं जबकि, सम्पादनात्मक वचनों के द्वारा कुछ कार्य सम्पादित होता है, इसलिए वे सत्य या असत्य न होकर सफल (Happy) या असफल (Unhappy) होते हैं। वाल्टर कर्फ के अनुसार, जिस प्रकार 'राइल का मशीन में स्थित प्रेत का सिद्धान्त' (The Dogma of the Ghost in the Machine) था और विस्टेगेंस्टाइन का भाषा–खेल का सिद्धांत (Language Game) था। उसी प्रकार आस्टिन के सम्पादनात्मक सिद्धान्त का अत्यन्त ही विशिष्ट स्थान है।

प्रश्न उठता है कि आस्टिन सम्पादनात्मक शब्द का ही प्रयोग क्यों करता है? आस्टिन के अनुसार, जब उसने इस शब्द का प्रयोग किया, उसके समक्ष कुछ और भी विकल्प थे, जैसे संक्रियात्मक (Operative)। लेकिन संक्रियात्मक शब्द का प्रयोग सामान्य तौर पर वकीलों द्वारा किया जाता रहा है। दूसरे, इसके लिए किसी न किसी साक्ष्य को प्रस्तुत करना अनिवार्य है। इसी कारण आस्टिन संक्रियात्मक शब्द के स्थान पर सम्पादनात्मक शब्द का प्रयोग करता है। एतदर्थ वह कुछ व्यावहारिक उदाहरण प्रस्तुत करता है :

- मैं अमुक महिला को अपनी वैवाहिक पत्नी के रूप में स्वीकार करता हूँ।
- मैं अपना मकान अपने भाई के नाम वसीयत करता हूँ।
- मैं इस जहाज का नाम रानी एलिजाबेथ रखता हूँ।
- मैं १०० रू० की बाजी लगाता हूँ कि कल वर्षा होगी।

उपर्युक्त सभी उदाहरण किसी तथ्य का वर्णन नहीं करते, बल्कि कुछ न कुछ कार्य सम्पादित कर रहे हैं।

यहाँ पर एक महत्वपूर्ण समस्या उठती है कि यदि अनायास ही कोई पुरुष कहता है कि मैं अमुक महिला को अपनी वैवाहिक पत्नी के रूप में स्वीकार करता हूँ तो क्या विवाह का कार्य सम्पादित हो जाता है, स्पष्टत: ऐसा होना असंभव है। इसीलिए आस्टिन सफल सम्पादनात्मक वचनों (Happy Performative Utterance) के लिए कुछ मापदण्ड निर्धारित करता है।

- यह प्रक्रिया एक मान्य परम्परा के अन्तर्गत एक निश्चित व्यक्ति द्वारा, निश्चित शब्दों में व्यक्त होनी चाहिए।
- वह विशिष्ट घटनाक्रम तथा निश्चित व्यक्ति, एक मान्य परम्परा के अनुरूप हो।
- उस विशिष्ट घटनाक्रम में जितने भी भागीदार है, उनके द्वारा यह कार्य उनके द्वारा हू–ब–हू सम्पादित होना चाहिए।
- तथा पूर्ण रूपेण भी।

उपरोक्त सभी कार्य केवल मौखिक रूप में नहीं बल्कि शुद्ध नीयत के साथ ही सम्पादित होना चाहिए।

आस्टिन के अनुसार यदि हम उपर्युक्त किसी भी नियम का उल्लंघन करते हैं, तब हमारा वचन असफल (Unhappy) हो जाता है। आस्टिन इस असफलता को निष्फल (Misfire) तथा दुरुपयोग (Abuse) का नाम देता है। उसके अनुसार यदि हम उपर्युक्त पाँचों नियमों में से प्रथम चार का उल्लंघन करते हैं तो आस्टिन इसे निष्फल का नाम देता है जबकि पाँचवें नियम का उल्लंघन करते हैं तो आस्टिन इसे दुरुपयोग कहता है। निष्फल तथा दुरुपयोग के बीच भेद यह है कि निष्फल में जहाँ वस्तुनिष्ठता (Objectivity) होती है, क्योंकि ये ऐसे नियम है जिसका निरीक्षण किया जा सकता है। जबकि, दुरुपयोग का सम्बन्ध आत्मनिष्ठता (Subjectivity) अर्थात् नीयत या आशय से होता है। यदि नीयत शुद्ध नहीं है तो यहाँ पर वचन का दुरूपयोग होता है। उदाहरण के लिए, यदि कोई छात्र घर बैठे ही कहता है कि मैंने परीक्षा दे दी तो उसका यह वचन निष्फल होता है क्योंकि परीक्षा का नियत स्थल परीक्षा स्थल होता है। इसी प्रकार कोई कुत्ते से कहता है कि मैं आपको अपनी वैवाहिक पत्नी के रूप में स्वीकार करता हूँ, तब यह कार्य निष्फल होता है क्योंकि दोनों के बीच वैवाहिक सम्बन्ध असम्भव है। आस्टिन के अनुसार उपयुक्त घटनाक्रम के साथ–साथ उपयुक्त प्रक्रिया का होना आवश्यक है।

दूसरी तरफ, माना उपयुक्त घटनाक्रम में, उपयुक्त शब्दों का प्रयोग तो किया जाता है, परन्तु नीयत या आशय शुद्ध नहीं है तो आस्टिन इस असफलता को दुरुपयोग कहता है। जैसे, किसी व्यक्ति को किसी कार्य में सफल होने पर हम उसे बधाई देते हैं परन्तु हमारी नीयत शुद्ध नहीं है। अर्थात् अंदर से हम उसकी सफलता पर गाली दे रहे हैं तो बधाई देने का कार्य सफल नहीं हुआ, आस्टिन इसे

दुरुपयोग कहता है।

प्रश्न उठता है कि सम्पादनात्मक वचनों की पहचान किस प्रकार की जा सकेगी? इसके लिए आस्टिन मुख्यत: दो मापदण्ड प्रस्तुत करता है। प्रथम, व्याकरणिक मापदण्ड (Grammetical Criterion) जिसके अनुसार वचन प्रथम पुरुष, व्यक्तिवाचक, वर्तमानकालिक, निर्देशात्मक तथा कर्तृवाच्य में होना चाहिए। जैसे, 'मैं वादा करता हूँ', 'मैं वचन देता हूँ', 'मैं स्वीकार करता हूँ', 'मैं कहता हूँ' आदि—आदि। लेकिन जब कोई व्यक्ति यह कहता है कि 'मैंने वादा किया' या ''वह वादा करता है'' तो निश्चित रूप से वह वादा नहीं करता बल्कि वादा की सूचना दे रहा है। दूसरा, शब्दाश्रित मापदण्ड यथा, एतद् (Hereby)। एतद् द्वारा सूचित किया जाता है कि अपराधी दण्डित किये जायेंगे।

कालांतर में, आस्टिन इसमें कुछ असंगतियाँ देखता है। अत: उपर्युक्त मापदण्ड का परित्याग कर देता है। अब वह कहता है कि सम्पादनात्मक वचनों के लिए प्रथम पुरुष, वर्तमान कालिक तथा कर्तृवाच्य होना आवश्यक नहीं है। यह द्वितीय तथा तृतीय पुरुष और कर्म वाच्य में भी हो सकता है। जैसे, 'यात्रियों को सूचित किया जाता है कि पुल के द्वारा ही एक प्लेटफार्म से दूसरे प्लेटफार्म पर जायें'। इसी प्रकार, सरकारी पत्र में लिखा होता है कि ''इसके द्वारा आपको अधिकृत किया जाता है कि ....'' आदि।

पुनश्च, आस्टिन सम्पादनात्मक वचनों को दो भागों में विभक्त करता है। प्रथम, स्पष्टत: सम्पादनात्मक वचन (Explicit Performative Utterance) तथा दूसरा अस्पष्टत: सम्पादनात्मक वचन (Implicit Performative Utterance)। स्पष्टत: सम्पादनात्मक वचनों में मूलत: शक्ति (Force of Utterances) पर बल दिया जाता है। इसके अन्तर्गत स्वर संक्रम (Cadence), चेष्टा (Gesture), स्वराघात (Tone of Voice) घटनाक्रम तथा संदर्भ शामिल होता है। दूसरी तरफ, अस्पष्टत: सम्पादनात्मक वचनों में, वचनों की शक्ति पर नहीं बल्कि अर्थ (Meaning) पर बल दिया जाता है। इसी कारण जहाँ स्पष्टत: सम्पादनात्मक वचनों में स्पष्टता होती है वहीं अस्पष्टत: सम्पादनात्मक वचन, द्वयर्थकता, अनेकार्थकता तथा अस्पष्टता होती है। दूसरे, स्पष्टत: सम्पादनात्मक वचनों में अर्थ के स्थान पर शक्ति पर बल दिया जाता है। अत: यह केवल शाब्दिक होने के स्थान पर अशाब्दिक (Non - verbal) भी होता है।

बाद में, आस्टिन स्वयं ही इस सिद्धान्त में कुछ विसंगतियाँ देखता है। अत: कथ्यात्मक तथा सम्पादनत्मक वचनों का भेद समाप्त कर वाक्–कार्य सिद्धान्त (Speech-Act Theory) का प्रतिपादन करता है। जिसके अनुसार, प्रत्येक वचन कुछ न कुछ कार्य सम्पादित करता है। अर्थात् न तो कोई वचन ऐसा है जो केवल सत्य या असत्य होता है, न ही कोई वचन ऐसा है जो केवल कुछ कार्य सम्पादित करता है। प्रत्येक वचन कथ्यात्मक होने के साथ–साथ सम्पादनात्मक भी होता है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक वचन सत्य असत्य होने के साथ–साथ सम्पादनात्मक भी होता है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक वचन सत्य व असत्य होने के साथ–साथ सफल और असफल भी होता है। उदाहरण के लिए, आस्टिन कुछ वचनों पर विचार करता है। प्रथम, जॉन के सभी पुत्र गंजे हैं, यद्यपि जॉन को कोई पुत्र नहीं है। आस्टिन के अनुसार यह वचन चाहे जितना ही असंगत क्यों न लगे, परन्तु आत्म–विरोधी नहीं है। उसी प्रकार, जैसे कोई व्यक्ति कहता है कि मैं तुम्हें अपनी जंमीन बेचूंगा, जबकि उसके पास कोई जमीन न हो। दूसरा, बिल्ली चटाई पर बैठी है, परन्तु मुझे इसमें विश्वास नहीं है। आस्टिन के अनुसार यह वचन भी आत्म–विरोधी नहीं है। जैसे, कोई व्यक्ति कहता है कि मैं आप से १० बजे इलाहाबाद विश्वविद्यालय में मिलूँगा, यद्यपि उसे मिलने की कोई इच्छा न हो। आस्टिन के अनुसार यहाँ पर व्यक्ति की अनिष्ठा (Insincerity) झलकती है। इन उदाहरणों के माध्यम से आस्टिन यह दिखाता है कि कथ्यात्मक वचन भी सम्पादनात्मक वचन की तरह सक्षम और असक्षम होते हैं। इसी प्रकार कोई व्यक्ति कहता है कि मैं अमुक महिला को अपनी वैवाहिक पत्नी के रूप में स्वीकार करता हूँ तो यह वचन सफल और असफल ही नहीं होता बल्कि कथ्यात्मक भी होता है, क्योंकि यह किसी न किसी तथ्य का भी वर्णन करता है। जैसे, मैं पहले से अविवाहित हूँ या यदि विवाहित भी हूँ तो पत्नी से तलाक हो चुका है या वह विक्षिप्त या बांझ है, आदि–आदि। इस कारण यह सत्य व असत्य भी हो सकता है। इस प्रकार आस्टिन कथ्यात्मक तथा सम्पादनात्मक वचनों के भेद को समाप्त कर देता है।

परन्तु कुछ दार्शनिकों ने आस्टिन के मतों के प्रति असहमति व्यक्त करते हुए कथ्यात्मक तथा सम्पादनात्मक वचनों के बीच भेद को उचित ठहराने का प्रयास किया। जैसे, मैक्स ब्लैक अपने लेख ''आस्टिन ऑन परफर्मेटिव'' में सम्पादनात्मक

वचनों की दो परिभाषा देकर, इस भेद का समर्थन करता है। प्रथम, कोई भी वचन सम्पादनात्मक (अ) तभी होगा जब किसी वक्ता द्वारा, एक विशिष्ट घटनाक्रम में, कुछ कहने के बजाय जो कि सत्य व असत्य होता है, कुछ कार्य सम्पादित करने के अर्थ में प्रयुक्त हो। जो वचन सम्पादनात्मक ऐसा नहीं करता है, वह कथ्यात्मक होगा। दूसरी परिभाषा के अनुसार, कोई भी वचन सम्पादनात्मक (ब) तभी होगा जब उसका आकार ''मैं (अमुक और अमुक) ..... हूँ'' के रूप में हो। इसमें मैक्स ब्लैक दूसरे की अपेक्षा पहले को स्वीकार करता है। यथा, जब क्रिकेट मैदान में अम्पायर कहता है कि 'आउट!' तो इसका आकार 'मैं अ (अमुक और अमुक) . .... हूँ' के रूप में नहीं है, फिर भी यह कथन सम्पादनात्मक है।

परन्तु, एल०डब्लू०फर्गुसन अपने लेख 'इन परसूट ऑफ परफर्मेटिव' में ब्लैक के मतों की कटु आलोचना की है। इसके अनुसार प्रत्येक वचन कथ्यात्मक होने के साथ–साथ सम्पादनात्मक भी होते हैं। इसलिए फर्गुसन कथ्यात्मक तथा सम्पादनात्मक वचनों के भेद के स्थान पर वचनों की शक्ति पर अत्यधिक बल देता है। उदाहरण के लिए, 'मैदान में एक बैल है।' फर्गुसन के अनुसार इस वचन को कई रूपों में व्यक्त किया जा सकता है।

- माना कि आप मैदान की ओर जा रहे हैं। वहाँ एक खतरनाक बैल है तो यह कहकर कि 'मैदान में एक बैल है', आपको चेतावनी दे रहा हूँ।
- माना आपका बैल, मेरे खेत में टमाटर के पौधों को चर रहा है तो यह कह कर कि मैदान में एक बैल है, मैं अपना क्रोध व्यक्त कर रहा हूँ।
- यदि आपका बैल खो गया है तो यह कहकर कि मैदान में एक बैल है, मैं आपको सूचना दे रहा हूँ।
- माना कि मैं मैदान में एक अनूठा बैल देखता हूँ तो यह कहकर कि मैदान में एक बैल है मैं आश्चर्य व्यक्त कर रहा हूँ।

इस प्रकार फर्गुसन यह सिद्ध करता है कि कथ्यात्मक तथा सम्पादनात्मक वचनों के बीच भेद उपयुक्त नहीं है।

इसी प्रकार एक अन्य महत्वपूर्ण दार्शनिक आर०एम० चिजहोम ने अपने लेख 'आस्टिनस फिलासफिकल पेपरस' में आस्टिन के मतों के प्रति असंतोष व्यक्त किया है। उसके अनुसार आस्टिन का यह मत है कि कुछ वचन केवल सम्पादनात्मक होते हैं, कथ्यात्मक नहीं, दोषप्रद है। चिजहोम इसे सम्पादनात्मक

दोष (Performative Fallacy) कहता है। जैसे, 'मैं जानता हूँ'। जहाँ आस्टिन इसे केवल सम्पादनात्मक मानते हैं, वहीं चिजहोम सम्पादनात्मक के साथ–साथ कथ्यात्मक भी मानता है। इसके अनुसार 'मैं जानता हूँ' जहाँ एक तरफ मनोवैज्ञानिक अवस्था का वर्णन करता है वहीं दूसरी तरफ कुछ कार्य भी सम्पादित करता है अर्थात् "मैं वादा करता हूँ।"

परन्तु, चिजहोम सम्पादनात्मक वचन के दो भेद करता है – कठोर सम्पादनात्मक वचन (Performative in strict sense) तथा विस्तारित सम्पादनात्मक वचन (Performative in extended sense)। इसके अनुसार कोई भी वचन कठोर सम्पादनात्मक वचन तभी होगा जब उसका प्रयोग वक्ता द्वारा किसी ऐसे विशिष्ट कार्य के लिए किया जाता है जिसे अन्य प्रकार से व्यक्त करना सम्भव नहीं हो। जैसे – 'मैं निवेदन करता हूँ', 'मैं वादा करता हूँ'। दूसरी तरफ, विस्तारित सम्पादनात्मक वचन ऐसे हैं, जिसे अन्य प्रकार से भी व्यक्त किया जा सकता है। जैसे, 'मैं चाहता हूँ' या 'मैं जानता हूँ'। चिजहोम के अनुसार 'मैं चाहता हूँ' को 'मैं निवेदन करता हूँ' के रूप में व्यक्त किया जा सकता है। इसी प्रकार, 'मैं जानता हूँ' को 'मैं वादा करता हूँ' के रूप में व्यक्त किया जा सकता है।

परन्तु फर्गुसन, चिजहोम के विचारों के प्रति भी प्रतिवाद करता है इसके अनुसार चिजहोम द्वारा समर्थित कठोर सम्पादनात्मक वचन तथा विस्तारित सम्पादनात्मक वचन, आस्टिन के स्पष्टत: सम्पादनात्मक वचन तथा अस्पष्टत: सम्पादनात्मक वचन से पृथक नहीं है। दूसरे, बहुत से वचन ऐसे हैं जिसे न तो कठोर अर्थ में और न हीं विस्तारित अर्थ में सम्पादनात्मक वचन कहा जा सकता है। जैसे 'I will' फर्गुसन के अनुसार 'I will' का प्रयोग वक्ता द्वारा विशिष्ट अवसर (विवाह) पर प्रयुक्त होता है। लेकिन विवाह तो विवाह है यदि हम इसे अन्य प्रकार 'I will'के द्वारा व्यक्त करते हैं तो इसे कठोर अर्थ में सम्पादनात्मक वचन नहीं कहा जा सकता। दूसरी तरफ, इसे विस्तारित अर्थ में भी सम्पादनात्मक नहीं कह सकते क्योंकि आंग्ल भाषी लोगों के द्वारा 'I will' के अतिरिक्त कोई दूसरा शब्द नहीं है, जिसे वैवाहिक अवसर पर प्रयुक्त किया जा सके। इस प्रकार फर्गुसन, चिजहोम के विचारों के प्रति असहमति व्यक्त करता है। अंतत: कथ्यात्मक तथा सम्पादनात्मक वचनों के भेद को अस्वीकार कर आस्टिन के वाक्–क्रिया सिद्धान्त की वकालत करता है।

परन्तु यदि उपर्युक्त सभी मतों पर सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि कथ्यात्मक तथा सम्पादनात्मक वचनों का भेद अनुचित नहीं है। बहुत से वचन ऐसे हैं जो विशिष्ट संदर्भों में कथ्यात्मक की तरह प्रयुक्त होते हैं अर्थात् वे किसी न किसी प्रकार के तथ्यों का वर्णन करते हैं। दूसरी ओर, बहुत से वचन ऐसे हैं जो किसी तथ्य का वर्णन नहीं करते बल्कि कुछ न कुछ कार्य सम्पादित करते हैं। इसके लिए हमें दो महत्वपूर्ण बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। प्रथम, वक्ता का अभिप्राय (Intention of Speaker) तथा दूसरा संदर्भ (Circumstances)। सामान्यत: हम वक्ता के वचनों पर ध्यान तो देते हैं परन्तु उसके अभिप्राय की उपेक्षा कर देते हैं। इस प्रकार केवल वक्ता द्वारा प्रयुक्त वचनों के आधार पर हम निर्णय कर लेते हैं। परन्तु यहाँ हम वक्ता के अभिप्राय (जो अत्यन्त ही महत्वपूर्ण पक्ष है) की उपेक्षा कर देते हैं। स्पष्टत: वक्ता द्वारा प्रयुक्त प्रत्येक वचन सदैव कुछ करने का निर्देश नहीं करता बल्कि कभी–कभी कथ्यात्मक या सूचनात्मक भी होता है। दूसरा, संदर्भ, अधिकांश स्थितियों में संदर्भ ही वक्ता के अभिप्राय को स्पष्ट कर देता है। इन दोनों के आधार पर कथ्यात्मक तथा सम्पादनात्मक वचनों का भेद किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, जब पिता पुत्र से कहता है कि देश का प्रधानमंत्री अमुक व्यक्ति है। तो हमें वक्ता (पिता) के अभिप्राय को समझने का प्रयास करना चाहिए कि पिता पुत्र को केवल सूचना देने के लिए इस वचन का प्रयोग करता है या पुत्र को अभिप्रेरित करने के लिए। दोनों अर्थ पृथक–पृथक रूप में सत्य है, इसके लिए हमें वक्ता के अभिप्राय को पहचानना होगा। इस रूप में इसे कथ्यात्मक तथा सम्पादनात्मक वचनों में विभक्त किया जा सकता है।

इसी प्रकार हम फर्गुसन के उदाहरण पर विचार करें कि मैंदान में बैल है। यद्यपि यह कह कर वक्ता चेतावनी दे सकता है, या अपना क्रोध व्यक्त कर सकता है या यह सूचनात्मक या आश्चर्य के रूप में भी हो सकता है। परन्तु ऐसा असंभव है कि यह एक साथ सभी पक्षों को व्यक्त करे। यदि ऐसा संभव है तो अर्थ की अनिश्चितता का प्रश्न उठेगा। इस स्थिति में किसी एक निर्णय पर पहुँचना असंभव हो जायेगा। अत: हमें यहाँ वक्ता के अभिप्राय तथा संदर्भ इन दोनों को पहचानने का प्रयास करना चाहिए। तभी यह पूर्णतया स्पष्ट हो पायेगा कि वक्ता इसे केवल वर्णनात्मक अर्थ में प्रयुक्त कर रहा है या आदेशात्मक अर्थ में। इस प्रकार

एक ही वचन कथ्यात्मक तथा सम्पादनात्मक दोनों हो सकता है परन्तु एक ही संदर्भ में तथा एक समय में नहीं। इसलिए यह कहना कि प्रत्येक वचन अवश्य ही किसी न किसी कार्य को संपादित करता है, असंगत है। उपर्युक्त विशिष्टताओं के परिपेक्ष्य में सम्पदानात्मक तथा कथ्यात्मक वचनों का भेद उचित प्रतीत होता है।

संदर्भ ग्रन्थ

१. आस्टिन जे०एल० (१९८०) ''हाउ टू डू थिंग्स विथ वर्ड्स'', सम्पादित जे०ओ० आर्मसन तथा एम० सविसा, पृष्ठ ३

२. कल्फे, वाटर (१९६९) ''क्रिटिकल रिव्यू ऑफ हाउ टू डू थिंग्स विथ वर्ड्स'' सम्पादित के०टी०फन, 'सिम्पोजियम आन जे०एम० आस्टिन'

३. आस्टिन, जे०एल० (१९७९) ''फिलासाफिकल पेपर्स' सम्पादित वार्नाक और आर्मसन पृष्ठ २३५

४. आस्टिन, जे०एल० (१९८०) ''हाउ टू डू थिंग्स विथ वर्ड्स'' आर्मसन और सविसा, पृष्ठ १४

५. उपर्युक्त, पृष्ठ १८

६. उपर्युक्त, पृष्ठ १८

७. उपर्युक्त, पृष्ठ ५६

८. उपर्युक्त, पृष्ठ ५७

९. ब्लैक, मैक्स (१९६९) ''आस्टिन आन परफारमेटिव'' सम्पादित के०टी० फन ''सिम्पोजियम आन जे०एल० आस्टिन, पृष्ठ ४०३—०५

१०. फर्गुसन, एल०डब्ल्यू० (१९६९) ''इन परसूट आफ परफर्मेटिवस'' सम्पादित ''सिम्पोजियम ऑन जे०एल० आस्टिन'', पृष्ठ ४१८

११. विजहोम, आर०एम० (१९६९) ''आस्टिन फिलास्फिकल पेपर्स'' सम्पादित के०टी० फन सिम्पोजियम ऑन जे०एल० आस्टिन' पृष्ठ १११

१२. उपर्युक्त, पृष्ठ ११०

१३. फर्गुसन, एल०डब्ल्यू० (१९६९) ''इन परसूट आफ परफार्मेटिव'' सम्पादित के०टी० फन सिम्पोजियम ''ऑन जे०एल० आस्टिन'', पृष्ठ ४१५

**

भाषा : अर्थ एवं अभिप्राय

भाषा एवं सम्प्रत्यय के बीच अत्यन्त ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। भाषा हमारे विचारों को अभिव्यक्त करती है पर विचार–शून्य भाषा निरर्थक होती है। विचार और भाषा को अवियोज्य मानते हुए आचार्य दिग्नाग लिखते हैं कि 'हमारे शब्दों का कारण सम्प्रत्यय हैं एवं सम्प्रत्ययों का कारण शब्द है' (विकल्पयोनय: शब्दा: विकल्पा: शब्दयोनय:)।[1] इसी प्रकार आचार्य भर्तृहरि अपनी पुस्तक ''वाक्यपदीय'' में लिखते हैं कि 'समस्त मानव ज्ञान सम्प्रत्यात्मक, शब्दों में अनुस्यूत एवं भाषा के द्वारा प्रकाशित होता है।'

'न सोऽस्ति प्रत्ययोलोके य: शब्दानुगमात् ऋते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।।'[2]

आरम्भ में जे०एल० आस्टिन[3] सम्पूर्ण सार्थक कथनों को मूलत: दो वर्गों में विभक्त करता है,

- कथ्यात्मक वचन (Constative Utterance) एवं
- सम्पादनात्मक वचन (Performative Utterance)।

कथ्यात्मक वचन वे हैं, जो केवल तथ्यों का वर्णन करते हैं। इसीलिए ये सत्य या असत्य होते हैं। यदि कथन के अनुरूप तथ्य हैं तो कथन सत्य होगा, अन्यथा असत्य। यथा, दीवाल सफेद है, घास हरी है, देश के प्रधानमंत्री डॉ० मनमोहन सिंह हैं, प्रभृति। दूसरी तरफ, सम्पादनात्मक वचन वे हैं जो किसी तथ्य का वर्णन नहीं करते बल्कि कुछ करने या न करने का निर्देश करते हैं। इसीलिए ये सत्य या असत्य होने की अपेक्षा सफल (Happy) अथवा असफल (Unhappy) होते हैं[4] यथा, 'मैं आपको अपनी वैवाहिक पत्नी के रूप में स्वीकार करता हूँ', 'मैं इस सेमिनार का उद्‌घाटन करता हूँ', 'मैं अपना मकान अपनी बहन

के नाम वसीयत करता हूँ', प्रभृति। स्पष्टतः इन कथनों के माध्यम से वक्ता किसी तथ्य का वर्णन नहीं कर रहा है बल्कि इसके द्वारा किसी कार्य को सम्पादित करने की बात कर रहा है।

इस प्रकार आरम्भ में आस्टिन कथ्यात्मक तथा सम्पादनात्मक वचनों के बीच विभेद करता है। परन्तु अंततोगत्वा वह इस विभेद को समाप्त कर, वाक् क्रिया सिद्धान्त[5] (Speech Act Theory) को प्रतिपादन करता है जिसके अनुसार प्रत्येक वचन तथ्यात्मक होने के साथ–साथ कुछ–न–कुछ कार्य अवश्य ही सम्पादित करता है (भले ही परोक्षतः)। यथा, जब हम किसी युवती से कहते हैं कि 'मैं आपको अपनी वैवाहिक पत्नी के रूप में स्वीकार करता हूँ' तब यहाँ पर वैवाहिक कार्य सम्पादित होने के साथ–साथ, मैं इस तथ्य का वर्णन भी कर रहा हूँ कि मैं कुँवारा हूँ और यदि शादी–शुदा हूँ तो मेरी पूर्व पत्नी से तलाक हो चुका है और यदि तलाक नहीं भी हुआ है तो वह बाँझ है या मानसिक रूप से विक्षिप्त है, प्रभृति।

पुनश्च, आस्टिन वाक–क्रिया सिद्धान्त को तीन भागों में विभक्त करता है।[6]

- लोकेशनरी एक्ट (Locutionary Act)
- इलोकेशनरी एक्ट (Illocutionary Act)
- परलोकेशनरी एक्ट (Perlocutionary Act)

लोकेशनरी एक्ट का तात्पर्य है 'कहने की क्रिया', (Of saying) जब हम कहने की क्रिया करते हैं तब इसके अंतर्गत तीन शर्तें आवश्यक हैं। प्रथम, एक सुनिश्चित आवाज, दूसरी, वह आवाज व्याकरणिक दृष्टि से उपयुक्त हो और तीसरी, उसमें एक निश्चित अर्थ तथा संदर्भ हो। इसे आस्टिन क्रमशः फोनेटिक एक्ट (Phonetic Act), फेटिक एक्ट (Phatic Act), तथा रहेटिक एक्ट (Rhetic Act) कहता है।[7]

जब हम 'कहने की क्रिया' करते हैं, तब 'कहने की क्रिया' के साथ–साथ 'कहने में क्रिया' (In saying) भी करते हैं तथा 'कहने में क्रिया' के द्वारा हम कुछ कार्य सम्पादित करते हैं यथा, प्रश्न पूछना, उत्तर देना, चेतावनी देना, वादा करना, सूचना देना, आलोचना करना, अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त

करना, प्रभृति। इसे इलोकेशनरी एक्ट कहते हैं। आस्टिन के अनुसार प्रत्येक वचन अपने विहित अर्थ के साथ—साथ कुछ—न—कुछ शक्ति भी रखता है जिसे इलोकेशनरी (Illocutionary Force) फोर्स कहते हैं। उल्लेखनीय है कि सर्वप्रथम आस्टिन ने ही अर्थ (Meaning) और शक्ति (Force) के बीच भेद किया है।[8]

यही नहीं 'कहने की क्रिया' और 'कहने में क्रिया' के साथ—साथ 'कहने के द्वारा' (By saying) भी हम कुछ—न—कुछ कार्य अवश्य सम्पादित करते हैं क्योंकि कहने के द्वारा हम श्रोता के विचार, चिन्तन तथा निर्णय आदि में परिवर्तन कर सकते हैं। जिसे आस्टिन परलोकेशनरी एक्ट कहता है। इस प्रकार उपर्युक्त तीनों क्रियाओं को 'की' 'में' और 'द्वारा' के माध्यम से समझा जा सकता है। जब भी हम कुछ कहते हैं तब सर्वप्रथम 'कहने की क्रिया' करते हैं, तदन्तर 'कहने में क्रिया' करते हैं और अंततः 'कहने के द्वारा' भी क्रिया करते हैं। जिसे आस्टिन क्रमशः 'लोकेशनरी' 'इलोकेशनरी' तथा परलोकेशनरी' एक्ट कहता है, यथा, रेलगाड़ी आ रही है। जब हम यह कहते हैं कि रेलगाड़ी आ रही है तब सर्वप्रथम हम 'कहने की क्रिया' करते हैं, फिर 'कहने में क्रिया' अर्थात् अन्य को सूचना भी प्रदान करते हैं और यह सूचना लोगों के चिंतन या निर्णय को भी प्रभावित करती है, अर्थात् 'कहने के द्वारा' भी क्रिया करते हैं।

अंततः आस्टिन उपर्युक्त तीनों में से इलोकेशनरी एक्ट पर अत्यधिक बल देता है जिससे शनैः शनैः लोकेशनरी एक्ट तथा परलोकेशनरी एक्ट धूमिल होते गये। आस्टिन के अनुसार किसी भी वचन का प्राथमिक उद्देश्य यह है कि श्रोता, वक्ता के द्वारा अभिव्यक्त अर्थ को समझ ले। जब श्रोता वक्ता द्वारा निर्दिष्ट अर्थ को ग्रहण नहीं कर पाता है तब तक कहने की क्रिया का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। इसीलिए आस्टिन यह स्वीकार करता है कि येन—केन—प्रकारेण वक्ता के द्वारा अभिव्यक्त अर्थ को श्रोता ग्रहण कर ले, इसे ही इलोकेशनरी एक्ट कहते हैं।

जहाँ तक वक्ता के अभिप्राय, को ग्रहण करने की बात है, यह मूलतः तीन माध्यमों से हो सकता है।

- अपरोक्षतः (Directly)
- परोक्षतः (Indirectly)
- तथा अशाब्दिक रूप से (Non-verbally)

जब वक्ता का वचन, उसके अभिप्राय को सीधे–सीधे स्पष्ट कर देता है तब इसे अपरोक्ष वाक् क्रिया सिद्धान्त (Direct Speech Act) कहते हैं, जिसे आस्टिन अपने सिद्धान्तों में विकसित करता है, यथा, 'मैं इस सेमिनार का उद्‌घाटन करता हूँ', 'मैं आपको यह चेतावनी देता हूं कि यह घोड़ा अत्यन्त ही खतरनाक है', 'मैं यह आदेश देता हूँ कि आप एक माह के अन्दर इस मकान को खाली कर दीजिए', 'इलाहाबाद नगरवासियों को यह सूचित किया जाता है कि वे बिजली का बिल अमुक दिनांक तक जमा कर दें', प्रभृति। यहाँ पर शाब्दिक अर्थ तथा निर्दिष्ट अर्थ दोनों में समरूपता है अर्थात् अर्थ और अभिप्राय में सामंजस्य है।

परन्तु कभी–कभी वक्ता अपने अभिप्राय को अपने 'वचन' के माध्यम से अपरोक्षत: अभिव्यक्त न करके, परोक्षत: अभिव्यक्त करता है, जिसे परोक्ष वाक्–क्रिया सिद्धान्त (Indirect Speech Act) कहते हैं, यथा, जब कोई व्यक्ति कमरे में प्रविष्ट होते ही यह कहता है कि 'मुझे इस कमरे में घुटन हो रही है।' तब इस कथन के माध्यम से वह परोक्षत: यह कहना चाहता है कि या तो हम लोग कमरे से बाहर चलें या फिर यदि यहीं बैठना है तो कृपया इस कमरे की खिड़की एवं दरवाजे को खोल दें। इसी प्रकार जब कोई राहगीर किसी अन्य व्यक्ति से पूछता है क्या आप इलाहाबाद विश्वविद्यालय का रास्ता जानते हैं? तब वह परोक्षत: यह कहना चाहता है कि कृपया आप मुझे इलाहाबाद विश्वविद्यालय तक पहुँचने का रास्ता बताइए। इस परोक्ष वाक्–क्रिया सिद्धान्त को जे०आर० सर्ल ने अपनी पुस्तक 'इक्सप्रेशन्स एण्ड मीनिंग'[9] में विकसित किया है। उसके अनुसार अपरोक्ष की अपेक्षा परोक्ष ढंग से मनुष्य अपने अभिप्रायों को अत्यधिक स्पष्ट ढंग से अभिव्यक्त करता है। उसने तो यहाँ तक दावा किया है कि समकालीन नीति दर्शन की अधिकांश भ्रांतियाँ परोक्ष वाक्–क्रिया को नहीं समझने के कारण ही पैदा हुई हैं।

यदि उपर्युक्त पक्षों पर गहनतापूर्वक विचार किया जाय तो हम कह सकेंगे कि यदि किसी भी वचन का परम साध्य यह है कि वक्ता अपने अभिप्राय को इस प्रकार प्रस्तुत करे कि श्रोता उसे यथावत् ग्रहण कर ले तो इसके लिए भाषा का होना आवश्यक नहीं है अर्थात् यह कार्य अशाब्दिक रूप से भी हो सकता है। यदा–कदा वक्ता कुछ भी नहीं कहता, परन्तु उसका 'अकथन' श्रोता के लिए एक प्रबल कथन का कार्य करता है और श्रोता उस 'अकथन' के अर्थ को स्पष्टत: ग्रहण

कर लेता है। इसे अशाब्दिक वाक् क्रिया (Non-Verbal Speech Act) सिद्धान्त कहा जा सकता है। यदि हम अशाब्दिक वाक् क्रिया सिद्धान्त की उपेक्षा करते हैं तो न केवल हमारा व्यावहारिक जीवन बल्कि आध्यात्मिक जीवन भी बहुत हद तक प्रभावित होगा। अशाब्दिक वाक् क्रिया का सफल प्रयोग हम अपने दैनंदिन की जीवनचर्या में प्रतिक्षण करते रहते हैं। यही नहीं आध्यात्मिक क्षेत्र में तो केवल अकथन को ही अंतिम, प्रामाणिक और सर्वश्रेष्ठ निर्वचन के रूप में स्वीकार किया जाता है। अशाब्दिक वाक्–क्रिया सिद्धान्त भी मूलत: तीन आयामों के माध्यम से अभिव्यक्त हो सकता है:

- दृश्य आयाम (Visible)
- अदृश्य आयाम (Invisible) एवं
- भाषातीत आयाम (Paralinguistic)

अशाब्दिक वाक् क्रिया सिद्धान्त का दृश्य आयाम अत्यंत ही व्यावहारिक तथा रोचक होता है। अधिकांशत: इसका प्रयोग 'मिमिकरी', 'नाटक' आदि क्षेत्रों में होता है। व्यावहारिक जीवन में भी सामान्यत: इसका प्रयोग होता रहता है। क्रिकेट मैदान में, किसी खिलाड़ी के 'आउट (Out)' होने पर अम्पायर किसी शब्द का प्रयोग करने की अपेक्षा केवल अपने एक हाथ की एक ऊंगली को ऊपर उठाता है। इसी प्रकार चौका और छक्का मारे जाने पर भी वह अपने हाथों के माध्यम से ही उसको इंगित करता है। अम्पायर का यह हाव–भाव सर्वमान्य है। इसी प्रकार कक्षा में कोई–कोई विद्यार्थी अपनी अरुचि को अपने शारीरिक हाव–भाव के माध्यम से व्यक्त करता है। इसका प्रयोग आओ, जाओ, रुको, हाँ, नहीं, बॉय–बॉय आदि के लिए विशेष रूप से होता रहता है। आँखों की विभिन्न भाव–भंगिमाओं के द्वारा हम अपने अभिप्राय को शब्दों की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली ढंग से व्यक्त कर सकते हैं, जैसे, प्रेम, घृणा, उदासीनता प्रभृति। यही नहीं, गूँगे तथा बहरों के बीच सम्प्रेषण का एक मात्र माध्यम Body Language ही है, जिसे Sign Language भी कहते हैं। इसका अध्ययन मनोविज्ञान के अन्तर्गत व्यापक रूप से किया जा सकता है।

दूसरी ओर, कुछ स्थितियाँ ऐसी होती हैं जब वक्ता न तो कुछ बोलता है और न ही किसी प्रकार की शारीरिक गतिविधि करता है, वह पूर्णतया मौन रहता

है तथापि उसका मौन ही श्रोता के लिए बहुत कुछ कह जाता है और श्रोता अपनी बौद्धिक क्षमता के अनुसार कई—कई अर्थ ग्रहण कर लेता है। यथा, पूर्णतया शांति एक गहन आध्यात्मिक अनुभव तथा त्रासदी, दोनों को ही प्रतिबिम्बित करता है। इसी प्रकार दो व्यक्तियों के मध्य सम्प्रेषण का अभाव मनमुटाव को इंगित करता है। यदा— कदा, मौन का प्रभाव वाणी से अधिक होता है। माना आप किसी संस्था के निदेशक हैं लेकिन उस संस्था का कोई कर्मचारी अपने कार्य का सम्यक् निर्वहन नहीं कर रहा है। ऐसी परिस्थिति में उसकी मौन उपेक्षा, उसको अपनी जिम्मेदारी के प्रति सोचने को मजबूर कर देती है। इसी प्रकार वाचाल व्यक्ति के समक्ष मौन उसकी गहन उपेक्षा करना है।

सामान्यत: मौन को भावात्मक तथा निषेधात्मक दोनों अर्थों में ही स्वीकार किया जाता है। महात्मा बुद्ध से जब भी आत्मा, ईश्वर, जगत, मरणोपर्यन्त जीवन से सम्बन्धित प्रश्न पूछा जाता था तो वे इन प्रश्नों को 'अव्याकृत' प्रश्न कह कर मौन हो जाते थे। उनके मौन को कुछ दार्शनिक निषेधात्मक अर्थ में तो अधिकांश भावात्मक अर्थ में स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार ये प्रश्न वैसे ही हैं, जैसे किसी व्यक्ति के पैर में काँटा चुभा हो और वह काँटा निकलवाने के बजाय यह कहे कि पहले यह बताओ कि इसे किसने चुभाया है। इस तरह के प्रश्न, उनके लिए व्यावहारिक दृष्टि से अनुपयोगी थे। लेकिन उनके मौन को सर्वथा निषेधात्मक रूप में ग्रहण कर लेना कदापि उपयुक्त नहीं है। एक समय भगवान बुद्ध अपने प्रिय शिष्य आनंद से पूछते हैं कि आनंद यह बताओ कि क्या वृक्ष के नीचे जितने पत्ते गिरे हैं उतने ही सारे वृक्ष के पत्ते हैं? आनंद प्रत्युत्तर देता है— नहीं महाराज। जो पत्ते वृक्ष के नीचे पड़े हुए हैं वे तो बहुत ही कम हैं, अधिकांश पत्ते तो वृक्ष पर ही हैं। तब भगवान बुद्ध कहते हैं कि इसी प्रकार जो कुछ भी मैं बोलता हूँ वह अत्यन्त ही अल्प है। स्पष्टत: भगवान बुद्ध का अनुभव अत्यन्त ही गहन एवं व्यापक था, तथापि जितना सामान्य मनुष्य के लिए आवश्यक था उतना ही वे अभिव्यक्त करते थे। अत: उनके मौन को निषेधात्मक अर्थ में ग्रहण करना कदापि उपयुक्त नहीं है।

यही नहीं अतीन्द्रिय सत्ता के संदर्भ में सर्वोत्तम निर्वचन 'मौन' या 'नेति—नेति' को स्वीकार किया गया है। उपनिषद् ने इसे 'अमनीभाव', 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' तथा 'यतो वाचो निर्वतन्ते अप्राप्य मनसा सह' कहते हुए इसे प्रतीकों

तथा उपमानों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है, तो आचार्य शंकर, शून्यवादी, विज्ञानवादी इसे 'चतुष्कोटिविनर्मुक्त' कहते हुए लिखते हैं कि सत्ता वह है जहाँ से हमारी भाषा वापस चली आती है। क्योंकि भाषा भेदात्मक है जबकि सत्ता अभेदात्मक। इसलिए भाषा सत्ता को अभिव्यक्त नहीं कर सकती। वास्तविकता यह है कि अतीन्द्रिय सत्ता बुद्धि की अवस्था न होकर अनुभव की अवस्था है। अत: जिस व्यक्ति को इसका अनुभव नहीं हुआ है, उसे शब्दों के माध्यम से सम्प्रेषित नहीं किया जा सकता है। इसे डॉ० राधाकृष्णन अति बौद्धिक (Supra-rational) कहते हैं। इसी दृष्टि से विट्गेंस्टाइन अपनी महत्वपूर्ण कृति 'टैक्टेस लॉजिको–फिलॉसोफिकल में लिखता है कि 'मेरी भाषा की सीमा मेरी जगत की सीमा है।'[10] इसलिए वह सत्ता, जो जगत के बाहर है उसके बारे में हमें कुछ नहीं कहना चाहिए। अर्थात् हमें जो कुछ भी कहना चाहिए स्पष्ट रूप से कहना चाहिए परन्तु जहाँ हम कुछ नहीं कह सकते वहाँ हमें मौन रहना चाहिए। लेकिन यहाँ मौन का तात्पर्य यह नहीं है कि ऐसी सत्ता का अस्तित्व ही संशयात्मक है। जैसा कि विट्गेंस्टाइन लिखता है कि "संशय भी वहीं किया जा सकता है जहाँ कुछ प्रश्न उठते हैं, प्रश्न वहीं उठते हैं जहाँ कुछ उत्तर की संभावना होती है, उत्तर वहीं दिया जा सकता है जहाँ कुछ कहे जा सकने की सम्भावना होती है। अत: जिसके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता अर्थात् जो अकथनीय है, उस पर संशय भी नहीं किया जा सकता है।"[11]

तैतरीय उपनिषद में पंच कोशों का वर्णन आया है, यथा, अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश एवं आनंदमय कोश। इसमें वाणी का क्षेत्र विज्ञानमय कोश तक है। किन्तु जब हम आनंदमय कोश या इसके ऊपर के लोक में प्रविष्ट होते हैं, वाणी अपने आप ही विराम ले लेती है। केन उपनिषद् के अनुसार जिसे वाणी बोल नहीं सकती, परन्तु जिसके द्वारा वाणी बोलती है, जिसे बुद्धि जान नहीं सकती, परन्तु जिसके द्वारा बुद्धि जानती है, जिसे आँख देख नहीं सकती, परन्तु जिसके द्वारा आँख देखती है, जिसे कान सुन नहीं सकते, परन्तु जिसके द्वारा कान श्रवण करते हैं, जो स्वयं श्वास नहीं लेता, किन्तु जिसके द्वारा श्वास लेना सम्भव है, तुम उसी ब्रह्म को जानो, उसको नहीं जिसकी लोग बाहर उपासना करते हैं।

"तदेव, ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।"[12]

केन उपनिषद के अनुसार जो यह कहता है कि मैं ब्रह्म को जानता हूँ वह वास्तव में उसे नहीं जानता और जो यह कहता है कि मैं ब्रह्म को नहीं जानता, वास्तव में वही उसे जानता है।

"यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद स:।[13]

इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद में ऋषि याज्ञवलक्य उद्‌घोष करते हैं कि द्रष्टा का दर्शन तथा विज्ञाता का विज्ञान असम्भव है क्योंकि जिस विज्ञाता के द्वारा यह सब कुछ सुना जाता है, उस विषयी विज्ञाता को विषय के रूप में कैसे जाना जा सकता?

येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विज्ञानीयात?

विज्ञातारं अरे! केन विजानीयात्?[14]

स्पष्टत: जब व्यक्ति ब्रह्म की अनुभूति करता है तब वह स्वयं ब्रह्म होकर ही ब्रह्म को जान पाता है।

ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति[15]

साक्षात्कार की इस अवस्था में सभी प्रकार का द्वैत समाप्त हो जाता है, तब कौन बोलेगा और कौन सुनेगा? सम्भवत: इसी कारण जो इसे जान लेता है वह सर्वथा मौन हो जाता है।

इसी प्रकार भाषातीत आयाम (Para-language) के अंतर्गत मूलत: अर्थ (Meaning) और शक्ति (Force) का विभेद किया जाता है। यहाँ पर भाषा और अभिप्राय का विभेद करते हुए भाषा के शाब्दिक अर्थ की अपेक्षा वक्ता के अभिप्राय को मूल अर्थ के रूप में ग्रहण किया जाता है। इसमें वक्ता किसी कथन के विभिन्न अंशों पर पृथक–पृथक रूप में बल देता है, जिससे वह भिन्न–भिन्न अर्थ ग्रहण करता है और कभी–कभी तो यह शाब्दिक अर्थ के ठीक विपरीत अर्थ ग्रहण कर लेता है। यथा, जब कोई पिता अपने पुत्र से सामान्यत: कहता है कि 'वर्षा हो रही है' तब उसका यह कथन मूलत: वर्णात्मक है। परन्तु जब पिता इसी कथन को स्वाराघात के साथ कहता है तब इसका अर्थ चेतावनी के रूप में हो जाता है। इस प्रकार स्वर संक्रम (Cadence), चेष्टा (Gesture), स्वराघात (Tone of voice), घटनाक्रम (Circumstances) तथा वक्ता का अभिप्राय (Intention of speaker) अत्यन्त ही महत्वपूर्ण घटक है जिनके द्वारा भाषा का मूल अर्थ ही परिवर्तित हो जाता है, लेकिन जब श्रोता बुद्धिमान होगा तभी वह

उसके अभिप्रेत अर्थ को ग्रहण कर सकेगा। अन्यथा वह उसके शाब्दिक अर्थ को ही ग्रहण करता रहेगा। परिणामतः वक्ता और श्रोता के मध्य 'संवादहीनता' (Communication gap) उत्पन्न हो जायेगी तथा वक्ता कुछ और कहना चाहेगा और श्रोता उसका अन्य अर्थ ग्रहण करेगा।

यदा–कदा, भाषा अपने शाब्दिक अर्थ के ठीक विपरीत अर्थ ग्रहण कर लेती है। यथा, जब कोई लड़का अपनी मम्मी से कहता है कि 'माँ मैं सिनेमा देखने जा रहा हूँ' इस पर वह मुस्कुराते हुए कहती है कि 'तुम्हें सिनेमा देखने नहीं जाना है।' फिर भी वह लड़का सिनेमा देखने चला जाता है, परन्तु माँ उसके इस व्यवहार पर खिन्न नहीं होती। कोई युवक किसी युवती से कहता है कि 'मैं तुमसे प्यार करता हूँ' और वह युवती प्रत्युत्तर देती है कि 'मैं तुमसे घृणा करती हूँ।' तत्क्षण वह मुस्कराती है। उस युवती की यह अदा; 'मैं तुमसे घृणा करती हूँ', को 'मैं भी तुमसे प्यार करती हूँ' के रूप में परिवर्तित कर देती है। स्पष्टतः जब 'शाब्दिक अर्थ' और 'शारीरिक हाव–भाव' में विषमता हो तो शाब्दिक अर्थ की अपेक्षा शारीरिक हाव–भाव को अत्यधिक विश्वसनीय मानना चाहिए। दूसरे शब्दों में, भाषा एवं भाव में विभेद परिलक्षित हो तब भाषा की अपेक्षा भाव को महत्व प्रदान करना चाहिए।

उपर्युक्त सभी पक्षों पर गहनतापूर्वक विचार करने के उपर्यन्त यह कहा जा सकता है कि भाषा अपने आप में साध्य नहीं है। भाषा तो मात्र माध्यम है, जिसके द्वारा वक्ता अपने 'अभिप्राय' को अभिव्यक्त करता है। स्पष्टतः, ऐसी कोई भी प्रक्रिया जिसके द्वारा हम अपने अभिप्राय को स्पष्ट कर सकें, उसे अवश्य ही एक अन्य स्तर की भाषा ही कहना उपयुक्त होगा। भ्रांतियाँ तब पैदा होती हैं जब हम भाषा को साध्य मानकर अभिप्राय की उपेक्षा कर देते हैं। इसी दृष्टि से विट्गेंस्टाइन कहता है कि "दर्शन जगत की सारी समस्यायें भाषा जनित भ्रांतियों के कारण पैदा हुई हैं।"[16] यदि भाषा की समस्या को सुलझा दिया जाय तो दर्शन जगत की सारी समस्यायें अपने आप ही विगलित हो जायेंगी। इसीलिए वह दार्शनिक समस्याओं को मानसिक व्याधि कहता है जिनके उपचार की आवश्यकता है। दर्शन का वास्तविक लक्ष्य इन भाषाजनित भ्रांतियों से मुक्त होना है।[17] इस संदर्भ में उसके कुछ महत्वपूर्ण कथन हैं:

- "दर्शन, भाषा द्वारा हमारी बुद्धि के सम्मोहन के विरुद्ध युद्ध है।"[18]

- "दार्शनिक समस्यायें तभी पैदा होती है जब भाषा किसी इंजन की तरह विश्राम करती है, कार्य नहीं करती।"[19]
- "दार्शनिक समस्याएँ तब उत्पन्न होती है, जब भाषा छुट्टी पर होती है।"[20]

स्पष्टत: दार्शनिक समस्याओं का मूल कारण यह है कि हम उसको वास्तविक संदर्भ से असम्पृक्त कर केवल शब्दों का किसी तार्किक नियम के आधार पर व्याख्या करते हैं।

यही कारण है कि वह अपनी महत्वपूर्ण कृति 'फिलॉसफिकल इन्वेस्टिगेशन्स' में सम्पूर्ण समस्या की निष्पत्ति देते हुए लिखता है कि 'अर्थ मत पूछो, प्रयोग पूछो'। यदि यहाँ सूक्ष्मतापूर्वक विचार किया जाये तो स्पष्ट रूप से यह कहा जा सकता है कि दर्शन जगत् की ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण साहित्यिक एवं व्यावहारिक जीवन की भी अधिकांश समस्याएँ भाषा की अपेक्षा 'अभिप्राय' से सम्बन्धित हैं। समस्याओं की जड़ में 'अभिप्राय' को न समझ पाना है। जब तक हम वक्ता के अभिप्राय को नहीं समझ लेते तब तक समस्याएँ पैदा होती रहेंगी। परन्तु ज्योंहि हम वक्ता के अभिप्राय को समझ लेते हैं, समस्याएँ अपने आप ही विगलित हो जाती हैं। इसीलिए यदि यह कहा जाये कि 'अर्थ मत पूछो, अभिप्राय पूछो' तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी और जब अभिप्राय की बात की जाती है तब भाषा स्वयमेव गौण हो जाती है।

संदर्भ

1. उद्धृत, प्रो. संगम लाल पाण्डेय (1978): 'ह्वेदर इंडियन फिलॉसफी' पृष्ठ–36 ।
2. आचार्य भर्तृहरि: "वाक्यपदीय" 1/23
3. जे.एल. आस्टिन (1982): 'हाऊ टू डू थिंग्स विथ वर्ड्स', जे.ओ. आर्मसन एवं मरीना सविसा (सम्पादकीय) पृष्ठ–3-5।
4. उपर्युक्त, पृष्ठ – 14।
5. उपर्युक्त, पृष्ठ – 94।
6. उपर्युक्त, पृष्ठ – 94-105।
7. उपर्युक्त, पृष्ठ – 94।

8. उपरोक्त, पृष्ठ – 99-100।

9. जे.आर. सर्ल (1979): 'एक्सप्रेशन्स एण्ड मीनिंग' पृष्ठ 31-32।

10. लु. विट्गेंस्टाइन (1922): 'ट्रैक्टेटस–लॉजिको–फिलॉसाफिकस' 5.6 ।

11. उपर्युक्त, 6.51।

12. केन उपनिषद्, 1-4 से 8।

13. उपर्युक्त, 2-3 ।

14. वृहदारण्यक उपनिषद्, 2-4-14।

15. उपर्युक्त, 4-4-6।

16. लु. विट्गेंस्टाइन (1922): 'ट्रैक्टेटस–लॉजिको–फिलॉसाफिकस' 4.0031 ।

17. लु. विट्गेंस्टाइन (1953): 'फिलॉस्फिकल इन्वेस्टीगेशन्स' पृष्ठ–115

18. उपर्युक्त, पृष्ठ–109 ।

19. उपर्युक्त, पृष्ठ–132 ।

20. उपर्युक्त, पृष्ठ–38 ।

**

एम.एन. राय के मानववाद का विश्लेषणात्मक अध्ययन

एम.एन. राय को भारतीय राजनीतिक क्षितिज पर एक 'देदीप्यमान तारा', 'रहस्य पुरुष' एवं 'सर्वाधिक विद्वान पुरुष' के रूप में प्रस्तुत किया गया है। राय का प्रादुर्भाव, एक ऐसे परिवेश में होता है जब हिन्दुस्तान अंग्रेजों के चंगुल में दासता की बेड़ियाँ काट रहा था। जहाँ स्वतंत्र चिंतन एवं व्यक्तिगत जीवन का कोई स्थान नहीं था। इस विषम परिस्थिति में राय का पदार्पण एक ऐसे राष्ट्रवादी नेता के रूप में होता है, जो आत्म—गौरव एवं आत्म—स्वाभिमान से परिपूर्ण थे तथा जिसमें राष्ट्रवादी भावना कूट—कूट कर भरी थी। कालांतर में मार्क्स से प्रभावित होकर, उन्होंने मार्क्सवाद को अंगीकार किया। परन्तु लेनिन एवं स्टालिन के सैद्धांतिक मतभेदों के कारण साम्यवाद का भी परित्याग कर दिया। यही नहीं, अपनी विद्रोही प्रवृति के कारण 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' तथा 'ब्रिटिश शासकों', इन दोनों का भी कोपभाजन बनना पड़ा। फलत: 'रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी' का गठन किया। अंतत: इस पार्टी की १९४७ के चुनाव में करारी हार हुई। तब राय को 'पार्टी पालिटिक्स', 'पावर पालिटिक्स' के रूप में प्रतिभासित हुई। अत: 'पार्टी पालिटिक्स' से भी विरत होकर 'मानवीय स्वतंत्रता' के रक्षार्थ नव मानववाद (New Humanism) या अविकल मानववाद (Radical Humanism) या वैज्ञानिक मानववाद (Scientific Humanism) के अविचल पुरोधा के रूप में अपने आपको प्रतिष्ठित किया, जहाँ उनके विचारों की पूर्णता प्रतिध्वनित होती है।

यद्यपि मानववादी प्रवृति तो प्राचीन परम्पराओं में भी देखी जा सकती है। लेकिन उस समय वैज्ञानिक पद्धतियों का विकास न होने के कारण चिंतन एवं जीवन, अंध विश्वासों एवं मिथ्या अवधारणाओं पर आधारित था। आधुनिक युग में

वैज्ञानिक प्रवृत्तियों का विकास हुआ। अतः आस्था एवं विश्वास का स्थान तर्क एवं प्रयोग ने ले लिया। जिसका साक्षात् प्रभाव, जीवन एवं दर्शन पर भी पड़ा। राय का नव मानववाद इसी वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित है, जिसमें समग्र पूर्ववर्ती मान्यताओं का अद्‌भुत समन्वय है। लेकिन राय का मानववाद पूर्ववर्ती मानववाद से अत्यधिक परिष्कृत, सम्पन्न एवं वैज्ञानिक है।

प्रश्न उठता है कि मानववाद क्या है? मानववाद एक प्रकार का मानव केन्द्रित दर्शन है, जिसके अनुसार मानवीय हित ही सर्वोपरि है। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इसके अन्तर्गत एक मात्र मानव का ही अस्तित्व माना जाता है। निस्संदेह मनुष्य के अतिरिक्त अन्य का भी अस्तित्व है, फिर भी मानववाद, मानव को केन्द्रीय स्थान प्रदान करता है, क्योंकि मनुष्य ही मूल्यों का स्रोत है।

'न्यू आक्सफोर्ड एडवांस लर्नर्स डिक्शनरी' के अनुसार "मानववाद मनुष्य के हितों का समाधान धार्मिक विश्वासों की अपेक्षा, तर्कबुद्धि के आधार पर करना चाहता है"।[1] वहीं "कालिन्स कन्साइज डिक्शनरी" के अनुसार, "मानववाद अपने प्रयत्नों द्वारा मानवता के विकास के पक्ष में धर्म का परित्याग है।"[2] जबकि फिंगर हीआर्थ अपनी पुस्तक 'इन्ट्रोडक्शन टू ह्यूमेनिज्म' में लिखते हैं कि मानववाद वह विचारधारा है, जो मानव को केन्द्र में रखती है। यह मानवहित, मानव–कल्याण, मानव–गरिमा एवं मानवीय मूल्यों को सामने रख कर चलती है। इसमें तर्कबुद्धि को महत्व दिया जाता है। कुछ मानववादी अपने को बुद्धिवादी भी कहते हैं। पुनश्च, वे लिखते हैं कि मानववाद ईश्वर के स्थान पर मानव पर ध्यान केन्द्रित करता है। इसमें मनुष्य की स्वायत्तता पर बल दिया जाता है और कहा जाता है कि मनुष्य किसी अति प्राकृतिक शक्ति पर निर्भर नहीं है। इस अर्थ में 'मानववाद', धर्मनिरपेक्षता के समतुल्य है।[3]

इस प्रकार मानववाद में बुद्धिवादी प्रवृत्तियाँ अत्यधिक हैं, लेकिन यहाँ बुद्धिवाद को सामान्य अर्थ में नहीं लिया गया है यथा डेकार्ट, स्पिनोजा एवं लाइबनीज समझते हैं। बुद्धिवाद का तात्पर्य यह है कि जो सभी प्रकार की पूर्व मान्यताओं एवं पूर्वाग्रहों से रहित होकर प्रयोग एवं निरीक्षण पर आधारित हो एवं जिसका बौद्धिक विवेचन सम्भव हो। इसे परिभाषित करते हुए ए० सोलोमोन लिखते हैं कि "जो निःसंदेह बुद्धि की सर्वोच्चता को स्वीकार करता है और जिसका उद्देश्य दर्शनशास्त्र एवं नीतिशास्त्र की ऐसी व्यवस्था को स्थापित करना है,

जिसका सत्यापन इन्द्रियानुभव द्वारा हो सके और जो सभी प्रकार की पूर्व मान्यताओं एवं शब्द प्रमाण से स्वतंत्र हो।"[४]

इस प्रकार मानववाद (Humanism), मानवतावाद (Humantarian-ism) से भिन्न हो जाता है;

- मानवतावाद ईश्वर को केन्द्र में रखते हुए मानवीय कल्याण एवं उसके उत्थान की बात करता है, जबकि मानववाद मनुष्य को ही सर्वशक्तिमान मानकर उसकी सेवा को परम धर्म मानता है।
- मानवतावाद एक प्रकार का नियतिवादी एवं भाग्यवादी दर्शन है, जबकि मानववाद मानव को ही अपना भाग्य विधाता मानता है।
- मानवतावाद के अनुसार ईश्वर ही मूल्यों का अन्तिम स्रोत है, जबकि मानववाद के अनुसार मनुष्य ही मूल्यों का स्रोत है, न कि ईश्वर।
- मानववाद वैज्ञानिक दृष्टिकोण है, क्योंकि यह बौद्धिकता पर आधारित है, जबकि मानवतावाद धार्मिक या आध्यात्मिक दृष्टिकोण पर आधारित है, क्योंकि यह मूलत: आस्था पर आधृत है।
- मानवतावादी, नैतिकता को धर्म का प्रथम सोपान मानते हैं, जबकि मानववादी नैतिकता को ही धर्म मानकर 'ईश्वर विहीन धर्म' (Religion without God) की स्थापना करते हैं।
- मानवतावाद का केन्द्र सभी प्राणी (All human being) हैं, जबकि मानववाद का केन्द्र केवल मनुष्य है।
- मानवतावादियों का उद्देश्य ईश्वर–साक्षात्कार है, जबकि मानववादी ईश्वर की सत्ता का ही निषेध करते हैं।

मानववादी अवधारणा की शुरूआत ग्रीक दार्शनिक प्रोटागोरस के दर्शन से होती है, जब वह कहता है कि 'मनुष्य ही सभी वस्तुओं का मापदण्ड है' (Man is the measure of all things)। यही मानववाद की मूल संकल्पना है। इसी प्रकार मार्क्स भी कहता है कि 'मनुष्य मानवता की जड़ है' (Man is the root of mankind)। भारतीय परम्परा में चार्वाकों एवं बौद्धों ने भी मानववाद का प्रतिपादन किया है। महात्मा बुद्ध ईश्वर को नहीं मानते, क्योंकि ईश्वर को नित्य एवं पूर्ण होने के साथ–साथ जगत का स्रष्टा भी माना जाता है।

यदि ईश्वर नित्य है तो जगत में भी नित्यता होनी चाहिए, जबकि जगत प्रवाहशील है। अत: इस परिवर्तनशील जगत का कारण ईश्वर नहीं हो सकता। दूसरा, यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान है, तब जगत में दु:ख क्यों है? क्या ईश्वर दु:खों को दूर नहीं कर सकता? इसी कारण वे ईश्वर का निषेध करते हुए 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय'[५] का उपदेश देते हैं, जो कालांतर में महायान दर्शन में 'बोधिसत्व'[६] की अवधारणा के रूप में विकसित हुआ। इसके अतिरिक्त चीन में कन्फ्यूशियस, पाश्चात्य दर्शन में ऑगस्त काम्टे, जॉन डीवी, एरिक फ्रॉम, हर्बर्ट स्पेंसर, जॉन हास्पर्स, बी० रसेल, मार्क्स एवं जे०पी० सार्त्र प्रभृति के दर्शन में भी मानववादी अवधारणा निहित है।

आधुनिक भारतीय परम्परा में मानववाद के अग्रदूत के रूप में एम० एन० राय को जाना जाता है। जिन्होंने अपनी पुस्तक 'न्यू ह्यूमेनिज्म' में नव मानववाद की स्थापना की है। जिसका स्पष्ट रूप 'रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी' के २२ प्रस्तावों[७] में निहित है। जिसमें निम्न प्रमुख हैं;

- मनुष्य समाज का आदर्श है, क्योंकि वह अस्तित्व एवं महत्व की दृष्टि से समाज से पहले है। यही नहीं मनुष्य ही सभी चीजों का मापदण्ड है और वही प्रत्येक दृष्टि से मूल्यों का निर्माता है।
- व्यक्ति वास्तविक इकाई है, समाज नहीं। किसी भी प्रकार का अनुभव व्यक्ति को ही होता है, समाज को नहीं।
- यद्यपि समाज व्यक्ति की भलाई के लिए है, तथापि व्यक्तियों में आपसी सहयोग से ही व्यक्ति की उन्नति सम्भव हो पाती है।
- 'स्वतंत्रता की खोज' तथा 'सत्य का अन्वेषण', ये मनुष्य की जन्मजात प्रवृतियाँ हैं।
- व्यक्ति की स्वतंत्रता की किसी भी स्थिति में बलि नहीं चढ़ाई जानी चाहिए।
- ईश्वर, आत्मा जैसी अतीन्द्रिय सत्ताओं एवं पुनर्जन्म में विश्वास एक प्रकार की धर्मान्धता है।
- मनुष्य की आर्थिक व्याख्या महत्वपूर्ण होते हुए भी अपूर्ण है, क्योंकि इसके अतिरिक्त कई अन्य महत्वपूर्ण तत्व हैं, जो व्यक्ति के जीवन को

प्रभावित करते हैं।

- आर्थिक समानता के साथ–साथ राजनीतिक समानता भी समाज में होनी चाहिए। एतदर्थ, सत्ता का विकेन्द्रीकरण आवश्यक है। इसके लिए संगठित प्रजातंत्र Organised Democracy) का विकास व्यक्तिगत स्तर तक होना चाहिए। जिससे सभी प्रकार की तानाशाही का अंत हो सके।
- सभी प्रकार के शोषण एवं दमन का अंत होना चाहिए, तभी व्यक्ति की जन्मजात क्षमताओं का पूर्ण विकास हो सकता है।
- नैतिकता, मानव समाज का एक आवश्यक पहलू है, जो बौद्धिकता पर आधारित है।
- मनुष्य इतिहास का निर्माता है और उसमें इतनी सामर्थ्य है कि वह आज के विश्व को बदल कर नूतन विश्व की स्थापना कर सकता है।
- सामाजिक शिक्षा ही क्रांति का उचित मार्ग है, न कि हिंसा एवं रक्तपात।
- धर्म–निरपेक्ष व्यक्तियों के संगठित प्रयत्नों से एक ऐसे विश्व का निर्माण किया जा सकता है, जहाँ व्यक्ति अधिकाधिक स्वतंत्रता का अनुभव कर सकेगा।
- साध्य के साथ–साथ साधन शुद्धता का होना आवश्यक है।
- हमारा दृष्टिकोण वैज्ञानिक होना चाहिए, जिससे हम वास्तविकता की तह तक पहुँच सकें।

उपर्युक्त मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में राय के मानववादी विचारों को स्पष्ट किया जा सकता है। मानववादी विचार का केन्द्र व्यक्ति और उसकी स्वतंत्रता है। राय अपने मानववाद में व्यक्तिगत स्वतंत्रता को केन्द्रीय स्थान प्रदान करते हुए लिखते हैं कि "नव मानववाद का आदर्श, वर्ग या समाज (राष्ट्र) नहीं है, बल्कि इसका सम्बन्ध मनुष्य से है। इसमें स्वतंत्रता का तात्पर्य व्यक्तिगत स्वतंत्रता से है।"[८] इस प्रकार राय के दर्शन में "व्यक्ति और उसकी स्वतंत्रता साध्य है तथा सामाजिक संगठन इसके साधन। जहाँ व्यक्ति के बौद्धिक, मानसिक, नैतिक, राजनीतिक एवं सामाजिक इन सभी पक्षों में आमूल चूल परिवर्तन की बात की जाती है। इसमें न तो राष्ट्रवाद की भावना का समावेश होगा और न ही रंगभेद का।

इसका प्रमुख लक्ष्य मानव है।"[९]

राय के अनुसार इतिहास निर्माण में व्यक्ति का महत्वपूर्ण स्थान है। उनके अनुसार इतिहास निर्माण में दो तत्व हैं; प्राकृतिक तथा मानवीय। वे मानते हैं कि प्राकृतिक परिस्थितियाँ मनुष्य के स्वभाव तथा वहाँ की सामाजिक संस्थाओं के स्वरूप पर काफी प्रभाव डालती हैं। लेकिन राय के अनुसार मानवीय तत्व, प्राकृतिक तत्व से ज्यादा महत्वपूर्ण है। पुनश्च, मानवीय तत्व के दो पक्ष हैं; व्यक्तिगत एवं सामाजिक। इतिहास निर्माण में वे सामाजिक तत्व की अपेक्षा व्यक्तिगत तत्व को अत्यधिक महत्व देते हैं। वे मानते हैं कि व्यक्ति से पृथक समाज का अस्तित्व नहीं, क्योंकि विचार किसी मस्तिष्क में उठते हैं, समाज में नहीं। राय भौतिकवादी होते हुए भी विचारों की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करते हैं। विचारों के निर्माण के लिए किसी मानवीय मस्तिष्क की आवश्यकता होती है, परन्तु विचारों के निर्माण के पश्चात् मस्तिष्क की आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि उस मस्तिष्क के बिना भी वे विचार अस्तित्व में रह सकते है।[१०]

इसी प्रकार सुख–दुःख व्यक्तिगत होते हैं न कि सामाजिक। यही नहीं जितनी महान क्रांतियाँ हुई हैं, उसके पीछे व्यक्तिगत तत्व ही महत्वपूर्ण रहा है, यथा बुद्ध, क्राइस्ट, सुकरात, मोहम्मद साहब, नानक, मार्क्स, गाँधी प्रभृति। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि व्यक्ति ही इतिहास का निर्माता है तथा उसमें इतनी सामर्थ्य है कि वह इतिहास प्रवाह को बदल कर एक नई दिशा प्रदान कर सके। इसीलिए वे लिखते हैं कि "व्यक्ति ही इतिहास का निर्माता है।"[११] राय के अनुसार "व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता के लिए युगों से संघर्षरत है। अतः विश्व का इतिहास इन संघर्षों का ही लेखा जोखा है।"[१२] इस प्रकार राय के अनुसार मनुष्य के इस विश्व निर्माण को किसी अतीन्द्रिय सत्ता पर आरोपित करना उपयुक्त नहीं, क्योंकि मनुष्य में यह सामर्थ्य है कि वह इससे बेहतर विश्व का निर्माण स्वयं कर सके। लेकिन आज–कल ईश्वर, धर्म, राष्ट्र, राज्य, समाज, बड़े कारखानों के सामने व्यक्ति लाचार एवं विवश हो गया है। अब वह अकेले उन्नति के बारे में सोचने में भी अपराध – भावना अनुभव करता है। अस्तु, "व्यक्ति, व्यक्ति में आत्म विश्वास जागृत करना उचित दिशा में बढ़ने की आवश्यक शर्त है।"[१३]

आगे राय लिखते हैं कि "यदि मानव अपने लिए एक नवीन, जीवन–दर्शन की सृष्टि नहीं करता तो वह अपने आप पर विश्वास खो बैठेगा तथा सदा के लिए

मार्ग—च्युत हो जायेगा। अत: सामाजिक ढाँचे का नव निर्माण एवं मानव जीवन को सौहार्दपूर्ण एवं सुखमय बनाने के लिए मानव का पुनर्मूल्यांकन नव मानववाद का ध्येय है।"[१४] इसी प्रकार, वे लिखते हैं कि "मानव की स्वतंत्रता ही उसे बर्बरता से सभ्यता की ओर बढ़ने में सहायक हुई है। मानव विवेकपूर्ण चिंतन तथा ज्ञान के आधार पर ही अपने तथा बाह्य विश्व के अस्तित्व को समझ सकता है। अंध विश्वास तथा धार्मिक मतान्धता से ऊपर उठकर, वह ईश्वर की सत्ता को चुनौती देते हुए स्वयं को ढूँढ़ने का प्रयास करता है।"[१५]

इसी मानवीय स्वतंत्रता के रक्षार्थ राय उन सभी प्रकारों की मान्यताओं को खण्डित करते हैं जो व्यक्ति के स्वतंत्र चिंतन एवं जीवन में बाधक बने हुए हैं। इसमें सर्वाधिक प्रमुख अवधारणा धर्म (ईश्वर का अस्तित्व) है। उन्हें मानवतावाद की धर्मभीरुता स्वीकार्य नहीं थी, क्योंकि उनके अनुसार धर्म का मिश्रण कभी भी मानववाद को विनष्ट कर सकता है। अत: वे मनुष्य को सर्वोपरि मानते हुए किसी भी प्रकार की अतीन्द्रिय सत्ता का निषेध करते हैं। उनके अनुसार धर्म का दुष्प्रभाव यह रहा है कि व्यक्ति अपनी मुक्ति की जिम्मेदारी ईश्वर पर सौंप कर स्वयं आलसी एवं निकम्मा हो जाता है। यह अकर्मण्यता की स्थिति है। इस आदि—पाप एवं आदि—पतन[१६] से मनुष्य की मुक्ति अनिवार्य है। राय के अनुसार आदि—पाप[१७] का अर्थ है अनादि काल से चला आ रहा अज्ञान, जबकि आदि—पतन[१८] का तात्पर्य है कि मनुष्य अपने आपको अन्य की तुलना में कमजोर एवं असमर्थ समझने लगे। राय के अनुसार इससे मुक्त होना आवश्यक है जिससे मानव में आत्म—विश्वास जागृत हो सके और वह अपने उद्धार का प्रयास कर सके। राय के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने उद्धार का प्रयास स्वयं करना होगा, कोई ईश्वर या अन्य सत्ता इस कार्य को नहीं कर सकेगा।

राय के अनुसार जीवशास्त्रीय प्रयोगों के आधार पर यह निष्कर्ष निगमित हुआ है कि 'विवेक' एवं 'नैतिकता' मनुष्य की जन्मजात प्रवृत्ति के परिणाम हैं। इसी जीवशास्त्रीय विशेषता के आधार पर वह अन्य मनुष्यों के साथ शांति एवं सहयोग के साथ जीवन जीना चाहता है। उनके अनुसार "नव मानववाद कोई अमूर्त दर्शन या मात्र सामाजिक दर्शन अथवा मात्र राजनीतिक एवं आर्थिक सिद्धान्त ही नहीं है। इसके विपरीत यह उन सिद्धान्तों का संग्रह है, जो मनुष्य जीवन के सभी क्रिया—कलापों को उनके सामाजिक अस्तित्व से सम्बन्धित कर उसकी अनुभूति का

मार्ग प्रशस्त करते हैं।"[19]

अपनी इसी मान्यता के आधार पर वे मार्क्सवाद की भी आलोचना करते हैं। राय के अनुसार जब मार्क्स ने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, तब वैज्ञानिक ज्ञान इतना विकसित नहीं था। इसी कारण राय अपने नव मानववाद को जीवशास्त्र एवं मनोविज्ञान के नवीनतम शोधों पर आधारित करते हुए इसे मार्क्सवाद से भी प्रगतिशील मानते हैं।

राय के अनुसार "मार्क्सवाद में व्यक्ति की अपेक्षा समाज को अधिक महत्व दिया गया है। जबकि नव मानववाद में व्यक्ति की महत्ता केवल समाज में ही नहीं बल्कि अखिल ब्रह्माण्ड में भी मानी गई है। व्यक्ति समाज का केन्द्र है और समाज भी व्यक्तियों के द्वारा ही बनाया हुआ संगठन है। अच्छे व्यक्तियों से ही अच्छे समाज का निर्माण होता है।"[20] जबकि मार्क्सवाद एक अच्छे समाज की रचना को प्राथमिकता देता है, जिसके माध्यम से अच्छे मनुष्यों का निर्माण हो सके। राय के अनुसार अच्छे व्यक्ति का निर्माण अत्यधिक महत्व रखता है। यदि यह कहा जाय कि पहले अच्छे समाज का निर्माण होगा, तत्पश्चात् उसके माध्यम से अच्छे व्यक्ति का, तो यह उचित नहीं, क्योंकि अच्छे समाज के निर्माण के लिए हमें बुरे साधनों का भी सहारा लेना पड़ सकता है। परन्तु राय के अनुसार बुरे साधन अच्छे व्यक्ति का निर्माण नहीं कर सकते तथा बुरे व्यक्ति अच्छे समाज का सृजन नहीं कर सकते। जबकि राय साधन शुद्धता एवं नैतिकता पर बल देते थे। नैतिकता मानव स्वभाव का एक आवश्यक पहलू है, जो मनुष्य की बौद्धिकता से सम्पृक्त है। इसीलिए वे मार्क्स के वर्ग संघर्ष के स्थान पर जन–शिक्षा तथा सांस्कृतिक नवजागरण पर अत्यधिक बल देते हैं। उनके अनुसार राजनीतिक परिवर्तन लाने के लिए शासकों में 'विवेक' एवं 'नैतिकता' को जागृत करना आवश्यक है। इसके लिए वे सर्वहारा वर्ग के स्थान पर बहुसंख्यक मध्यम वर्ग को समाज का नेतृत्व प्रदान करना चाहते थे, क्योंकि इसके द्वारा लाया गया परिवर्तन मंद परन्तु स्थायी होगा। अत: मध्यम वर्ग ही क्रांति का सूत्रधार हो सकता है। यही नहीं, राय मार्क्स के आर्थिक नियंत्रणवाद के सिद्धान्त का भी विरोध करते थे। मार्क्स मानता था कि अर्थ का नियंत्रण कर, समाज को नियंत्रित किया जा सकता है। राय के अनुसार यहाँ पर मनुष्य की सृजनात्मकता की उपेक्षा की गई है। वास्तविकता यह है कि आर्थिक तत्व के साथ–साथ कई अन्य तत्व भी हैं, यथा सामाजिक एवं विचारात्मक

दृष्टिकोण, जो समाज को बहुत हद तक प्रभावित करते हैं। इसी प्रकार मार्क्स 'राज्यविहीन समाज' (Stateless Society) की वकालत करता है, जबकि राय, राज्य को 'आवश्यक–आवश्यकता' (Essential Necessity) मानते हैं। यद्यपि वे उसे अधिनायक तंत्र का रूप न देकर लोकतांत्रिक अवधारणाओं पर आधारित करना चाहते थे।

राय लिखते हैं यद्यपि मार्क्स व्यक्तिगत स्वतंत्रता का हिमायती हैं। उसके अनुसार मनुष्य अपने सामाजिक परिवेश का स्वामी होता है, जिसे वह स्वतंत्रता का राज्य (The Kingdom of Freedom) कहता था। लेकिन राय के अनुसार लेनिन व स्टालिन के हाथों में आकर मार्क्सवाद ने अधिनायकवादी रूप ग्रहण कर लिया, जिसे वे राज्य–पूंजीवाद (State Capitalism) की संज्ञा देते हैं। इस प्रकार राय साम्यवाद के लुभावने आदर्श से दूर रहने की बात करते हैं।

जहाँ एक तरफ, राय साम्यवादी व्यवस्था की आलोचना करते हैं, वहीं दूसरी तरफ वे पूंजीवादी लोकतंत्र की कमियों को भी उजागर करते है। वे मानते हैं कि उदारवादी लोकतंत्र एक छलावा है, जहाँ सम्पूर्ण शक्तियों का केन्द्रीकरण राजनीतिक दलों के हाथ में केन्द्रित हो जाता है। इसलिए यहाँ पर सामूहिक स्वतंत्रता के नाम पर व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अपहरण हो जाता है। उनके अनुसार "इतिहास में स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए मनुष्यों ने अनेकों प्रयोग किये, परन्तु दुःख एवं दुर्भाग्य की बात यह है कि 'निर्मित तंत्र' ने अपने निर्माता व्यक्ति को ही गुलाम बना डाला।"[११] वे मानते हैं कि जिस प्रकार प्राकृतिक विपदाओं से बचने के लिए प्राचीन मानव ने ईश्वर का निर्माण किया, उसी प्रकार सामाजिक अव्यवस्था से मुक्ति पाने के लिए, उसने राजा का निर्माण कर दिया। परन्तु दुर्भाग्यवश राजा ने व्यक्ति को ही गुलाम बना डाला। पर अब वह समय आ गया है कि व्यक्ति इस गुलामी से पृथक होकर विकास के सुपथ पथ पर अग्रसर हो सके।

अतः राय पूंजीवादी लोकतंत्र के स्थान पर संगठित लोकतंत्र (Organised democracy) को महत्व देते हैं। इसके सर्वोच्च शिखर पर बैठा व्यक्ति आदेश नहीं देगा, बल्कि शक्ति जनता की स्थानीय समितियों के हाथों में होगी। जिसका उद्देश्य लोगों को शिक्षित करना होगा। जिससे मनुष्यों को स्वयं में सोचने एवं निर्णय करने की शक्ति का विकास हो सके। इस प्रकार इसमें शासक, अधिनायक या नेता के रूप में न होकर दोस्त, दार्शनिक और पथ–प्रदर्शक के रूप में काम

करेंगे। इस प्रकार राय सत्ता के विकेन्द्रीकरण पर अत्यधिक बल देते हैं।

राय राष्ट्रवाद के प्रति भी अपनी अनास्था व्यक्त करते हुए कहते हैं कि यह 'भावुकता' पर आधारित होने के कारण राजनीतिक चिंतन का आधार नहीं हो सकता। साथ ही वे इसे पूंजीवादी शोषण तथा 'औपनिवेशिक विस्तारवाद' का प्रतीक मानते हुए, इसे फाँसीवाद का प्रेरक मानते थे, जिससे वे घृणा करते थे। उनकी दृष्टि में मानवीय अस्तित्व को नष्ट करने में फाँसीवाद से बढ़कर कोई और विचार धारा नहीं हो सकती। इसी कारण वे भारतीय राष्ट्रवाद की आलोचना करते हुए, उसे 'फॉसिस्ट संगठन' की संज्ञा देते है।

परम्परागत सिद्धान्तों में इन्ही कमियों को देखते हुए राय 'नव मानववादी क्रांति' की वकालत करते हैं, जहाँ व्यक्ति स्वतंत्र चिंतन एवं जीवन, मर्यादित ढंग से जी सके। लेकिन 'क्रांति' का तात्पर्य केवल व्यवस्था परिवर्तन से नहीं, जो हिंसक व खूनी प्रक्रिया पर आधारित होती है, यथा फ्रांस और रूस की क्रांतियों में हुआ। राय के अनुसार क्रांति के लिए भीड़ को विविध प्रकार के अन्याय तथा शोषण का बदला लेने की भावनाओं से भड़काया जाता है, जिससे भीड़ अनियंत्रित होकर लूट–पाट, हत्या, बलात्कार करती है तथा क्रांति के नेता वर्तमान शासकों एवं उनके साथियों को मौत के घाट उतार कर गद्दी हथिया लेते है। वे हमेशा इस आशंका में जीवित रहते हैं कि अब उनके विरुद्ध कोई अन्य क्रांति न हो सके। अत: वे रचनात्मक कार्यों को भुलाकर विरोधियों को कुचलने में अपनी सम्पूर्ण शक्ति विनष्ट कर देते हैं। इस प्रकार व्यक्ति एवं समाज अपनी स्वतंत्रता से च्युत होकर, दमनकारी नीतियों का गुलाम बन जाता है।

इसी कारण राय नव मानववादी क्रांति की कुछ विशिष्टताओं का उल्लेख करते हैं,

- यह क्रांति फ्रांस की तरह न तो केवल राजनैतिक होगी, न ही रूस की तरह केवल आर्थिक। यह एक सर्वांगीण क्रांति होगी। जिससे समाज के सभी पक्षों यथा, व्यक्ति, परिवार, समाज, राज्य, धर्म, साहित्य, शिक्षा एवं आर्थिक व्यवस्था प्रभृति का सम्यक् विकास हो सके।
- नव क्रांति के प्रयासरत् नेता सत्ता लोलुप न होकर सलाहकार एवं मित्र होंगे, जिनका परम साध्य स्वतंत्र एवं सृजनशील समाज का निर्माण करना होगा।

- इस क्रांति का आधार व्यापक जन–शिक्षा तथा नव–जागरण होगा, न कि हिंसा एवं रक्तपात। उनके अनुसार आज–कल की सरकारें इतनी शक्तिशाली हैं कि इनके विरुद्ध खूनी क्रांति को संगठित रूप देना असम्भव है।
- यह क्रांति अनियंत्रित भीड़ के माध्यम से नहीं, बल्कि विवेकपूर्ण लोगों के सुनियोजित प्रयत्नों के द्वारा सम्पन्न होगी।
- इस क्रांति के नेता केवल सर्वहारा वर्ग के ही हों, यह आवश्यक नहीं है।[२२] विवेकपूर्ण कोई भी व्यक्ति, इस क्रांति में भाग ले सकता है। राय के अनुसार निर्धन वर्ग के लोग दीर्घकालिक रचनात्मक प्रक्रिया में भाग नहीं ले सकते। वे अन्ततः इस प्रक्रिया से क्षुब्ध होकर हिंसक हो जाते हैं। अतः इस क्रांति के लिए 'सुशिक्षित मध्यम वर्ग'[२३] की आवश्यकता है, जो 'स्वाभाविक बौद्धिकता'[२४] से युक्त होगा एवं जो धैर्यपूर्वक सतत् रूप से इस क्रान्ति के लिए प्रयासरत रह सकेगा।
- नव क्रांतिवादी प्रक्रिया अनवरत चलने वाली प्रक्रिया है, जिसका कभी अन्त नहीं है। सामान्यतः अन्य क्रान्तियों के पूर्ण होने पर तानाशाही एवं दमनचक्र आरम्भ होते हैं, जिसका नव मानववादी क्रांति में कोई स्थान नहीं है।
- इस क्रांति का प्रारम्भ ऊपर से नीचे की ओर न होकर, नीचे से ऊपर की ओर होगा।
- यह क्रांति छल–कपट पर आधारित न होकर मानव की जन्मजात प्रवृत्तियों यथा स्वतंत्रता की खोज, विवेकशीलता, नैतिकता तथा सहकार्य पर आधारित होगी। जिसमें खुलेपन पर अत्यधिक बल रहेगा।

राय के अनुसार नव मानववाद किसी एक राष्ट्र का दर्शन न होकर सम्पूर्ण मानव समाज का दर्शन है। नव मानववादी क्रांति तभी सफल होगी, जब इसका स्वरूप विश्वव्यापी होगा।[२५] साथ ही यह क्रांति तभी साकार होगी, जब वर्तमान 'आर्थिक–राजनीतिक' व्यक्ति का स्थान 'विवेकपूर्ण व्यक्ति' लेंगे, जो प्लेटो के 'दर्शनिक–राजा' के तुल्य होगा।

हालाँकि प्रो० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा का कहना है कि राय की प्रतिभा

ध्वंसात्मक थी, न कि रचनात्मक। एक तरफ जहाँ 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' को उन्होंने 'फॉसीवादी संगठन' कह डाला, वहीं दूसरी ओर 'भारत छोड़ो आन्दोलन' को 'ब्रिटिश शासकों' से कुचलने की अपील कर डाली। यह, ध्वंस का प्रतीक है। पुनश्च, उनके दर्शन में कोई मौलिकता नहीं है, जिसे अविकल कहा जा सके।[२६]

लेकिन ये सभी समीक्षाएं उचित नहीं हैं। वास्तविकता यह है कि उनके व्यक्तित्व में ध्वंसात्मक प्रवृत्ति कम, परन्तु रचनात्मक प्रवृत्ति अत्यधिक है। यह भी अटल सत्य है कि बिना ध्वंस के पुर्ननिर्माण सम्भव भी नहीं। एक ध्वंस, विध्वंसक होता है, जिसका स्वरूप मूलत: निषेधात्मक होता है। यह त्याज्य एवं अग्राह्य है। जबकि दूसरा ध्वंस, पुनर्निर्माण पर आधारित होता है, जो भावात्मक है, जिसके बिना प्रगति असम्भव है। यह ग्राह्य एवं अपरिहार्य है। राय इसी भावात्मक प्रवृति को मानते थे, जिसका परम साध्य मानव कल्याण था। यही राय का धर्म भी है, जो कर्मकाण्ड, भजन, पंथ, सम्प्रदाय एवं अतीन्द्रिय सत्ता तथा इसकी वकालत करने वाले धर्म के ठेकेदारों की दमनात्मक प्रवृत्तियों पर आधारित न होकर शुद्ध मानवीय प्रेम, दया, करुणा, उदारता एवं समभाव पर आधारित है। इसी प्रकार राय के मानववाद की मौलिकता यह है कि उन्होंने वर्तमान परिस्थितियों के अनुसार इसे परिष्कृत एवं परिमार्जित कर, इसे एक वैज्ञानिक आधार प्रदान किया। परिवर्तन का आधार क्रांति न हो, बल्कि व्यापक जन–शिक्षा एवं जन–जागरण हो, क्योंकि इसके आधार पर लाया गया परिवर्तन स्थायी होगा।

अब समस्या यह है कि ऐसी परिस्थितियों में जहाँ 'व्यक्तिगत स्वतंत्रता' साध्य हो, क्या 'समाजवाद' सुसंगत है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें दोनों अवधारणाओं को पृथक्–पृथक् रूप में समझना होगा। पहला यह कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता का तात्पर्य क्या है? क्या यह असीमित स्वतंत्रता है? और दूसरा यह कि समाजवाद का स्वरूप क्या है? जब हम व्यक्तिगत स्वतंत्रता की बात करते हैं, तब स्पष्टत: इसका अर्थ असीमित स्वतंत्रता से नहीं है, क्योंकि असीमित स्वतंत्रता एक अमूर्त एवं कल्पित अवधारणा है, जिसका व्यवहारत: रूपांतरण असम्भव है। यहाँ स्वतंत्रता का तात्पर्य आत्मानुशासन या आत्म नियंत्रण से है जो बाह्य दमनकारी शक्तियों तथा आंतरिक क्षुद्र प्रवृत्तियों इन दोनों का परिष्कार करते हुए 'विवेकपूर्ण आत्मनियंत्रण' की वकालत करती हैं। यही सच्ची स्वतंत्रता है।

दूसरी तरफ समाजवाद के विविध रूप हैं। यहाँ राय का तात्पर्य मूलत:

'मार्क्सवादी समाजवाद' से है। राय मार्क्सवाद के आलोचक नहीं, बल्कि प्रशंसक थे। परन्तु उन्होंने साम्यवाद की आलोचना अवश्य की, क्योंकि इसमें व्यक्तिगत स्वतंत्रता का लोप हो जाता है। व्यक्ति 'पार्टी एवं 'पालित ब्यूरो' का दास या गुलाम बन कर रह जाता है। जिसमें स्वतंत्र विचारों की अभिव्यक्ति असम्भव हो जाती है। राय मानते हैं कि मार्क्स व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अगुवा दार्शनिक था, लेकिन मार्क्सवाद, तानाशाही शासकों के हाँथों में आकर अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता की आत्महत्या कर लेता है। इसी कारण राय, साम्यवादी विचारधारा के प्रति असहमति व्यक्त करते हुए, मानववाद की वकालत करते हैं। जहाँ व्यक्ति ही परम साध्य है जबकि अन्य सभी तंत्र साधन मात्र हैं। यहाँ शासक तानाशाह नहीं, बल्कि दोस्त एवं सलाहकार हुआ करता है। इस प्रकार व्यक्तिगत स्वतंत्रता 'मार्क्सवादी समाजवाद' की अपेक्षा, मानववाद के साथ अत्यधिक सुसंगत है।

जे०पी० सार्त्र भी व्यक्तिगत स्वतंत्रता के साथ मानववाद का उद्‌घोष करता है। लेकिन सार्त्र स्वतंत्रता को असीमित स्वतंत्रता के रूप में लेता है। वह मानता है कि स्वतंत्रता मनुष्य का स्वभाव या गुण नहीं, बल्कि स्वतंत्रता ही अस्तित्व है। इस रूप में केवल मनुष्य ही अस्तित्ववान है। सार्त्र स्वतंत्रता का अर्थ अभाव से लेता है। जहाँ अभाव है, वहाँ चयन (Selection) भी है और हमें प्रत्येक परिस्थितियों में चुनाव तो करना ही पड़ेगा। चुनाव न करना या चुनाव को टालना भी एक प्रकार का चुनाव ही है। इसीलिए सार्त्र कहता है कि 'मनुष्य स्वतंत्र होने के लिए अभिशप्त है' (Man is condemned to be free) । इस प्रकार मनुष्य प्रत्येक परिस्थितियों में स्वतंत्र है। वह स्वतंत्रता से बच नहीं सकता। इस प्रकार स्वतंत्रता उसकी विवशता या एक प्रकार की मजबूरी है। इसीलिए वह अपनी पुस्तक (Being and Nothingness) में स्वतंत्रता के तीन रूप मानता है;

- अपने आप में सत् (Being-in-itself)
- अपने लिए सत् (Being-for-itself)
- दूसरों के लिए सत् (Being-for-others)

अपने आप में सत् केवल जड़ वस्तुएँ हैं। परन्तु मनुष्य अपने लिए सत् है, साथ ही वह दूसरों से सम्बन्ध भी चाहता है। अत: इन दोनों ही रूपों में स्वतंत्रता सम्भव है। इस प्रकार केवल मनुष्य ही स्वतंत्र है, अन्य वस्तुएँ नहीं, क्योंकि उसमें कोई अभाव नहीं है। यही कारण है कि सार्त्र ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार कर

देता है। उसके अनुसार ईश्वर को 'चेतन' तथा 'पूर्ण' दोनों माना जाता है। लेकिन जो चेतन होगा, वह पूर्ण नहीं हो सकता, क्योंकि चेतना विषयापेक्षी होती है। इस प्रकार चेतना अभाव का द्योतक है, जबकि ईश्वर तो पूर्ण है। अत: ईश्वर का प्रत्यय एक 'आत्मविरोधी प्रत्यय' है।

यही कारण है कि सार्त्र मूल्यों का स्रोत भी ईश्वर को न मानकर 'व्यक्ति' को ही मानता है। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति मूल्यों का स्रोत है, परन्तु प्रत्येक का प्रत्येक निर्णय नैतिक निर्णय नहीं होता है। किसी भी व्यक्ति का केवल वही निर्णय नैतिक होता है, जिसके प्रति उस व्यक्ति की प्रतिबद्धता (Committment) हो तथा जो निर्णय केवल अपने के लिए नहीं, बल्कि समग्र मानव हित में लिया गया हो।

इस प्रकार सार्त्र अपने दर्शन में 'असीमित स्वतंत्रता' की बात करता है, जिसका कोई अंतिम लक्ष्य नहीं। स्पष्टत: यह स्वतंत्रता एक प्रकार की आकारिक स्वतंत्रता है। यहाँ पर जी० मार्सल भविष्यवाणी करता है कि यदि सार्त्र व्यक्तिगत सम्बन्ध को नहीं मानता और न ही ईश्वर को मानता है, तो सार्त्र के दर्शन का अंतिम पर्यवसान एकमात्र मार्क्सवाद ही होगा। मार्सल की भविष्यवाणी अक्षरश: सत्य होती है, क्योंकि सार्त्र अपनी महत्वपूर्ण पुस्तक 'क्रिटिक ऑफ डायलेक्टिक रीजन' (Critique of Dialectic Reason) में यह स्वीकार करता है कि २०वीं शताब्दी में एक ही दर्शन है और वह है मार्क्सवाद। इस प्रकार जिस व्यक्तिगत स्वतंत्रता के लिए सार्त्र, अस्तित्ववाद की स्थापना करता है वह मार्क्सवाद में आकर अपनी आत्महत्या कर लेती है। यद्यपि सार्त्र इस प्रश्न का उत्तर इस ग्रन्थ के दूसरे संस्करण में देने की बात करता है। इसी बीच सार्त्र की मृत्यु हो जाती है। अत: यह कहा जा सकता है कि सार्त्र का दर्शन, मार्क्सवाद में अपनी पूर्णता को प्राप्त करता है, परन्तु दिखाई नहीं देता।

राय स्वतंत्रता को मानते हैं, परन्तु इनकी स्वतंत्रता सैद्धांतिक नहीं जैसा कि सार्त्र मानता है। राय की स्वतंत्रता व्यावहारिक है, क्योंकि यह कोई सिद्धांत पर आधारित न होकर साक्षात् व्यावहारिक अनुभव पर आधारित एक तथ्य है। राय स्वयं मैक्सिको में साम्यवादी दल की स्थापना कर चुके थे तथा रूस में कई वर्षो तक रहकर इसकी विसंगतियों का व्यावहारिक अनुभव कर चुके थे। इसीलिए उन्होंने घोषणा की कि साम्यवादी स्वतंत्रता केवल नाम की है। यहाँ के शासकों की

स्थिति किसी तानाशाहों से कम नहीं है। अत: उन्होंने मानववाद की वकालत की, जो दलगत राजनीति से ऊपर उठकर शुद्ध रूप से मानवीय कल्याण पर आधारित है। जहाँ व्यक्ति दास नहीं बल्कि व्यक्ति है। सार्त्र के समान राय ईश्वर को तो नहीं मानते, परन्तु इसके विपरीत वे व्यक्तिगत सम्बंधों को अवश्य ही स्वीकार करते हैं[२७], जिससे वे सार्त्र के दर्शन में उत्पन्न विसंगतियों से बच गये। यही नहीं, सार्त्र अंतत: अपने मानववाद को मार्क्सवाद में परिणत कर देते हैं। जबकि राय अपने मानववाद को मार्क्सवाद से पृथक करते हैं। इसीलिए वे लिखते हैं कि स्वतंत्रता के मूलत: तीन आधार हैं, मानववाद, व्यक्तिवाद एवं बुद्धिवाद।[२८] यही राय का अविकल मानववाद है, जो शुद्ध रूप से वैज्ञानिक है। इस प्रकार राय के मानववाद में पाश्चात्य एवं भारतीय मानववाद का एक अद्‌भुत संगम है।

प्रश्न उठता है कि राय के मानववाद की वर्तमान में क्या प्रासंगिकता है? यद्यपि यह अक्षरश: सत्य है कि मानववादी प्रवृत्ति कोई नूतन अवधारणा नहीं है, तथापि राय ने जिस दक्षता एवं कुशलता के साथ इसको प्रस्तुत किया, वह अत्यन्त ही मौलिक है। 'मनुष्य ही सभी वस्तुओं का मापदण्ड है', केवल यही कहना पर्याप्त नहीं है। यह अवधारणा ऊपरी तौर पर जितनी सार्थक प्रतीत होती है, उतनी है ही नहीं। यदि प्रत्येक व्यक्ति सभी वस्तुओं का मापदण्ड है एवं वही मूल्यों का स्रोत भी है, तो प्रत्येक के लिए सत्य पृथक्–पृथक् होगा। तब यथार्थता का स्वरूप क्या होगा? स्पष्टत: यह स्थिति 'अनिश्चितता' के साथ–साथ 'सामाजिक संघर्ष' का भी द्योतक है। इसीलिए राय अपने मानववाद को विवेकशीलता पर आधारित करते हैं। व्यक्ति का महत्व अवश्य ही है लेकिन राय के विचार में व्यक्ति वस्तुओं का मापदण्ड नहीं हो सकता। क्योंकि मानवीयता का आधार मानवीय कल्याण है, जो किसी भी प्रकार अन्य मानव हितों की उपेक्षा नहीं करता है। इसीलिए राय अपने मानववाद को हिंसा एवं रक्तपात पर आधारित न कर विवेकशीलता एवं व्यापक जन–शिक्षा तथा जन–जागरण पर आधृत करते हैं। स्पष्टत: राय का यह संकल्प व्यक्तिगत न होकर सार्वभौमिक दृष्टिकोण को प्रतिबिम्बित करता है साथ ही हिंसा एवं रक्तपात से असम्पृक्त होकर जन–शिक्षा एवं जन–जागरण की वकालत करना, यह राय का मानव के प्रति संवेदनात्मक पक्षों को उजागर करता है। सत्य तो यही है कि हिंसा एवं रक्तपात अस्थायी होते हैं, जबकि प्रेम एवं सद्‌भाव स्थायी। इस प्रकार राय अपने मानववाद में क्षणिक मूल्यों की अपेक्षा

शाश्वत एवं पवित्र नैतिक मूल्यों की वकालत करते हैं, जिसकी प्रासंगिकता आगत में ही नहीं बल्कि अनागत में भी बनी रहेगी।

राय का मानववाद इसलिए भी प्रासंगिक हो गया है, क्योंकि आज के बदलते परिदृश्य में, जहाँ सम्पूर्ण विश्व एक 'स्थानीय गाँव' (Local village)[२९] बनकर रह गया है। कोई भी राष्ट्र केवल अपने राष्ट्र की चहारदीवारी तक सिमट कर नहीं रह सकता है। अब उसका कोई भी निर्णय केवल एक राष्ट्र को प्रभावित न कर समग्र विश्व को प्रभावित कर रहा है। ऐसी परिस्थिति में राय का नव मानववाद, जिसमें वे राष्ट्र की संकीर्ण परिधि से ऊपर उठकर सर्वदेशीय (Cosmopolitan)[३०] मानववाद की वकालत करते हैं, अवश्य ही प्रासंगिक हो जाता है। राय के अनुसार राष्ट्रीयता जातीय विद्वेष पर आधारित होने के कारण एक प्रकार की प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण है, क्योंकि यह सामाजिक प्रश्नों की उपेक्षा करता है।[३१] इसीलिए उनका मानववाद टैगोर, गाँधीजी एवं अरविन्द की भाँति सर्वदेशीय (Cosmopolitan) अवधारणा पर आधारित है। राय के अनुसार सर्वदेशीय एवं अंतरराष्ट्रीयता (Internationalism) में विभेद है। अंतरराष्ट्रीयता इस मान्यता पर आधारित है कि पृथक्– पृथक् राष्ट्रों का अस्तित्व है, जबकि वैश्विक सरकार की स्थापना पृथक्– पृथक राष्ट्रों के प्रति उदासीनता भाव से ही स्थापित हो सकती है।[३२] इस प्रकार सर्वदेशीय, वैश्विक समाज के समानार्थक हैं। अन्तरराष्ट्रीयवाद और भूमण्डलीकरण का विभेद करते हुए एंथोनी मैकग्रेव अपने लेख ''ग्लोबलाइजेशन और ग्लोबल पॉलिटिक्स'' में लिखते हैं कि जहाँ अन्तरराष्ट्रीयवाद में पृथक्–पृथक् राष्ट्र अपनी राष्ट्रीय सीमाओं के साथ बने रहते हैं वहीं भूमण्डलीकरण में आन्तरिक और बाह्‌य सीमाओं के बीच विभेद शनैः–शनैः धूमिल होने लगता है। इसका तात्पर्य नहीं है कि राष्ट्र की अवधारणा ही समाप्त हो जाएगी बल्कि इसका तात्पर्य केवल इतना है कि राष्ट्र का सापेक्षिक महत्व कम होता जाता है क्योंकि सामाजिक, आर्थिक, एवं राजनीतिक संबंध के रूप में विभिन्न राष्ट्र एक दूसरे के अत्यधिक सन्निकट आने लगते हैं।[३३]

राय की प्रासंगिकता का यह भी कारण है कि आज के वैज्ञानिक युग में जहाँ सत्यता का मापदण्ड 'बौद्धिकता' एवं 'प्रयोग' है, उन्होंने इसी मंत्र का सार्थक प्रयोग अपने सिद्धान्तों में किया है। जिससे उनका सिद्धान्त परम्परागत अन्ध विश्वासों से ऊपर उठकर शुद्ध बौद्धिक एवं वैज्ञानिकता के व्यापक आधार के रूप

में स्थापित हो गया। राय के अनुसार आध्यात्मिक होना पिछड़ेपन का प्रतीक है। यह सिद्धान्त व्यक्ति एवं समाज को कोरा भाग्यवादी बना देता है। जहाँ व्यक्ति ईश्वर पर भरोसा कर के कर्म का परित्याग कर देता है। जबकि राय के अनुसार आज का विश्व, मनुष्य के कार्यों का लेखा–जोखा है। इसीलिए मनुष्य को अपने पौरुष में विश्वास करते हुए कर्मपथ पर सतत् अग्रसर रहना चाहिए। इसे काण्ट की भाषा में 'कर्तव्य के लिए कर्तव्य' तथा गीता की भाषा में 'अनासक्ति कर्मयोग' का सिद्धान्त कहा जा सकता है, जहाँ व्यक्ति कर्म का परित्याग नहीं करता, क्योंकि कर्म से ही तो सम्पूर्ण जगत की प्रतिष्ठा है।

इस प्रकार राय अपने मानववाद में जहाँ ग्रीक दर्शन में प्रचलित मानववाद की व्यक्तिगत स्वार्थ लोलुपता का परित्याग करते हैं, वहीं आध्यात्मिक मानववाद (मानवतावाद) की धर्मान्धता का भी परिष्कार करते हैं। इसके साथ–साथ वे अपने मानववाद में साम्यवादी समाज की तानाशाही एवं अड़ियल रवैया के प्रति भी एक प्रकार का प्रतिवाद करके 'विवेकपूर्ण मानववाद' की स्थापना करते हैं, जो अन्य मानववादी अवधारणाओं की तरह संकीर्णता, कठोरता एवं अवैज्ञानिकता पर आधारित न हो कर शुद्ध बौद्धिकता एवं वैज्ञानिकता पर आधारित एक कटु सत्य है। यदि राय ने राष्ट्रवादियों को फॉसिस्ट नहीं कहा होता और न ही ब्रिटिश शासन के प्रति अपनी आस्था व्यक्त किये होते, तो वे भी गाँधी जी की तरह एक युगद्रष्टा पुरुष के रूप में स्थापित हो गये होते। इन कमियों के बावजूद भी राय का मानववाद आज भी समीचीन एवं प्रासंगिक है।

संदर्भ

1. न्यू आक्सफोर्ड एडवांस लर्नर्स डिक्शनरी २००५ पृष्ठ – ७६०।
2. लेवी फ्रैगल (१९९६) 'ए ग्लोबल ह्यूमेनिस्ट आइडेन्टिटी', इंटरनेशनल ह्यूमेनिष्ट न्यूज, खण्ड – ४ संख्या – ३ए पृष्ठ ७–८।
3. फिंगर हीआर्थ (१९९६): 'इण्ट्रोडक्शन टू ह्यूमेनिज्म' पृष्ठ –१६४।
4. ए० सोलोमॉन (१९९७): 'बुद्धिवाद और मानवतावादी दृष्टिकोण', अनुवादक रमेन्द्र, पृष्ठ– ५–६।
5. विनयपिटक: १/२१।
6. बोधिसत्व वह जीवन मुक्त पुरुष है, जो महाकरुणा से आप्लावित होकर, लोक कल्याणार्थ अपने जीवन को समर्पित कर देता है। वह संकल्प

करता है कि 'मैं तब तक परिनिर्वाण ग्रहण नहीं करूँगा, जब तक विश्व का प्रत्येक प्राणी निर्वाण में प्रतिष्ठित नहीं हो जाता है।'

7. लंकावतार सूत्र– ६६/६। मानववाद से संबंधित यह सिद्धांत एम० एन० राय ने अपने रेडिकल डेमॉक्रैटिक पार्टी के बम्बई अधिवेशन (२६ .३० दिसम्बर १९४६) में अभिव्यक्त किया। जो कालान्तर में उनके ग्रन्थ 'न्यू ह्यूमेनिज्म' में प्रकाशित हुआ।
8. एम०एन० राय (१९४७): 'न्यू ह्यूमेनिज्म' पृष्ठ–५०।
9. उपरोक्त: पृष्ठ–३४–३७।
10. एम०एन० राय (१९५२) 'रीजन, रोमान्टिसीज्म एण्ड रिवोल्यूशन' खण्ड–१, पृष्ठ–११।
11. एम०एन० राय (१९४७): 'न्यू ह्यूमेनिज्म' पृष्ठ–३६ और 'रीजन, रोमान्टिसीज्म एण्ड रिवोल्यूशन' (१९५५) खण्ड–२, पृष्ठ–३०।
12. एम०एन० राय (१९५२): 'रीजन, रोमान्टिसीज्म एण्ड रिवोल्यूशन' खण्ड–१, पृष्ठ–५–६ और 'रीजन, रोमान्टिसीज्म एण्ड रिवोल्यूशन' (१९५५) खण्ड–२, पृष्ठ–२८५।
13. एम०एन० राय (१९५५): 'रीजन, रोमान्टिसीज्म एण्ड रिवोल्यूशन' खण्ड–२, पृष्ठ–२५२, २७० एवं २७३।
14. एम०एन० राय (१९४७): 'न्यू ह्यूमेनिज्म' पृष्ठ–१४–१८।
15. उपरोक्त: पृष्ठ–३८।
16. आदि–पाप एवं आदि–पतन का उल्लेख ईसाई एवं यहूदी धर्म में मिलता है। जब आदम और ईव्ह ने ईश्वर के आदेश का उल्लंघन कर ज्ञान के वृक्ष का फल खा लिया था। यही आदि–पाप है, जिसकी सजा आज तक सम्पूर्ण मानव जाति भुगत रही है, क्योंकि इसमें जन्म से ही मनुष्य को पापी मान लिया गया है। इस आदि–पाप से मुक्ति के लिए मानव अब तक प्रयासरत है। इसीलिए ईश्वरीय प्रार्थना एवं पूजा का प्रावधान है। इस अवज्ञा के कारण ईश्वर ने आदम और ईव्ह को स्वर्ग से ढकेल दिया, जिससे वे पृथ्वी पर गिर गये, इसी पतन को आदि–पतन कहा गया है।
17. एम०एन० राय (१९५५): 'रीजन, रोमान्टिसीज्म एण्ड रिवोल्यूशन'

खण्ड–२, पृष्ठ–९३।
18. एम०एन० राय (१९५२): 'रीजन, रोमान्टिसीज्म एण्ड रिवोल्यूशन' खण्ड–१, पृष्ठ–५।
19. एम०एन० राय (१९४७): 'न्यू ह्यूमेनिज्म' पृष्ठ–१.१४।
20. एम०एन० राय (१९६०): 'पॉलिटिक्स, पॉवर एण्ड पार्टीज' पृष्ठ–१४१।
21. एम०एन० राय (१९५५): 'रीजन, रोमान्टिसीज्म एण्ड रिवोल्यूशन' खण्ड–२, पृष्ठ–२९४।
22. एम०एन० राय (१९४२): 'साइंटिफिक पॉलिटिक्स' पृष्ठ–१११।
23. एम०एन० राय (१९४७): 'न्यू ह्यूमेनिज्म' पृष्ठ–२९।
24. एम०एन० राय (१९४६): 'रिवोल्यूशन एण्ड काउन्टर–रिवोल्यूशन इन चाइना', पृष्ठ–३०।
25. एम०एन० राय (१९९९): 'बियॉण्ड कम्यूनिज्म' पृष्ठ–१३५।
26. विश्वनाथ प्रसाद वर्मा (१९९८): 'मार्डन इण्डियन पॉलिटिकल थॉट', पृष्ठ–५०८।
27. एम०एन० राय (१९४७): 'हेरॅसिज ऑफ द ट्वेंटीएथ सेंचुरी' पृष्ठ–१६५.१६६।
28. एम०एन० राय (१९४७): 'द प्राबलम ऑफ फ्रीडम', पृष्ठ–६१।
29. 'स्थानीय गाँव' (Local village) का सर्वप्रथम प्रयोग मार्शल मैकलुहान अपनी पुस्तक अण्डरस्टैंडिंग मिडिया (१९६४) में इलेक्ट्रानिक मिडिया क्रांति के संदर्भ में किया है।
30. एम०एन० राय (१९५५): 'रीजन, रोमान्टिसीज्म एण्ड रिवोल्यूशन' खण्ड–२, पृष्ठ–३१०।
31. एम०एन० राय (१९४७): 'द प्राबलम ऑफ फ्रीडम', पृष्ठ–११३–११६
32. एम०एन० राय (१९४७): 'न्यू ह्यूमेनिज्म' पृष्ठ–३०।
33. एंथोनी मैकग्रेव (१९४७): ''ग्लोबलाइजेशन और ग्लोबल पॉलिटिक्स'', जान वायलीज एवं स्टेव स्मिथ ''द ग्लोबलाइजेशन ऑफ द वर्ल्ड पॉलिटिक्स'' (सम्पादकीय), पृष्ठ–२४ ।

**

भूमण्डलीकरण में सूचना एवं प्रौद्योगिकी की भूमिका

19वीं० सदी के उत्तरार्द्ध में यूरोपीय समाज में कालविनिस्ट नीतिशास्त्र (इसके अन्तर्गत ईश्वर को सर्वोच्च सत्ता मानते हुए प्रतियोगिता एवं प्रतिस्पर्धा पर बल दिया गया है) के स्थान पर डार्विन ने अपनी पुस्तक 'ओरिजिन आफ द स्पेसीज' में योग्यतम का अवशेष (Survival of the Fittest) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। इसके अन्तर्गत ईश्वर के स्थान पर केवल प्रतिस्पर्धा को महत्व दिया गया है। जिसकी मूल संकल्पना यह है कि समाज में केवल योग्यतम ही अवशिष्ट रह जाता है, अयोग्य का समूल विनाश हो जाता है। हर्बर्ट स्पेन्सर अपनी पुस्तक डेटा आफ इथिक्स में विकास के इस सिद्धान्त को सामाजिक एवं नैतिक क्षेत्रों में लागू किया है। उसके अनुसार जिस प्रकार जीवों का विकास प्रतिस्पर्धा का प्रतिफल है, उसी प्रकार सामाजिक एवं नैतिक सिद्धान्तों के विकास में भी प्रतिस्पर्धा का महत्व है। डार्विन की तरह स्पेन्सर भी मानता है कि सरलता से जटिलता की ओर, अव्यवस्था से व्यवस्था की ओर, अनेकता से एकता की ओर अग्रसर होने का प्रक्रम ही विकास है। स्पेन्सर के अनुसार यह प्रक्रम केवल जीवों के विकास पर ही आरोपित नहीं होता, बल्कि सभी प्रकार के नैतिक एवं सामाजिक सिद्धान्तों का विकास भी इसी प्रक्रम पर आधृत है। इस प्रकार प्रतियोगिता एवं प्रतिस्पर्धा ही विकास का मूल है।

इसी परिप्रेक्ष्य में प्रतियोगिता एवं प्रतिस्पर्धा पर आधृत एक नूतन अवधारणा की शुरूआत 80 के दशक में भूमण्डलीकरण के रूप में होती है। जहाँ राष्ट्र अपनी सीमाओं की अलंघ्य दीवार को लाँघ कर सम्पूर्ण विश्व में सहजतापूर्वक बिना रोक–टोक अपना पैर पसार सके। भूमण्डलीकरण का सम्बन्ध मुख्यत:

आर्थिक पक्षों से है, जिसका तात्पर्य खुला बाजार एवं उन्मुक्त अर्थ व्यवस्था है। दूसरे शब्दों में, भूमण्डलीकरण का लक्ष्य निर्बाध रूप से व्यापार को प्रश्रय देना है, जिससे बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ विकासशील एवं अविकसित देशों में अपना प्रभुत्व स्थापित कर सकें, जिससे औद्योगिक दृष्टि से सम्पन्न राष्ट्रों को अपने माल की खपत के लिए एक बड़ा बाजार मिल सके। सूचना एवं प्रौद्योगिकी के विकास ने इसमें उत्प्रेरक का कार्य किया है, क्योंकि इसने राष्ट्रों के बीच एक प्रकार का संकुचन उत्पन्न किया है, जिससे सम्पूर्ण विश्व एक वैश्विक गाँव (Global Village) के रूप में परिवर्तित हो गया है। अब विश्व के किसी भी कोने में घटित घटना का तत्काल प्रभाव विश्व के दूसरे छोर पर दिखाई देता है। इस भूमण्डलीकरण का साक्षात् प्रभाव आर्थिक क्षेत्र के साथ–साथ सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों पर भी पड़ा है।

प्रश्न उठता है कि भूमण्डलीकरण क्या है? भूमण्डलीकरण को परिभाषित करते हुए थॉमस फ्राइडमैन लिखते हैं कि भूमण्डलीकरण बाजारों, अर्थव्यवस्था और प्रौद्योगिकियों का एकीकरण है। इसमें विश्व का मध्यम से छोटे रूप में ऐसा संकुचन हो रहा है जिससे हम सभी दुनिया के हर कोने में इतनी जल्दी और सस्ते में पहुँच जायें जितने में पहले कभी सम्भव नहीं था। पूर्व की सभी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थाओं की भाँति यह प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में घरेलू राजनीतियों, आर्थिक नीतियों तथा सभी देशों के विदेशी सम्बन्धों को स्वरूप प्रदान कर रहा है।[1] जबकि इण्डा और रोसाल्डो के अनुसार, भूमण्डलीकरण एक जटिल प्रक्रिया है। इसमें आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक सम्बन्धों के माध्यम से विश्व अत्यधिक अन्तर्सम्बन्धित हो रहा है। इसमें वैश्विक अन्तर्सम्बद्धता का तीव्रीकरण, आन्दोलनों तथा मिश्रण से परिपूर्ण विश्व सम्बन्ध और सम्पर्क चिरस्थायी सांस्कृतिक अन्तर्क्रियाएँ और विनिमय पर बल दिया जाता है।[2] वहीं एंथनी गिड्डेन्स मानते हैं कि दुनिया के स्तर पर सामाजिक सम्बन्धों का ऐसा तीव्रीकरण जो दूरस्थ क्षेत्रों को इस प्रकार से जोड़ता है जिससे स्थानीय गतिविधियों तथा बहुत अधिक किलोमीटर दूर की घटनाओं द्वारा एक दूसरे को स्वरूप प्रदान किया जाता है।[3] आर० राबर्ट्सन के अनुसार, भूमण्डलीकरण को एक ऐसी अवधारणा के रूप में परिभाषित किया गया है जो दुनिया के दबाव और दुनिया की चेतना में तीव्रीकरण दोनों में संयुक्त रूप से सम्बन्धित है।[4] स्टुअर्ट हाल के अनुसार, नये स्थान और समय में

संस्कृतियों और समुदायों के एकीकरण और उसे जोड़ने वाले तथा दुनिया को एक वास्तविकता और अधिकाधिक अन्तर्सम्बन्धित बनाने वाले अर्थ में भूमण्डलीकरण को देखा जा सकता है।[5] जबकि सच्चिदानन्द सिन्हा मानते हैं कि भूमण्डलीकरण सिर्फ व्यापार के लिए दुनिया को एक करना चाहता है, बाकी सारी बातें आनुषंगिक हैं। पुनश्च, वे लिखते हैं कि भूमण्डलीकरण का अभियान पूँजीवाद को राष्ट्रीय दायरों से परे ले जाने की अभिलाषा की अभिव्यक्ति है।[6] इसी प्रकार कोठारी टायनबी मानते हैं कि "भूमण्डलीकरण एक बहुस्तरीय प्रक्रिया न होकर एक प्रभुत्वशाली केन्द्र का घटक बन जाने का नाम है।"[7]

यदि भूमण्डलीकरण का गहनता से विवेचन किया जाय तो इसके आधार के रूप में मूलत: तीन विचार परिलक्षित होते हैं। पहला, कुछ आचार्यों का कहना है कि भूमण्डलीकरण कोई नूतन प्रक्रिया नहीं है, बल्कि इसका आरम्भ तो 17वीं–18वीं शताब्दी में हो चुका था, जब विश्व के अधिकांश देश इंग्लैण्ड और फ्राँस के उपनिवेश के रूप में स्थापित हो गये थे। इस परिस्थिति में यह देश अपने औपनिवेशिक देशों से कच्चा माल सस्ते दामों पर खरीद कर अपने देश में आयात करते थे, तथा उससे तैयार सामान को पुन: उन्हीं देशों में मँहगे दामों में बेचते थे, इससे इन देशों के बीच व्यापार का आदान–प्रदान बढ़ा। ध्यातव्य है कि 18वीं शताब्दी में ब्रिटेन सर्वाधिक औद्योगिक सम्पन्न राष्ट्र था। लेकिन औद्योगिक देशों के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती उसके माल के खपत की होती है, इसी निमित्त व्यापार के समक्ष उपस्थित बाधाओं को समाप्त कर स्वतंत्र व्यापार का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया। जिसके संस्थापक एडम स्मिथ स्वयं ब्रिटेन के निवासी थे। लेकिन जो देश औद्योगिक दृष्टि से विपन्न थे वे संरक्षण की नीति को स्वीकार करते थे, जैसा कि उस समय जर्मनी का हाल था। यही नहीं अमेरिका तो शुरू से ही इस नीति का समर्थक रहा है। यद्यपि 1929 के आर्थिक मन्दी के दौरान उसकी इस नीति में थोड़ा परिवर्तन आया। वह उदारीकरण का पोषक होते हुए भी अपने उद्योगों के संदर्भ में इस नीति पर पूरी तरह अमल नहीं करता था। लेकिन इतना तो सत्य है कि आज जिसे हम भूमण्डलीकरण की संज्ञा देते हैं, इसकी मूल संकल्पना उदारवाद पर ही आधृत है। जिसका आरम्भ 18वीं शताब्दी में हो चुका था। यद्यपि विकसित एवं तीव्र संचार माध्यमों के अभाव में वह उतना पल्लवित एवं पुष्पित नहीं हो सका।

वैश्वीकरण की दूसरी अवस्था आधुनिक युग में आरम्भ होती है। आधुनिक युग सूचना एवं प्रौद्योगिकी का युग है, जिसने औद्योगिक क्रान्ति को उर्वरता प्रदान की है। जिस सूचना एवं संचार के अभाव में वैचारिक आदान प्रदान नहीं हो पाता था, अब वह अवरोध समाप्त हो गया। सूचना एवं प्रौद्योगिकी के विकास ने विश्व के एकीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है, क्योंकि सूचना के तीव्र प्रभाव से सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक एकता स्थापित हुई है। आज विश्व के किसी भी कोने में घटित घटना व्यक्ति इण्टरनेट या अन्य संचार माध्यमों से विश्व के किसी भी कोने में देख सकता है। अत: विश्व के सभी देश संचार के माध्यम से एक मुख्य धारा से जुड़ गये हैं। ए० हागवेल्ट मानते हैं कि वैश्वीकरण की प्रक्रिया को आधुनिकीकरण ने बढ़ाया है।[8] इसका समर्थन आर० राबर्ट्सन ने भी किया है।[9] स्पष्टत: आधुनिकीकरण का मुख्य प्रभाव भूमण्डलीकरण रहा है, जिसे मैन (Mann, 1993) वैश्विक समाज (Global Society) कहता है।

भूमण्डलीकरण की तीसरी अवस्था को विश्व में होने वाले राजनीतिक ध्रुवीकरण के रूप में रखा जा सकता है, जब विश्व के राजनीतिक पटल पर साम्यवाद् के पोषक रूस एवं चीन की राजनीतिक गतिविधियों में व्यापक परिवर्तन होता है और पूँजीवाद अपनी जड़ें गहरी कर लेता है। इस प्रवृत्ति की शुरुआत तो द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् ही होने लगी थी, जब युद्ध में जापान एवं यूरोप के देश बुरी तरह क्षतिग्रस्त हो गये, ऐसी स्थिति में राजनीतिक क्षितिज पर दो राजनीतिक शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ। एक तरफ, अमेरिका जो न केवल सैनिक दृष्टि से एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में उभरा बल्कि एक औद्योगिक राष्ट्र के रूप में भी स्थापित हुआ, क्योंकि जापान एवं यूरोपीय देश द्वितीय विश्व युद्ध में पूरी तरह तबाह हो चुके थे। दूसरी तरफ, रूस जो यद्यपि युद्ध में नेस्तनाबूद हो चुका था, परन्तु एक सैनिक शक्ति के रूप में पश्चिमी यूरोप के देशों से अधिक शक्तिशाली रूप में उभरा। यही नहीं 1948 में चीन में भी साम्यवाद् की स्थापना हो गयी। ध्यातव्य है कि रूस एवं चीन में साम्यवाद का आरम्भ पूँजीवाद एवं साम्राज्यवाद के प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ। इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व का ध्रुवीकरण दो महाशक्तियों के रूप में हुआ: पूँजीवाद, जिसके पोषक अमेरिका, पश्चिमी यूरोप के देश एवं जापान थे तथा साम्यवाद, जिसके पोषक रूस एवं चीन थे। इन दोनों

के अलावा कुछ तटस्थ देश भी थे, जो कालान्तर में गुट निरपेक्ष देश के रूप में जाने गये तथा जिस पर अपना बर्चस्व स्थापित करने के लिए इन दोनों महाशक्तियों में होड़ लगी हुई थी।

80 के दशक में राजनीतिक घटनाक्रम में अचानक बहुत तेज परिवर्तन आया एवं साम्यवाद के विरुद्ध लहर तीव्र हो गई, जिसका पर्यवसान साम्यवाद के पराभव के रूप में हुआ। क्योंकि तत्कालीन संयुक्त सोवियत संघ के राष्ट्रपति मिखाइल गोर्वाचोब ने 'पेरेस्त्रोइका' एवं 'ग्लासनोस्त' का सिद्धान्त लागू किया, जिसका अर्थ 'मुक्त अर्थव्यवस्था' एवं 'पुनर्निर्माण' होता है। इसी प्रकार चीन ने भी 'पूँजीवादी बाजार व्यवस्था को' अंगीकार कर लिया, अब सम्पूर्ण विश्व में केवल एक ही व्यवस्था अवशिष्ट रह गयी और वह थी पूंजीवादी व्यवस्था, जिसका अगुवा राष्ट्र अमेरिका था। इस प्रकार सम्पूर्ण राष्ट्र का ध्रुवीकरण पूंजीवादी व्यवस्था के रूप में हो गया। इस सम्बन्ध में प्रो० सच्चिदानन्द सिन्हा लिखते हैं कि भूमण्डलीकरण दरअसल पूंजीवाद का तत्कालीन एकक्षत्रता का उद्घोष करता है, लेकिन भूमण्डलीकरण से जैसी एकता का भ्रम होता है, वास्तव में वह वैसी नहीं है। इसके भीतर अनेक प्रकार के अन्तर्विरोध हैं और कुछ तो आज भी मर्णांतक बने हुए हैं, पूंजीवाद का वर्तमान भूमण्डलीकरण के स्तर तक पहुँचने की लम्बी प्रक्रिया रही है, जिसमें भय एवं प्रलोभन दोनों की भूमिका है।[10]

द्वितीय विश्वयुद्ध के उपर्यन्त ब्रिटेन, फ्राँस, जापान आदि देशों के राष्ट्रों के पुनर्निर्माण के लिये न्यू हैम्पशायर की पहाड़ी सैरगाह ब्रेटेन वुड्स में 1944 में सम्मेलन बुलाया गया। जिसमें दुनिया की भावी अर्थव्यवस्था का स्वरूप तैयार किया गया। इसका नेतृत्व अमेरिका के हाथों में था। वास्तव में पूंजीवादी व्यवस्था की कमी यह है कि यह अपने आप में पूर्ण नहीं हो सकती। इसके विनिमय के लिए आवश्यक है कि दूसरी आर्थिक इकाइयाँ उपलब्ध हों। एतदर्थ दो अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं, 'अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष' एवं 'विश्व बैंक' (इंटरनेशनल बैंक फार रि–कान्स्ट्रक्शन एण्ड डेवलपमेन्ट) की स्थापना की गई। जिनका कार्यालय वाशिंगटन डी० सी० में स्थापित हुआ। इन संस्थाओं का मुख्य उद्देश्य था दुनिया की ध्वस्त अर्थव्यवस्था का पुनर्निर्माण । लेकिन पुनर्निर्माण करना तो इसका छद्म रूप था, इसका वास्तविक लक्ष्य एक ऐसे 'अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन' की स्थापना था, जो स्वतंत्र व्यापार के नियमों का द्वार खोल सके, लेकिन कुछ बाधाओं के कारण ऐसा

नहीं हो सका। अत: गैट (जनरल एग्रीमेन्ट ऑन ट्रेड एण्ड टैरिफ) की स्थापना हुई। कालान्तर में 'उरुग्वे चक्र' के पूरा होने पर दुनिया के अधिकांश देशों का गैट समझौते पर हस्ताक्षर हुआ, जिससे 'विश्व व्यापार संगठन' (World Trade Organisation) अस्तित्व में आया।

ध्यातव्य है कि इन संस्थाओं के साथ–साथ 1945 में संयुक्त राष्ट्र संघ (U.N.O.) की स्थापना हुई, इन सभी संस्थाओं पर अमेरिका का आधिपत्य रहा है। प्रारम्भ में रूस एवं चीन, येनकेनप्रकारेण इस संस्था पर दबाव बनाने में सफल रहे, परन्तु इन राष्ट्रों से साम्यवादी परम्परा का अन्त होने के उपर्यन्त इस पर एकछत्र अधिकार अमेरिका का हो गया। अब रूस एवं चीन अपने वीटो के साथ उपस्थित तो थे परन्तु अब वे इसका प्रयोग बिना अमेरिका की अनुमति के नहीं कर सकते थे। चाहे ईराक का युद्ध हो या अरब–इसराइल का संघर्ष, यूगोस्लाविया का मामला हो या अफगानिस्तान का। अमेरिका सीधे–सीधे संयुक्त राष्ट्र संघ की नीतियों को अपने निहित स्वार्थ के लिए प्रभावित करने लगा और बाकी सभी देश मूक दर्शक बनकर देखते रहे। स्पष्टत: भूमण्डलीकरण के नाम पर औद्योगिक देश अपने मालों के बड़े बाजार के रूप में विकासशील देशों को चुनने लगे, जहाँ उनके मालों की भारी खपत हो सके। यद्यपि इस मार्ग में कई बाधाएं थीं, जिससे यह उद्देश्य सफल नहीं हो पा रहा था। इसी कारण भूमण्डलीकरण की चाल चली गयी। जिससे विकासशील देश अपने दरवाजे औद्योगिक पूँजीवादी व्यवस्था के लिए खोल दें। स्पष्टत: जहाँ इसका लाभ औद्योगिक देशों को मिला वहीं विकासशील देशों पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ा, क्योंकि यह तो औद्योगिक क्षेत्र में इतने विकसित नहीं थे कि अपने यहाँ तैयार मालों का निर्यात दूसरे देशों में कर सकें। इस प्रकार भूमण्डलीकरण का नारा देकर सम्पूर्ण विश्व को एक गाँव के रूप में प्रस्तुत किया गया।

भूमण्डलीकरण सम्पूर्ण विश्व का ध्रुवीकरण है, जहाँ राष्ट्र अपनी सीमाओं को लांघ कर सम्पूर्ण विश्व को एक वैश्विक गाँव के रूप में प्रस्तुत करता है। आर० स्टिचवे के अनुसार अधिराष्ट्रीय राजनीतिक संरचना (Supranational Political Structure) के द्वारा एक विश्व समाज (World Society) प्रस्तुत किया जायेगा।[11] इसके अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों पर शासन की निर्भरता बढ़ेगी, द्विपक्षीय तथा बहुपक्षीय समझौतों द्वारा इसमें वृद्धि होगी। इस प्रकार राष्ट्रों

की स्वतन्त्रता प्रभावी होगी। प्रश्न उठता है कि क्या भूमण्डलीकरण में राष्ट्र राज्य की अवधारणा समाप्त हो जायेगी? स्पष्टत: राष्ट्र के अन्तर्गत जनसंख्या, निश्चित भू–भाग तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता की बात होती है। इसलिए निश्चित रूप से राष्ट्र बने रहेंगे। इस दृष्टि से वायमें लिखते हैं कि भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया के बावजूद अन्तर्राज्यीय व्यवस्था (Interstates System) में शासन की भूमिका महत्वपूर्ण होगी; जबकि, राजनीतिक संगठनों का कार्य सम्पादनीय स्वरूप तुलनात्मक दृष्टि से कम मे सफल होगा। इसका कारण यह है कि यूनाइटेड नेशन्स (U.N.) जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का निर्माण राष्ट्र–राज्य के प्रतिनिधि के रूप में ही है; . ...अन्तर्राष्ट्रीय जगत में एक राज्य की वैधता का प्रमुख स्रोत उसे दूसरे राष्ट्रों द्वारा मिलने वाली स्वीकृति होती है।[12] इस प्रकार सिद्धान्तत: तो राष्ट्र–राज्य की अवधारणा पुष्ट होगी परन्तु उनकी स्वतन्त्रता केवल नाम मात्र की होगी क्योंकि वे कोई भी निर्णय स्वतन्त्र रूप से नहीं कर सकते। इसके लिए वैश्विक निर्भरता बढ़ेगी। जैसा कि रजनी कोठारी लिखते हैं कि "खास बात यह है कि यह सब जानते हुए भी हर क्षेत्र में पूँजीवादी कारपोरेट संस्कृति का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। समाजवादी दुनिया हो, तीसरी दुनिया हो, पश्चिम के लोकोपकारी राज्य के दायरे हों, या फिर 'जनता के प्रतिनिधि' (चुने हुए प्रतिनिधि और खुद को प्रतिनिधि कहने वाले स्वयंसेवी संगठन) हों; सभी इस संस्कृति के सामने झुक गये हैं, बावजूद इसके कि इन लोगों को अच्छी तरह पता है कि इस मॉडल का नतीजा केवल एक ही होगा कुछ लोगों को लाभ, बड़े पैमाने पर जनता की विपन्नता, अशांति, विद्वेष और कलह में बढ़ोतरी और परिणामस्वरूप राजनीतिक अस्थिरता।"[13]

यदि भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया पर सूक्ष्मता से विचार करें तो पाते हैं कि इसकी पृष्ठभूमि में कहीं न कहीं पूंजीवादी पोषक राष्ट्रों का एक निहित उद्देश्य रहा है। जिसमें साम्यवादी व्यवस्था का पतन सबसे बड़ा कारण है। परन्तु इस भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया में तीव्रता लाने का श्रेय सूचना प्रौद्योगिकी को है। 1960 के दशक के बाद सेटेलाइट क्रान्ति ने जनसंचार माध्यमों की नई–नई तकनीकों को प्रस्तुत किया, यथा, टेलीविजन, कम्पयूटर, इण्टरनेट, मोबाइल फोन प्रभृति। जिसे आल्विन तीसरी तरंग (Third Wave) के नाम से पुकारता है। इसे सूचना एवं प्रौद्योगिकी का युग भी कहा जाता है। इसने राष्ट्र–राज्य की सीमाओं को तोड़कर वैश्विक अवधारणा को चरितार्थ किया। इसका प्रभाव सूचना के

साथ–साथ व्यापार एवं वाणिज्य के क्षेत्र में भी पड़ा। इस क्रम में ई–वणिज्य, ई–कामर्स, ई–बैंकिग, ई–एजूकेशन एवं ई–जर्नलिज्म का मार्ग प्रशस्त हुआ। अब घर बैठे हम व्यापार एवं वाणिज्य को संचालित कर सकते हैं। इसका प्रभाव बैंकिंग के क्षेत्र में भी पड़ा। जहाँ इण्टरनेट के माध्यम से हम किसी भी स्थान से अपने खाते से पैसा दूसरे मद में हस्तान्तरण कर सकते हैं। इसी के द्वारा बैंकों ने ए०टी०एम० की सुविधा प्रदान की, जिसका प्रभाव हर एक आदमी के जीवन पर पड़ा। अब बैंकों में भीड़ लगाने की जरूरत नहीं हैं। बल्कि विश्व के किसी भी कोने में हम अपनी धनराशि जमा एवं निकाल सकते हैं। आजकल इण्टरनेट के माध्यम से शिक्षा भी प्रदान की जा रही है। जिसे ई–एजूकेशन के नाम से जानते हैं। अब रेलवे टिकट से लेकर शादी–विवाह तक सब कुछ इंटरनेट के माध्यम से सम्पादित हो रहा है। कम्पयूटरों के बढ़ते प्रभाव को देखते हुए माइक्रोसाफ्टवेयर के संस्थापक बिल गेट्स ने दावा किया कि, ''सम्पूर्ण संचार क्रांति मात्र कम्पयूटर के विभिन्न उपयोग मात्र हैं। वह दिन दूर नहीं जब संचार का मुख्य साधन प्रिंट मीडिया जो कागजों पर निर्भर है, दुर्लभ वस्तु हो जाएगी और इसका स्थान कम्पयूटर ले लेगा।'' इसके साथ बिल गेट्स कम्प्यूटर के विकास की संभावनाओं पर विचार करते हुए मानते हैं कि निकट भविष्य का आदर्श एक ऐसे माइक्रोचिप्स बनाने का है, जिसमें सूचनाओं के संचार के लिए एक इलेक्ट्रान काफी हो।

समकालीन विश्व में इंटरनेट पर आधारित एक नई पद्धाति की शुरूआत हुई है जिसे 'आउटसोर्सिंग' कहते है। यद्यपि इसका शाब्दिक अर्थ तो बाह्य स्रोत है जबकि व्यावहारिक अर्थ है, 'बाह्य स्रोतों से ठेके पर काम करने की प्रथा'। यहाँ बाह्य स्रोत का तात्पर्य राष्ट्र की सीमा के बाहर एवं भीतर दोनों से है। यह वस्तुओं एवं सेवाओं दोनों से सम्बन्धित हैं। इसकी मूल विशेषता यह है कि इसके द्वारा विदेशी भूमि से सेवाओं का निष्पादन कर वाँछित स्थल पर पहुँचाना। यह केवल सूचना एवं प्रौद्योगिकी के विकास के कारण ही सम्भव हो सका है। भारत एवं अमेरिका के सन्दर्भ में यह अत्यधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है क्योंकि भारत एवं अमेरिका में बारह घण्टे का समयान्तराल होने के कारण यहाँ दिन में ही काम करके उसी दिन अमेरिका भेज दिया जाता है और उसी दिन अमेरिका से काम करके भारत भेजा जा सकता है। इस प्रकार दोनों देशों में कार्यो का निष्पादन एक ही दिन में हो जाता है। आउटसोर्सिंग के लाभ और हानि दोनों ही हैं:

- इससे रोजगार का सृजन हो रहा है, मुख्यत: White Color Job के रूप में।
- सेवाओं के निर्यात से डालर की अभिवृद्धि हो रही है।
- व्यापार के क्षेत्र में भारत आगे आ रहा है। नास्काम (National Association of Software & Device Companies) के अनुसार 2002-03 में इन सेवाओं से 60,000 करोड़ रूपया का अर्जन हुआ जो सकल घरेलू उत्पाद के 2.4% है।

इस आउटसोर्सिंग प्रक्रिया के हानि भी हैं।

- इससे मध्यम वर्ग के केवल कुछ ही लोग लाभान्वित हो रहे हैं।
- इसके प्रयोग केवल विकसित शहरों में ही हो रहे हैं। भारत का बहुसंख्यक वर्ग इस सेवा से वंचित है।

लेकिन आज कम्पयूटर, नेटवर्किंग एवं इण्टरनेट के अत्यन्त ही दुष्परिणाम सामने आ रहें हैं जिसमें सबसे महत्वपूर्ण क्राइम 'साइबर क्राइम' है इसके अन्तर्गत सूचनाओं को संग्रहीन करने, गोपनीय सूचनाओं को एक स्थान से दूसरे स्थान तक भेजने तथा उन्हें पढ़ने, वाइरस के माध्यम से किसी कम्पयूटर की सूचनाओं को विनष्ट करने का कार्य तेजी से चल रहा है। इसके माध्यम से अपराधी एक स्थान पर बैठे ही विश्व के किसी कोने में अपराध को संचालित कर लेता है। हैकिंग (Hacking) जैसे साइबर अपराध आज विश्व स्तर पर चर्चा में है। 9/11 की घटना जिसमें वर्ल्ड ट्रेड सेण्टर, पेंटागन हाउस तथा अमेरिकी ह्वाइट हाउस को निशाना बनाया गया। इसका संचालन कम्पयूटर नेटवर्क एवं इण्टरनेट के माध्यम से ही हुआ।

इण्टरनेट एवं मोबाइल से सम्बन्धित सबसे बड़ी समस्या अवाँछित एवं बलात् थोपी हुई —अश्लीलता है। "आज शायद ही इण्टरनेट एवं मोबाइल फोन का उपयोग करने वाला कोई व्यक्ति हो जिसके पास 'प्राकृतिक वियाग्रा' से लेकर नैसर्गिक शारीरिक वृद्धि तक को प्रभावित करने वाली औषधियों के विज्ञापन, पोर्नोग्राफिक सन्देश, अश्लील एस०एम०एस०, अभद्र चुटकुले, डेटिंग की इच्छुक युवतियों के ई–मेल या चैट सन्देश, बालाओं के नग्न चित्र या वीडियो देखने के आमत्रंण आदि न आये हो। आप चाहे या न चाहे, यदि आप इण्टरनेट या मोबाइल

फोन सेवाओं का उपयोग कर रहें है, तो आप इस निःशुल्क सेवाओं की सूचनायें प्राप्त करने के लिए अभिशप्त हैं। स्पैम, स्पिम और फिशिंग जैसे नामों से कुख्यात ये अवाँछित सन्देश शुरू में तो यदा कदा दिखाई देते थे लेकिन अब ये गंभीर बीमारी में बदल गये हैं।''[14]

इन अनचाहे सेवाओं के पीछे एक बहुत बड़ी साजिश काम कर रही है जिसका उद्देश्य ऐसे उपभोक्ताओं की संख्या बढ़ाना है, जिनसे विभिन्न प्रकार के विज्ञापनों के प्रलोभन से धन उगाया जा सके। इस प्रकार अश्लीलता को एक उद्योग के रूप ले लिया गया है। एक आँकड़े के अनुसार इण्टरनेट का प्रयोग करने वाले 60% लोग इस अश्लील वेबसाइटों का प्रयोग कर चुके हैं, जबकि विश्वविद्यालयों के 87% विद्यार्थी। दो करोड़ युवक एवं युवतियों का मानना है कि वे अक्सर इन वेबसाइटों का प्रयोग करते रहते हैं। उल्लेखनीय है कि अमेरिका के वर्जीनिया प्रान्त में जेम्स नामक एक व्यक्ति को अश्लील ई–मेल भेजने के कारण नौ साल की सजा हुई जिसकी वार्षिक आमदनी 7.5 लाख डालर हो गई थी।

सूचना एवं प्रौद्योगिकी के युग में सर्वाधिक प्रतिकूल असर हमारे परम्परागत मूल्यों पर पड़ रहा है। आज समाज में परम्परागत मूल्यों जैसे प्रेम, दया, करुणा, उदारता, सहिष्णुता, सहयोग प्रभृति का क्षरण हो रहा है और उसके स्थान पर हत्या, बलात्कार, संघर्ष, कटुता, वैमनस्य आदि की प्रवृत्तियाँ हावी हो रही है। इससे समाज में संयुक्त परिवार की अवधारणा समाप्त हो रही है और 'केन्द्रकीय' परिवार की अवधारणा हावी होती जा रही है। केन्द्रकीय परिवार में माता–पिता अपने बच्चों पर समय कम दे पाते हैं जिससे उनमें अलगाव की प्रवृत्ति हावी होती जा रही है। इसी कारण आज परिवार एवं समाज टूटता जा रहा है। ''इन चिन्ताओं में उपभोक्ता की निजता के अतिक्रमण, बच्चों को अश्लील सामग्री के माध्यम से कुसस्कारित करने, आर्थिक धोखाधड़ी करने, निजी दस्तावेजों की चोरी, उपभोक्ता की मानसिक शान्ति और पारिवारिक वातावरण दूषित करने, अनभिज्ञ लोगों के नकली एवं नग्न चित्रों के निर्माण व प्रसार के माध्यम से नैतिक मूल्यों की क्षति पहुँचायी जा रही है। सूचना क्रान्ति के एक दशक पूरा होने के बावजूद भी आज विश्व के अधिकांश देशों में ऐसे कानून मौजूद नहीं है जिनसे अश्लील सन्देशों के प्रसार की प्रभावी रोकथाम हो सके।''[15]

सूचना एवं प्रौद्योगिकी के माध्यम से संचार के साथ–साथ संस्कृतियों का

भी आदान प्रदान होता है। जैसे आज पश्चिमी संस्कृति का प्रभाव भारतीय संस्कृति पर साक्षात् रूप से दृष्टिगोचर हो रहा है। अनेक बहुराष्ट्रीय तथा फास्ट फूड कम्पनियाँ भारत में अपनी पैठ जमा चुकी है, जैसे मैकडोनाल्ड, कोका–कोला। इसके अलावा वहाँ के रहन–सहन, रीति–रिवाज आदि का भी प्रभाव हमारे नवयुवकों पर दिखाई दे रहा है। इसी प्रकार भारतीय संस्कृति का भी प्रभाव अमेरिका एवं यूरोप के देशों पर पड़ रहा है। आज अमेरिका एवं यूरोप में शाकाहारी भोजन के प्रति लोगों का रूझान बढ़ रहा है क्योंकि भारतीय व्यंजनों के होटल वहाँ तेजी से खुल रहे हैं। इस प्रकार भूमण्डलीकरण के प्रक्रम में नव संस्कृतिकरण (New Culturation) की प्रवृत्ति हावी हो रही है। जहाँ नई संस्कृति यों को अपनाने एवं जानने की प्रवृत्ति बढ़ रही हैं।

संचार माध्यमों का प्रतिकूल असर हमारी संस्कृति पर भी पड़ रहा है। इसके द्वारा एक ऐसी संस्कृति विकसित हो रही है जो मूलत: उपभोक्तावादी है। इसके माध्यम से लोगों की मन:स्थिति में परिवर्तन करके, उनमें आधुनिक उपभोग के साधनों के प्रति लिप्सा बढ़ाई जा रही है। जिसे न चाहते हुए भी व्यक्ति उसके उपयोग के लिए बाध्य हो रहा है क्योंकि लोक–लुभावने प्रदर्शन के बीच वह अपना विवेक खो देता है। जिस समाज में उपभोक्तावाद के जितने अधिक साधन मौजूद होंगे, वहाँ असंतोष उतना ही अधिक होता है। इसी कारण औद्योगिक राष्ट्रों में लोग बड़ी संख्या में मानसिक अवसाद से ग्रस्त होकर आत्महत्या करते जा रहे हैं। प्रतिस्पर्धा के इस युग में नवयुवक एवं नवयुवतियाँ अपने निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए दिन–रात काम करते रहते हैं। जिससे उसका दुष्प्रभाव उनकी मन:स्थिति पर पड़ रहा है। जिससे उनमें हिंसा एवं विद्रोह की प्रवृत्ति हावी होती जा रही है। मानसिक तनाव का एक रूप नवयुवकों में कामवृत्ति के प्रति शिथिलिता के रूप में दिखाई दे रही है, जिससे तलाक की समस्या बढ़ती जा रही है। स्पष्टत: आज के समाज को 'संक्रान्तिकालीन समाज' की संज्ञा दी जा रही है। जो पारम्परिक समाज एवं नगरीय समाज के उपर्यन्त तीसरी अवस्था है, जिसकी मुख्य विशेषता है—आधारभूत संस्थाओं की पुनर्गठन प्रक्रिया, जैसे खुला बाजार, प्रजातांत्रिक व्यवस्था, स्वतंत्र मीडिया और अन्तत: व्यावसायिक साम्राज्यवाद।

नई संचार क्रांति ने राष्ट्रों को वैश्विक गाँव के स्थान पर एक 'ग्लोबल सुपर मार्केट' की स्थापना की है। जिसमें हर तरह के सौदा तय कर तो लेते हैं परन्तु

उसे प्राप्त करने के लिए उसे परम्परागत स्रोतों पर निर्भर रहना पड़ता है। कभी–कभी समान का भुगतान करने पर भी कई महीनों तक उसे प्राप्त करने के लिए इंतजार करना पड़ता है। कुछ हैकर या स्पैमर इसका प्रयोग आपके क्रेडिट कार्ड का नम्बर जानने के लिए भी करते हैं। जिससे आपके खातों से धन निकाला जा सके। कभी–कभी इसके द्वारा अत्यन्त ही घृणित कार्य किया जाता है क्योंकि आपके कम्प्यूटर में जासूसी साफ्टवेयर (स्पाई वेयर) और वाइरस भेजकर आपके कम्पयूटर से गोपनीय डाटा को खत्म कर दिया जाता है। हाँ, इससे सूचना एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में अभूतपूर्व सफलता अर्जित हुई है, जैसे अखबार, पुस्तक, समाचार, पत्र आदि।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भूमण्डलीकरण के लाभ एवं हानि दोनों हैं। इसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण लाभ है कि एक खुला बाजार या मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था को बढ़ावा मिल रहा है, जिससे विभिन्न राष्ट्रों के बीच प्रतिस्पर्धा बढ़ रही है। इस प्रतिस्पर्घा में कोई भी राष्ट्र, जिसमें अत्यधिक क्षमता हो आगे बढ़ सकता है। लेकिन यह केवल सैद्धान्तिक अवधारणा ही है। एक ओर जहाँ बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ विकासशील देशों में अपनी पैठ बना रहा है, वहीं दूसरी ओर विकासशील एवं अविकसित देश न चाहते हुए भी अमेरिका द्वारा आरोपित नीतियों को मानने के लिए लाचार एवं विवश दिखाई दे रहे हैं। प्रो० रजनी कोठारी के अनुसार " भूमण्डलीकरण के दो दावे ऐसे हैं जिनके आधार पर वह कुछ बेहतर करने का दावा करता है : पहला, उसके कारण हथियारों की होड़ कमजोर पड़ जायेगी और दूसरा, अर्थशास्त्र और प्रोद्योगिकी को मिला कर एक ऐसा भूमण्डलीकरण बाजार बनेगा। जिससे किस्म–किस्म की अर्थव्यवस्थाएँ खुद को जोड़ लेगी।...... ..... जिस भूमण्डलीय अर्थव्यवस्था की बात की जा रही है उसने कुछ को छोड़कर बाकी अर्थव्यवस्था को कर्ज के दलदल में धँसा दिया है जिससे निकलने के लिए उन देशों को या तो काफी नुकसानदेह किस्म का उद्योगीकरण करना पड़ रहा है या फिर हथियार उद्योग (जो खुद में उद्योगीकरण का काफी खतरनाक नुकसानदेह रूप है) के चक्कर में फँस जाना पड़ रहा है। परिणामस्वरुप चीन, भारत, पाकिस्तान, ब्राजील, इराक और इजराइल जैसे देश एटमी हथियार बना रहे हैं। बदले में इन देशों को क्षेत्रीय और 'भूमण्डलीय' महाशक्तियों की प्रतिक्रिया का सामना करना पड़ रहा है।"[16]

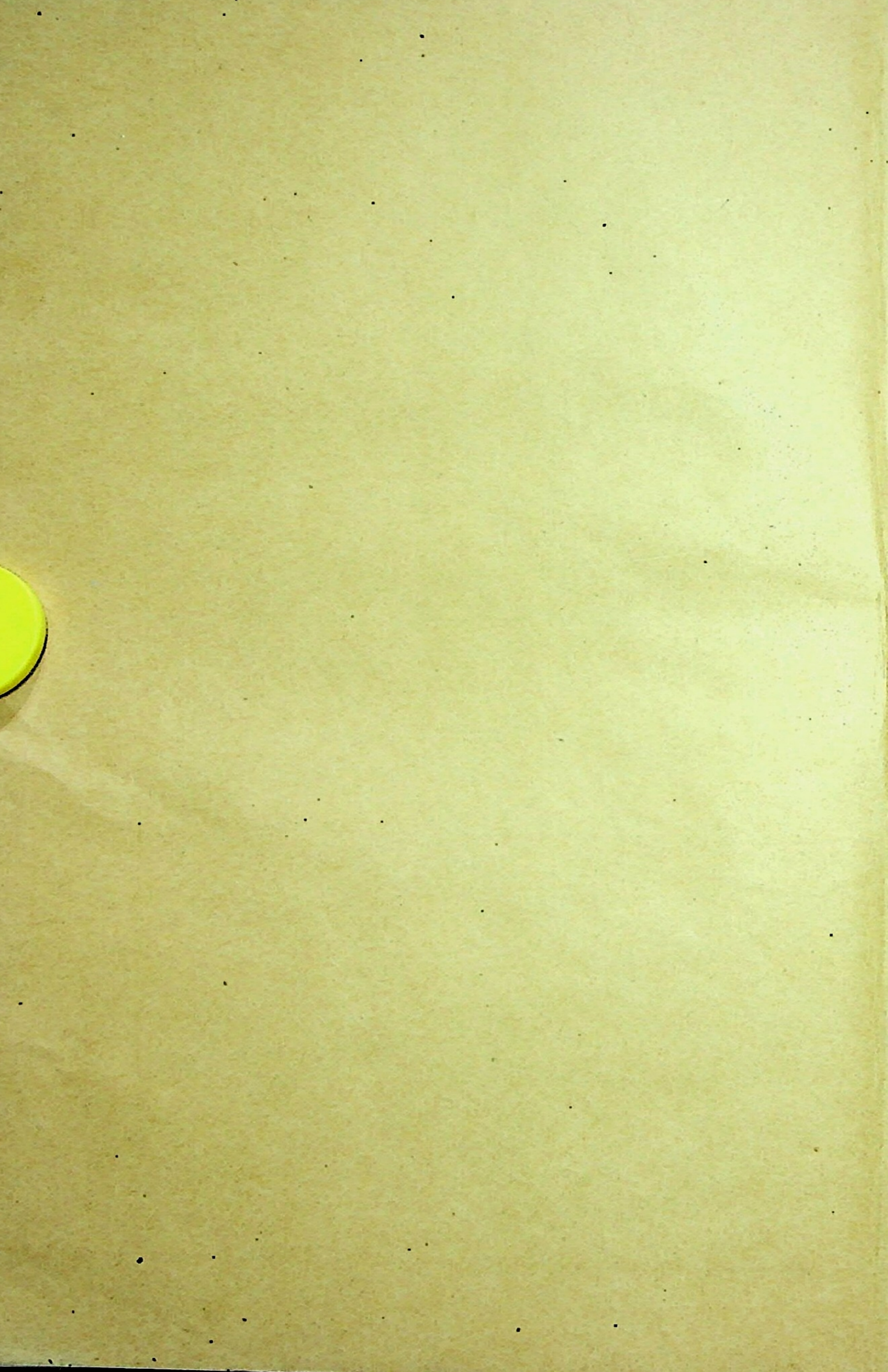
इस प्रकार सूचना एवं प्रौद्योगिकी के विकास ने जहाँ सम्पूर्ण राष्ट्रों को एक वैश्विक गाँव बना दिया है। वहीं वह मूल्यों के क्षरण को रोकने में असमर्थ है। जिसका सर्वाधिक प्रतिकूल प्रभाव हमारे नवयुवकों पर पड़ रहा है। क्योंकि वे उचित—अनुचित का विवेक न कर पाने के कारण लोक लुभवाने प्रवृत्तियों में फँसकर मानसिक अवसाद से ग्रस्त होते जा रहे हैं, जिससे उनमें प्रेम एवं सौहार्द के स्थान पर हिंसा एवं अलगाव की प्रवृत्ति हावी होती जा रही है। अब विश्व के समक्ष सर्वाधिक महत्वपूर्ण समस्या मूल्यों के क्षरण को रोकने की समस्या है क्योंकि मूल्य ही मनुष्य को पशु होने से बचाये हुए है। जिस दिन मनुष्य मूल्यविहीन हो जायेगा, मनुष्य एवं पशु का विभेद समाप्त हो जायेगा। वास्तव में सभी प्रकार के विकास का केन्द्र मानव ही है। अर्थात मानव हित ही सर्वोपरि है । लेकिन जिस बिकास के फलस्वरूप मानव—अस्तित्व ही संकट में पड़ जाय, उसे कदापि उपयुक्त नहीं माना जा सकता है। यदि आधुनिकता की अन्धी दौड़ में हम अपने मूल्यों को जो मूल्यतः मानवीयता पर आधारित है को बचाने में असमर्थ रहें तो विकास की सम्पूर्ण अवधारणा एक दिवा—स्वप्न के रूप में ही प्रतीत होगी, जहाँ केवल पश्चाताप ही अवशिष्ट रह जायेगा।

संदर्भ

1. फ्राइडमैन, थामस (१९९९): ग्लोबलाइजेशन, द लेक्सस एण्ड द ओलिव ट्री न्यूयार्क, पृष्ठ ११०।
2. इण्डा, जे० एक्स और आर० रोसाल्डो (२००२): एन्थ्रोपालौजी ऑफ ग्लोबलाइजेशन, पृष्ठ २ ।
3. गिड्डेन्स, ए० (१९९०): द कन्सिक्यूवेन्स ऑफ माडर्निटी, पृष्ठ ६४ ।
4. राबर्टसन, आर० (१९९९): ग्लोबलाइजेशन, सोसल थियरी एण्ड ग्लोबल कल्चर, पृष्ठ ८ ।
5. हॉल, एस० (१९९६): कोस्चन ऑफ कल्चरल आइडेन्टी इन माडर्निटी: एन इन्ट्रोडक्सन टू माडर्न सोसाइटीज, पृष्ठ ११९ ।
6.. सिन्हा, सच्चिदानंद (२००५): भूमण्डलीकरण की चुनौतियां , भूमिका ।
7.. उद्धृत कोठारी, रजनी (२००३): जनता से डरते अभिजन और कमजोर होता राष्ट्र—राज्य,

संकलित अभय कुमार दुबे, भारत का भूमण्डलीकरण, पृष्ठ ९३ ।
8.. हाग्वेल्ट, ए० (१९९७): ग्लोबलाइजेशन एण्ड द पोस्टकोलनियल वर्ल्ड, पृष्ठ ११६ ।
9. राबर्टसन, आर० (१९९९): ग्लोबलाइजेशन, सोसल थियरी एण्ड ग्लोबल कल्चर, पृष्ठ १७० ।
10. सिन्हा, सच्चिदानंद (२००५): भूमण्डलीकरण की चुनौतियां , भूमिका ।
11. स्टिचवे, आर० (१९९६): साइन्स इन द सिस्टम ऑफ वर्ल्ड सोसायटी, पृष्ट ४०।
12.. वायमे, एम० ए० (१९९३): ट्रांसनेशनलजिम करेन्ट सोसायटी ४१ (३) स्पेशल इश्यू।
13. कोठारी, रजनी (२००३): जनता से डरते अभिजन और कमजोर होता राष्ट्र–राज्य,
संकलित अभय कुमार दुबे, भारत का भूमण्डलीकरण, पृष्ठ ९६ ।
14. बालेन्दु, दाधीच (२००६): सूचना क्रंति को अश्लीलता का धुन, अमर उजाला, ३सित० पृष्ठ ४।
15. उपर्युक्त पृष्ठ ४ ।
16. कोठारी, रजनी (२००३): जनता से डरते अभिजन और कमजोर होता राष्ट्र–राज्य, संकलित अभय कुमार दुबे, भारत का भूमण्डलीकरण, पृष्ठ ९३ ।

**



दार्शनिक विमर्श

डॉ. ऋषिकान्त पाण्डेय